ओइज़ेर्मान

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास

दर्शन के इतिहास पर निबंध

प्रगति प्रकाशन ० मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

अनुवादक : ददन उपाध्याय
संपादक : ज० च० पांडेय

Т. ОЙЗЕРМАН

ДИАЛЕКТИЧЕСКИЙ МАТЕРИАЛИЗМ
И ИСТОРИЯ ФИЛОСОФИИ

на языке хинди

Theodore Oizerman

Dialectical Materialism
and the History of Philosophy

in Hindi

सोवियत संघ में मुद्रित

$O \frac{0302000000-555}{014(01)-84} 355-84$

विषय-सूची

भूमिका

दर्शन के इतिहास पर यह निबंध सबसे पहले अध्ययन-विधि से संबंधित है। यही नहीं, यह विश्व-दृष्टिकोण की समस्याओं की भी जांच करता है, क्योंकि दर्शन के इतिहास के मार्क्सवादी अध्ययन से अपेक्षा की जाती है कि वह पूर्ववर्ती दार्शनिक विकास से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबंध को स्पष्ट करे।

मार्क्सवादी अध्ययन-विधि में मार्क्सवाद से पहले के दर्शन के विकास की जांच के लिए क्लासिकीय जर्मन दर्शन सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, जो मार्क्सवाद का एक स्रोत है। यह पुस्तक उस द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद के आविर्भाव और विकास के ऐतिहासिक पहलू से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण किंतु अपर्याप्त रूप से विश्लेषित समस्याएं पेश करती है, जिसकी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अग्रदूत के रूप में असाधारण भूमिका पर मार्क्सवाद के संस्थापकों ने हमेशा ज़ोर दिया।

इस पुस्तक का मुख्य ध्येय अध्ययन-विधि और द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद से संबंधित कुछ प्रश्नों की जांच करते हुए विश्व-दृष्टिकोण के विकास में दर्शन के इतिहास के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत की मौलिक भूमिका को निरूपित करना है। दर्शन के इतिहास के सिद्धांत का चहुंमुखी विश्लेषण सर्वथा प्रासंगिक है और इसका महत्व दर्शन के विशुद्ध ऐतिहासिक अध्ययन से कहीं व्यापक है।

एंगेल्स ने ज़ोर दिया कि सैद्धांतिक चिंतन का इतिहास और फलतः विज्ञान का इतिहास दर्शन के इतिहास से अविच्छेद्य रूप से जुड़े हुए हैं। एंगेल्स के अनुसार, विशिष्ट विज्ञानों के मुक़ाबले में रखे जानेवाले "विज्ञानों के विज्ञान" के रूप में दर्शन की अस्वीकृति दर्शन की विरासत के आलोचनात्मक मूल्यांकन से अभिन्न है, क्योंकि "धारणाओं का प्रयोग करने की कला मनुष्य का जन्मजात गुण नहीं है और न ही

सामान्य दैनंदिन चेतना के साथ उसे प्राप्त होती है, बल्कि उसे सीखने के लिए वास्तविक चिंतन की आवश्यकता होती है और जिस प्रकार इंद्रियानुभविक प्राकृतिक विज्ञानों का एक लंबा इतिहास है, ठीक उसी प्रकार इस चिंतन का भी एक लंबा इंद्रियानुभविक इतिहास है। पिछले ढाई हजार वर्षों में दर्शन का जो विकास हुआ है, उसके निष्कर्षों को आत्मसात् करने की कला को सीखकर ही प्राकृतिक विज्ञान एक ओर, अपने से अलग, बाहर और ऊपर खड़े हुए किसी भी प्राकृतिक दर्शन से छुटकारा पा सकेंगे और दूसरी ओर, अपने चिंतन की उस संकीर्ण पद्धति से भी मुक्त हो जायेंगे, जो उन्हें अंग्रेज़ी इंद्रियानुभववाद से विरासत में मिली थी" (8,20)।

सैद्धांतिक चिंतन स्वभावतः धारणात्मक चिंतन है और यह धारणाओं की वैज्ञानिक प्रणाली को परिपूर्ण बनाने, नयी धारणाओं तथा प्रवर्गों को निर्मित करने के ज़रिये विकसित होता है। सैद्धांतिक चिंतन ऐसी धारणाओं के साथ काम करता है, जो गुणात्मक रूप से अत्यंत भिन्न होती हैं। उनमें से कुछ वस्तुओं के एक निश्चित समूह में निहित ऐसे विशेष गुणों को क्रमांकित करती हैं, जिनको इंद्रिय-अनुभूति से ग्रहण किया जाता है और अमूर्त चिंतन से चुनकर अन्य से अलग कर लिया जाता है। दूसरी केवल सैद्धांतिक चिंतन द्वारा अनुभूत प्रक्रियाओं तथा संबंधों का सामान्यीकरण करती हैं। कुछ अन्य केवल अन्वेषणात्मक महत्व ही रखती हैं यानी वे अनुभव करनेवाले विषयी द्वारा सम्पन्न संक्रियाओं को प्रकट करती हैं न कि वस्तुओं के गुणों या वस्तुगत यथार्थ के सामान्य गुणों को। उदाहरणार्थ, गणित में अनन्तसूक्ष्म परिमाण की धारणा ऐसी ही है। अन्वेषणात्मक यानी संक्रियात्मक कार्य करनेवाली धारणा का एक और जीता-जागता उदाहरण तर्कशास्त्र में तादात्म्य का अमूर्तीकरण है। धारणाओं की यह सूची उनके प्रकारात्मक वर्गीकरण की दृष्टि से अधूरी है। तो भी, यह सैद्धांतिक चिंतन के धारणागत स्वरूप और दर्शन के ऐतिहासिक विकास तथा धारणाओं को बनाने वाली विचार-प्रक्रिया के साथ अंतर्वर्ती संबंधों को दिखलाने के लिए काफ़ी है।

सैद्धांतिक चिंतन पहले से ही बनी-बनायी धारणाओं तक ही सीमित नहीं है। अध्ययन की वास्तविक प्रक्रिया में धारणाएं **विकसित** होती

हैं: यह उनमें भेद करती है, उन्हें परस्पर जोड़ती है, उन्हें सीमित करती और समृद्ध बनाती है, उन्हें निश्चित प्रणालियों में संयुक्त करती है, उनका समन्वयन, अधीनीकरण, बहिर्वेशन, सामान्यीकरण और विकास, आदि करती है। संज्ञानात्मक सैद्धांतिक चिन्तन यहीं तक सीमित नहीं है। अनुसंधान नयी परिघटनाओं, नियमों और संज्ञान के विषयों की खोज करता है और इसलिए नये प्रवर्गों की तथा (अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र के अंदर) प्रवर्गों की नयी प्रणालियों तक की रचना की पूर्वकल्पना करता है।

धारणाओं के विकास – ज्ञान के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया की आवश्यक तार्किक अभिव्यक्ति – के विषय की चर्चा हमने केवल इसलिए की है कि हम सैद्धांतिक चिंतन के युगों पुराने विकास में **दर्शन के इतिहास** की भूमिका को परिभाषित करने की कोशिश कर रहे हैं। विदित है कि महान से महान पूर्व-मार्क्सवादी दार्शनिक भी ज्ञान के विकास तथा धारणागत चिंतन की योग्यता के विकास के बीच संबंध को नहीं देख पाये। उदाहरणार्थ, कांट ने कहा कि निर्णय करने की योग्यता (इंद्रियानुभविक सामग्री को सामान्य धारणाओं और प्रवर्गों के अनुरूप बनाने की योग्यता) एक जन्मजात गुण है और कोई भी शिक्षण या प्रशिक्षण एक अन्वेषक के लिए आवश्यक इस गुण की अनु-पस्थिति को पूरा नहीं कर सकता। कांट का यह विचार उनकी प्रणाली के उस तौर-तरीक़े से पूरी तरह मेल खाता था, जिससे उन्होंने विज्ञान के इतिहास, विशेष रूप से दर्शन के इतिहास के महत्व का कम मूल्यां-कन किया था। लेकिन यदि कांट की आलोचना के दृष्टिकोण से संज्ञान के इतिहास के अन्वेषणात्मक महत्व को समझना संभव होता, तो उन्होंने संभवतः यह निष्कर्ष निकाला होता कि न केवल निर्णय करने की योग्यता को ही, बल्कि कल्पना की उत्पादक शक्ति (संज्ञान में जिसकी भूमिका पर उन्होंने विशेष रूप से ज़ोर दिया) को भी विज्ञान के इतिहास के आलोचनात्मक और सुव्यवस्थित अध्ययन के ज़रिये सचेत ढंग से विकसित किया जा सकता है।

कांट के विपरीत, एंगेल्स जन्मजात बौद्धिक योग्यताओं से इन्कार न करते हुए संस्कृति के इतिहास, विशेषकर संज्ञानात्मक चिंतन के इतिहास, ख़ास तौर से दर्शन के ढाई हज़ार वर्षों के परिणामों के

सचेत तथा विज्ञान-सम्मत अध्ययन को प्राथमिकता देते हैं। 'प्रकृति की द्वंद्वात्मक गति' में इस धारणा को विकसित करते हुए एंगेल्स जोर देते हैं कि दर्शन के इतिहास का **अध्ययन** – दर्शन की विकास-प्रक्रिया में संचित अनुभव की समझ – वास्तव में सैद्धांतिक चिंतन का विद्यालय है। सैद्धांतिक चिंतन "केवल प्राकृतिक योग्यता के रूप में ही जन्मजात है। इस प्राकृतिक योग्यता को विकसित तथा परिष्कृत किया जाना चाहिए और इसके लिए सारे पूर्ववर्ती दर्शनों के अध्ययन के अलावा अभी तक और कोई साधन नहीं है" (9,42-43)। स्वभावतः हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि एंगेल्स ने यह तब लिखा था, जब सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञान अब भी सैद्धांतिक रूप से अल्प-विकसित थे। यही एंगेल्स के शब्दों – "अभी तक" – का कारण है। 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' और 'प्रकृति की द्वंद्वात्मक गति' के प्रकाशन के बाद बीते सौ सालों में इस क्षेत्र में बड़ी सफलताएं प्राप्त हुई हैं, जिन्होंने दर्शन तथा सामान्यतः सैद्धांतिक चिंतन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

एंगेल्स ने १९वीं सदी के मध्य में प्राकृतिक विज्ञानों की महान खोजों (कोशिका और कोशिकाओं की रचना, ऊर्जा रूपांतरण के नियम, डार्विन के क्रमविकास के सिद्धांत की खोज) को सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों की ऐतिहासिक निर्माण-प्रक्रिया में क्रांतिकारी मोड़ों तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के मौलिक प्राकृतिक-वैज्ञानिक आधार के रूप में पेश किया। इस संबंध में, एंगेल्स ने भौतिकवादी दर्शन के रचनात्मक विकास का नियम सूत्रित किया: "प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी प्रत्येक युगांतरकारी खोज के साथ भौतिकवाद को अनिवार्यतः अपना रूप बदल देना पड़ता है। और जब से इतिहास का भी भौतिकवादी विवेचन किया जाने लगा, तब यहां भी भौतिकवाद के विकास का एक नया मार्ग खुल गया" (3,3,349)। २०वीं सदी के आरंभ में व्ला० इ० लेनिन ने 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' में भौतिक विज्ञान में उत्पन्न संकट का गहन दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस संकट के कारण उन महान **सैद्धांतिक** खोजों से सीधे जुड़े हुए थे, जिन्होंने विश्व-दृष्किोण के विकास को प्रभावित किया। यही कारण है कि क्यों लेनिन ने दर्शन के इतिहास

की अन्वेषणात्मक भूमिका के बारे में एंगेल्स के उपर्युक्त सिद्धांत को विकसित करते हुए प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के अन्वेषणात्मक महत्व पर भी ज़ोर दिया : "...प्राकृतिक विज्ञानों के परिणाम धारणाएं हैं और धारणाओं के साथ काम करने की कला जन्मजात नहीं, बल्कि प्राकृतिक विज्ञानों और दर्शन के विकास के २००० वर्षों का परिणाम है" (10,*38*,262)।

स्पष्टतः प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के असाधारण अन्वेषणात्मक महत्व की स्वीकृति सैद्धांतिक चिंतन के एक विद्यालय के रूप में दर्शन के इतिहास के महत्व को ज़रा भी कम नहीं करती। उल्टे, विज्ञान के **इतिहास** का कम मूल्यांकन – और यह अब भी कुछ विद्वानों के बारे में सही है – दर्शन के इतिहास के प्रति अवज्ञा से अनिवार्यतः घुलमिल जाता है। असाधारण वैज्ञानिकों ने, जिनके नाम युगांतरकारी वैज्ञानिक खोजों से जुड़े हुए हैं, प्राकृतिक विज्ञानों तथा दर्शन में सैद्धांतिक चिंतन के इतिहास का सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन किया। आइंस्टीन, हाइज़ेन्बर्ग, वेर्नाद्स्की और तिमिरियाज़ेव की कृतियां इसका ज्वलंत उदाहरण हैं।

किसी भी ऐतिहासिक प्रक्रिया की भांति विज्ञान (और दर्शन) के इतिहास का अध्ययन दो मूलतः भिन्न किंतु अभिन्न रूप से जुड़ी विधियों – ऐतिहासिक और तार्किक – से किया जा सकता है। ऐतिहासिक विधि विचाराधीन प्रक्रिया को उसकी समूची सामान्य, विशिष्ट तथा अद्वितीय विशेषताओं के साथ पुनरुत्पादित करने का ध्येय रखती है। ठोस ऐतिहासिक अध्ययन के परिणामों के समुच्चय पर आधारित तार्किक विधि एक भिन्न उद्देश्य का – अर्थात अध्ययन द्वारा निर्दिष्ट निश्चित ढांचे में परिघटनाओं के प्रदत्त समुच्चय के विकास का संनियमन करनेवाले नियमों को प्रकट करने के उद्देश्य का – अनुसरण करती है। अतः चर्चा विकास-प्रक्रिया के तार्किक पुनरुत्पादन की है। इस अध्ययन का प्रामाणिक उदाहरण कार्ल मार्क्स की 'पूंजी' है।

एंगेल्स के अनुसार, तार्किक पद्धति "सचमुच और कुछ नहीं, बल्कि ऐतिहासिक रूप तथा ध्यान हटा देनेवाली संयोगवश हुई घटनाओं से वंचित वही ऐतिहासिक पद्धति है। वह बिंदु जहां यह इतिहास आरंभ होता है, चिंतनधारा का प्रारंभ-बिंदु भी होना चाहिए और

उसका भावी विकास अमूर्त तथा सिद्धांततः सुसंगत रूप में ऐतिहासिक क्रम का प्रतिबिम्बन मात्र होगा। इस प्रतिबिम्बन में संशोधन किया जाता है तथापि इसका संशोधन वास्तविक ऐतिहासिक विकासक्रम द्वारा प्रदान किये गये नियमों के अनुसार होता है, क्योंकि हर क्षण का अध्ययन विकास की उस अवस्था में किया जा सकता है, जहां वह पूर्णतः परिपक्व होता है, अपने क्लासिकीय रूप में पहुंचता है" (6,225)। चूंकि दर्शन के इतिहास के अध्ययन को सैद्धांतिक चिंतन के विकास के लिए आवश्यक माना जाता है, इसलिए इसे केवल इंद्रियानुभविक-ऐतिहासिक अध्ययन ही नहीं, बल्कि सबसे पहले तार्किक-सैद्धांतिक, सैद्धांतिक रूप से सामान्य और ज्ञानमीमांसीय भी होना चाहिए। एंगेल्स के शब्दों में, प्रसंग **विगत ढाई हज़ार वर्षों में दर्शन के विकास के परिणामों** को समझने का है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन (और विज्ञान) के इतिहास के इस सैद्धांतिक लेखे-जोखे को ज्ञानमीमांसा का एक विशेष कार्य मानता है। ज्ञानमीमांसा के अध्ययन का विषय मुख्य दार्शनिक प्रवर्गों में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य रूप में लिया गया **संज्ञान का विकास** है।

अपनी 'दार्शनिक नोटबुक' में लेनिन ने विभिन्न विज्ञानों के इतिहास (जानवरों के मानसिक विकास के इतिहास, टेक्नोलॉजी, भाषा आदि के इतिहास) तथा समग्र रूप में ज्ञान के इतिहास की सैद्धांतिक व्याख्या और सामान्यीकरण पर आधारित मौलिक ज्ञानमीमांसीय अध्ययनों के कार्यक्रम की रूपरेखा दी। लेनिन ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की ज्ञानमीमांसा को और आगे विकसित करने के उद्देश्य से ऐतिहासिक-दार्शनिक प्रक्रिया का समाहार करने के काम को **प्रधानता** दी (10,*38*,351)। अध्ययन-विधि की दृष्टि से यह बहुत ही महत्वपूर्ण बात है। यह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संपूर्ण पूर्ववर्ती दर्शन से उसके अटूट संबंध को सीधे और स्पष्टतः दिखाती है। यह संबंध न केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के उद्भव और निर्माण पर, बल्कि उसकी समस्याओं, अंतर्वस्तु तथा विकास पर भी प्रभाव डालता है। यही कारण है कि लेनिन ने हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' और 'तर्कशास्त्र' पर अपने नोटों को तैयार करते हुए दर्शन के ऐसे अनेक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांतों को प्रतिपादित किया, जिन्हें समझे बिना मार्क्सवादी दर्शन के विकास में लेनिनीय मंज़िल की अंतर्वस्तु का पूर्ण मूल्यांकन

करना असंभव है। यह भी समझ में आनेवाली बात है कि एंगेल्स प्रत्ययवाद के दो हज़ार वर्षों के इतिहास को ध्यान में रखते हुए इस दार्शनिक धारा के प्रति मार्क्सवादी दर्शन के रुख़ का निम्न रूप में क्यों मूल्यांकन करते हैं: "क्योंकि यह इन दो हज़ार वर्षों की संपूर्ण वैचारिक अंतर्वस्तु का मात्र परित्याग करने का मामला नहीं है, बल्कि यह तो उसकी आलोचना का, उसके संक्रमणकालीन रूप से उन परिणामों को पृथक् करने का मामला है, जो एक मिथ्या और प्रत्ययवादी रूप में, लेकिन अपने समय के लिए, स्वयं क्रमविकास के लिए अनिवार्य रूप में, प्राप्त किये गये थे" (9,198-99)।

प्रत्येक दार्शनिक शिक्षा इस या उस रूप में दर्शन के पूर्ववर्ती इतिहास से जुड़ी होती है। समग्र रूप में दर्शन के इतिहास का अध्ययन किये बिना, विभिन्न दार्शनिक शिक्षाओं, दृष्टिकोणों, प्राक्कल्पनाओं, विभिन्न प्रश्नों पर प्राप्त उपलब्धियों का, जिनमें वे उपलब्धियां भी शामिल हैं जो अंततोगत्वा अप्रामाणिक सिद्ध हुईं, आलोचनात्मक विश्लेषण किये बिना दर्शन की विशिष्ट प्रणाली को समझना असंभव है। यहां हमारे समक्ष समष्टि और इसके अंगों के बीच एक तरह का विप्रतिषेध है: एक अंग की समझ समष्टि के ज्ञान की पूर्वकल्पना करती है, लेकिन समष्टि का ज्ञान अंगों की समझ के बिना असंभव है। यह द्वंद्वात्मक विप्रतिषेध समाधेय है, क्योंकि एक अंग को समझने का अर्थ एक हद तक समष्टि का ज्ञान और समष्टि का ज्ञान अपने संघटक अंगों की निश्चित समझ की पूर्वकल्पना करता है।

इस तरह, यह विश्वास करना भारी भूल होगी कि सत्य का ऐतिहासिक (या ठीक-ठीक कहें तो ऐतिहासिक-दार्शनिक) मार्ग केवल वहीं तक महत्व रखता है, जहां तक सत्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है, और ज्योंही सत्य प्राप्त हो जाये, उसे भुलाया जा सकता है। वास्तव में, यह काम काफ़ी जटिल है, क्योंकि सत्य ज्ञान के विकास की प्रक्रिया है और इस या उस सत्य पर पहुंचना संज्ञान के मार्ग के ज्ञानमीमांसीय महत्व को प्रकट करता है।

दर्शन स्वभावतः एक गहनतः अंतर्विरोधी विषय है। उसका प्रत्येक सिद्धांत न केवल निश्चित अभिपुष्टि, बल्कि निषेध भी है, अर्थात

स्थापना और प्रतिस्थापना दोनों ही है। भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण को पुष्ट करने का अर्थ प्रत्ययवाद को अग्राह्य ठहराना भी है। द्वंद्वात्मक विधि, चिंतन के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत की मूल संवेदनवादी शिक्षाओं, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के मौलिक सिद्धांतों की सही समझ निषेध के बिना अर्थात चिंतन की अधिभूतवादी विधि, अज्ञेयवाद, प्रागनुभविकवाद, आत्मगतवाद, समाज के जीवन की प्रत्यय-वादी व्याख्या, आदि की समुचित वैज्ञानिक आलोचना के बिना असंभव है। वैज्ञानिक दार्शनिक आलोचना अंतिम विश्लेषण में सकारात्मक होती है। ग़लती को एक **ज्ञानमीमांसीय परिघटना** के रूप में देखा जाता है और इसकी वैज्ञानिक समझ केवल ग़लती को दर्ज ही नहीं करती, बल्कि इस ग़लती की ऐतिहासिक रूप से अनित्य आवश्यकता, उसकी ज्ञानमीमांसीय जड़ों और अतः दार्शनिक ग़लती की वास्तविक अंतर्वस्तु (सत्य के सहसंबंध) के अध्ययन की भी पूर्वकल्पना करती है। दार्शनिक विश्लेषण के प्रति यह रुख़ – जो न केवल तर्कसंगत है, बल्कि स्पष्टतः कुछ हद तक आवश्यक भी है – द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की समस्याओं के अध्ययन तथा दर्शन के इतिहास के मार्क्सवादी अध्ययन के बीच अंतर को समाप्त कर देता है। एंगेल्स की कृति 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' तथा लेनिन की कृति 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' इस सत्य के अच्छे उदाहरण हैं।

आलोचना का स्वरूप कुछ हद तक आलोचना के विषय पर निर्भर करता है। यह पुस्तक क्लासिकीय दर्शन से, ख़ास तौर पर क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद की विरासत से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबंध की जांच करती है। मार्क्सवाद का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद की आलोचना उसकी गहन अंतर्दृष्टियों को रचनात्मक ढंग से आत्मसात् करती है। यही तो सकारात्मक द्वंद्वा-त्मक-भौतिकवादी निषेध है, जिसके बारे में लेनिन ने कहा, "द्वंद्ववाद में खाली निषेध, निरर्थक निषेध, **संशयवादी** निषेध, ढुलमुलपन और संदेह अभिलाक्षणिक तथा सार्थक **नहीं** है – द्वंद्ववाद में निस्संदेह निषेध का तत्व और वास्तव में उसका अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व निहित होता है; नहीं ऐसा निषेध नहीं, बल्कि सकारात्मकता को सुरक्षित रखते हुए संबंध की एक अवस्था के रूप में, विकास की एक अवस्था के

रूप में निषेध, अर्थात किसी ढुलमुलपन के बिना, किसी सारसंग्रहवाद के बिना" (10,*38*,226)।

अतः प्रत्येक दार्शनिक सिद्धांत की विशिष्टता मूलतः दार्शनिक विरासत से उसके संबंध द्वारा निर्धारित होती है। किसी भी सिद्धांत द्वारा उठायी गयी समस्याएं निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज होती हैं और सैद्धांतिक रूप से पूर्ववर्ती दर्शन द्वारा प्रतिपादित समस्याओं से जुड़ी होती हैं। वह इन समस्याओं की समीक्षा करता है, उन्हें भिन्न ढंग से सूचित करता है, समृद्ध बनाता है, संक्षेप में, उन्हें विकसित करता है। प्रत्येक दार्शनिक सिद्धांत और उसके पूर्ववर्ती दर्शन की एकता में अंतर्विरोध होता है। ऐतिहासिक अनुक्रम के संबंधों के अलावा, उसमें उन सिद्धांतों के ख़िलाफ़ संघर्ष भी निहित होता है, जो उसके स्रोत थे। उदाहरणार्थ, स्पिनोज़ा, जो देकार्त के सीधे अनुयायी होने के बावजूद, द्वैतवाद, मनोदैहिक समांतरवाद, स्वतंत्र संकल्प की धारणा, तटस्थेश्वरवाद तथा देकार्त के सिद्धांत के अन्य मूल विचारों के कट्टर विरोधी थे।

इसके अलावा, एकता सापेक्ष होती है। यह हमेशा निश्चित रूप से उन्मुख एकता होती है और इसकी चयनात्मकता की वजह इसके सामाजिक तथा दार्शनिक पूर्वाग्रह हैं। यह दार्शनिक चयनात्मकता विभिन्न पूर्ववर्तियों का मूल्यांकन विभिन्न ढंग से करती है तथा अपने सिद्धांतों के अनुरूप धारणाओं का चयन करती है। उदाहरण के लिए, अन्य भौतिकवादी दार्शनिकों के विपरीत स्पिनोज़ा स्पष्टतः दार्शनिक इंद्रियानुभववाद और इंद्रियानुभविक प्राकृतिक विज्ञानों के महत्व को कम करके आंकते हुए दर्शन में सर्वेश्वरवादी तथा तर्कबुद्धिवादी परंपरा की ओर उन्मुख हुए।

अपनी विशिष्ट अंतर्वस्तु और सामाजिक झुकाव की वजह से दार्शनिक सिद्धांत दर्शन के पूर्ववर्ती विकास के परिणामों का आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषण करने की अपनी योग्यता में एक-दूसरे से मूलतः भिन्न होते हैं। अतः हेगेल के इस विचार से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि चूंकि नवीनतम दार्शनिक सिद्धांत पूर्ववर्ती दार्शनिक विकास का परिणाम है, "इसलिए इसे अपने में उसके सभी सिद्धांतों को समाविष्ट करना चाहिए; इसलिए वह, यदि वह वास्तव में एक दार्शनिक सिद्धांत

है, सबसे विकसित, सबसे समृद्ध और सबसे ठोस है" (64,6,21)। इस तर्क-पद्धति का अर्थ यह होगा कि चूंकि बर्कले और ह्यूम ने बेकन, देकार्त, स्पिनोजा, लीबनिज, लॉक और हॉब्स के बाद ऐतिहासिक मंच पर पदार्पण किया, इसलिए उन्होंने अपने सिद्धांतों में इन पूर्ववर्ती विचारकों के सिद्धांतों का संश्लेषण किया और अधिक पूर्ण तथा अधिक विकसित दार्शनिक प्रणालियों की स्थापना की। बेशक, यह ऐसा नहीं था। स्वयं हेगेल ने बर्कले और ह्यूम की शिक्षाओं की जांच करते हुए, उनके आत्मगत प्रत्ययवाद और संशयवाद की तीव्र आलोचना की तथा दिखाया कि ये असाधारण दार्शनिक पूर्ववर्ती विकास की सारी उपलब्धियों के आलोचनात्मक आत्मसात्करण से कितने दूर थे। बर्कले और ह्यूम की प्रणालियों ने वस्तुतः ऐसे आत्मसात्करण की संभावना को पृथक् किया : उनके दार्शनिक झुकाव, ऐतिहासिक चयन, पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धांत से संबंध स्पष्टतः एकांगी थे।

हेगेल की ग़लती परम प्रत्ययवाद के मूल पूर्वाधारों से जुड़ी हुई है, जिसके अनुसार दर्शन के इतिहास की प्रक्रिया दो धरातलों पर विकसित होती है। एक ओर, यह "परम प्रत्यय" के क्षेत्र में, जिसे हेगेल प्रामाणिक दार्शनिक चिंतन के रूप में चित्रित करते हैं, काल-बाह्य प्रक्रिया है। इस इतिहासेतर क्षेत्र में, जहां वास्तविक ऐतिहासिक विकास का स्थान तार्किक अनुक्रम, "धारणा" का आत्म-विकास ग्रहण करते हैं, प्रत्येक नयी अवस्था में पूर्ववर्ती तार्किक अवस्थाएं आवश्यक रूप से निहित होती हैं और वह उन्हें एक नयी तथा अधिक तर्कपूर्ण मौलिक शिक्षा के अधीन लाती है। दूसरी ओर, दर्शन के इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया, जिसे हेगेल बिल्कुल नज़रअंदाज़ नहीं करते, मूलतः भिन्न ऐतिहासिक युगों के ढांचे में एक कालसापेक्ष धरातल पर विकसित होती है। और इस धरातल पर – और हेगेल इसे पूर्णतः स्वीकार करते तथा सुव्यवस्थित रूप से प्रदर्शित करते हैं – पूर्ववर्ती और अनुवर्ती दार्शनिक प्रणालियों के बीच ऐसा कोई एकांगी और प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

दर्शन के इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया की सैद्धांतिक व्याख्या दिखाती है कि अनेक असाधारण दार्शनिक अपने पूर्ववर्तियों के सिद्धांतों के किसी ठोस मूल्यांकन पर नहीं पहुंच सके, भले ही वे उनके उत्तरा-

धिकारी (सामान्यतः इस चीज़ को पूरी तरह न जानते हुए) थे। यहां तक कि हेगेल भी, जिन्होंने दार्शनिक प्रणालियों के अन्य रचनाकारों के विपरीत अपने सिद्धांत को दर्शन के पूर्ववर्ती इतिहास का परिणाम माना, भौतिकवादी दर्शन, संवेदनवादी ज्ञानमीमांसा, अनुसंधान की प्रकृतिवैज्ञानिक तथा आम तौर से उन ग़ैर-दार्शनिक विधियों की ऐतिहासिक भूमिका का सही मूल्यांकन नहीं कर पाये, जिन्होंने नये ज़माने के दार्शनिक विचारों के संपूर्ण विकास पर बड़ा प्रभाव डाला था।

मार्क्सवाद द्वारा लायी गयी दर्शन में क्रांति को अक्सर सारे पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धांतों से एक मौलिक संबंधविच्छेद के रूप में पेश किया जाता है।

दार्शनिक विरासत से मार्क्सवाद के संबंध का ऐसा मूल्यांकन जटिल तथा अंतर्विरोधी ऐतिहासिक प्रक्रिया के केवल एक पहलू को – शब्द के पुराने अर्थ में दर्शन के निषेध को निर्धारित करता है। यह सही है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद प्रगतिशील सिद्धांतों सहित सभी अन्य दार्शनिक सिद्धांतों से मूलतः भिन्न है। लेकिन वस्तुतः द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ने ही किसी भी दूसरे दार्शनिक सिद्धांत के मुक़ाबले में काफ़ी बड़ी सीमा तक दर्शन के संपूर्ण पूर्ववर्ती इतिहास की उपलब्धियों को आलोचनात्मक ढंग से आत्मसात् किया, रचनात्मक ढंग से परिष्कृत और विकसित किया। **पूर्ववर्ती दर्शन से यह संबंध** ही दर्शन में मार्क्सवादी क्रांति की यथेष्ट अभिव्यक्ति है, जो किसी भी संकीर्णतावादी मनोवृत्ति से मुक्त, क्रांतिकारी ढंग से आलोचनात्मक, रचनात्मक, पक्षधर तथा वैज्ञानिक रूप से वस्तुगत है।

'दार्शनिक नोटबुक' में लेनिन ज़ोर देते हैं तथा सुव्यवस्थित ढंग से स्पष्ट करते हैं कि द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद अधिभूतवादी, द्वंद्ववाद-विरोधी भौतिकवाद की अपेक्षा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अधिक निकट है (10,*38*,274) । दर्शन के इतिहास पर यह निबंध, विशेष रूप से वह भाग जिसमें क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद का विश्लेषण किया गया है, इस अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत को स्पष्ट करता है, जो इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (और **केवल** द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही!) दर्शन के **वैज्ञानिक** इतिहास की सही अध्ययन-विधि प्रस्तुत करता है।

कांट ने ही **वैज्ञानिक-सैद्धांतिक ज्ञान की संभावना** से सम्बन्धित प्रश्न को रचनात्मक ढंग से पेश किया। कांट के अनुसार, शुद्ध गणित और शुद्ध (यानी सैद्धांतिक) प्राकृतिक विज्ञानों का अस्तित्व एक सुस्पष्ट तथ्य है, क्योंकि ये विज्ञान वास्तव में अकाट्य और सार्विक निर्णयों को सम्मिलित करते हैं। कांट के विचार में, संज्ञान के सिद्धांत का ध्येय इस प्रश्न का उत्तर देना है कि शुद्ध गणित और शुद्ध प्राकृतिक विज्ञान कैसे संभव हैं? उनकी कृति 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' जिसे कांट ने अपनी दार्शनिक प्रणाली की मौलिक भूमिका माना, एक और भी अधिक महत्वपूर्ण, समस्या पेश करती है: निश्चित बौद्धिक कार्य के रूप में अधिभूतवाद (दर्शन) कैसे संभव है? क्या अधिभूतवाद विज्ञान हो सकता है? अवैज्ञानिक तत्वनिरूपण से सच्चे दार्शनिक विज्ञान में संक्रमण की परिस्थितियां और मार्ग क्या हैं?

स्पष्टत: कांट द्वारा उठाये गये प्रश्न, जिनका वह वैज्ञानिक-दार्शनिक ढंग से उत्तर नहीं दे सके, विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास से भी सीधे संबंध रखते हैं। विज्ञान के रूप में दर्शन का इतिहास कैसे संभव है? दूसरे शब्दों में, इस विज्ञान के दार्शनिक पूर्वाधार क्या हैं? उदाहरणार्थ, संशयवादी समस्या की इस परिभाषा से सहमत नहीं होते। वे इसे भिन्न ढंग से पेश करते हैं: क्या विज्ञान के रूप में दर्शन का इतिहास संभव भी है? स्पष्टत: प्रश्न का यह सूत्रीकरण भी ध्यान देने योग्य है, क्योंकि ऐसे अनेकानेक परस्पर अपवर्जक दार्शनिक सिद्धांतों का अस्तित्व है, जिनमें से प्रत्येक दर्शन के इतिहास की अपनी – भौतिकवादी या प्रत्ययवादी, अधिभूतवादी या परिघटनावादी – व्याख्या पेश करता है। उदाहरणार्थ, आंरी बेर्गसां के अनुयायी दर्शन के इतिहास का अपना ही दृष्टिकोण रखते हैं, जो सारे दार्शनिक सिद्धांतों के उनके मूल्यांकन को निर्धारित करता है। वे हर चीज़ को अतर्कबुद्धिवाद आंत:प्रज्ञ प्रत्ययवाद द्वारा मापते हैं। स्वभावत: दर्शन का नव-प्रत्यक्षवादी इतिहासकार दार्शनिक – विशेष रूप से प्रत्ययवादी – इंद्रियानुभववाद, अज्ञेयवाद, आदि के प्रतिनिधियों को प्रधानता देता है।

दर्शन के इतिहास का मार्क्सवादी अध्ययन दार्शनिक सिद्धांतों, एक-दूसरे से उनके संबंध के प्रति एक मूलत: भिन्न द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रमाणित और लागू करता है। बेशक, दर्शन

के बुर्जुआ इतिहासकार को दर्शन के इतिहास का द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दृष्टिकोण भी एकांगी प्रतीत होगा, क्योंकि वह प्रत्ययवादी, अधिभूतवादी व्याख्या और सारसंग्रहवाद को अस्वीकार करता है, जिसे अक्सर सभी दृष्टिकोणों को "वस्तुगत रूप से" ध्यान में लेनेवाले दृष्टिकोण के रूप में, एक संश्लेषित दृष्टिकोण आदि, के रूप में पेश किया जाता है। परंतु वास्तव में, यह "एकांगीपन" दर्शन के इतिहास के प्रति सुसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। स्पष्टतः यह किसी भी अवैज्ञानिक व्याख्या को दृढ़ता से अस्वीकार करने की पूर्वकल्पना करता है। प्रत्ययवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष, जो अपने को "अतिवादी" दृष्टिकोणों से ऊपर माननेवाले दर्शन के बुर्जुआ इतिहासकार की दृष्टि में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दोष है, दर्शन के इतिहास के अध्ययन में वैज्ञानिक सुसंगतता की आवश्यक अभिव्यक्ति है। लेओनीद ब्रेज्नेव के अनुसार, "दो विचारधाराओं के बीच संघर्ष में तटस्थता और समझौते का कोई स्थान नहीं है" (11,89-90)।

प्रत्ययवाद के प्रति द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी, पक्षधर दृष्टिकोण, जैसा कि ऊपर कहा गया है, न केवल प्रत्ययवादी दर्शन की भूमिका के वैज्ञानिक मूल्यांकन में कोई बाधा नहीं डालता, बल्कि ऐसे मूल्यांकन के लिए अध्ययन-विधि का एक सुसंगत आधार भी प्रस्तुत करता है। मार्क्स और एंगेल्स की कृति 'पवित्र परिवार' इसका प्रमाण है। इसमें लेखक प्रत्ययवादी परिकल्पनाओं का पर्दाफ़ाश करने के साथ-साथ इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उनका विश्व-दृष्टिकोण भौतिकवादी है, "जो अब स्वयं **संकल्पना** के कार्य से परिनिष्पन्न बन गया है" (1, *4*,125)। इसका अर्थ यह है कि मार्क्सवादी दर्शन प्रत्ययवादी दर्शन की सारी उपलब्धियों को भौतिकवादी ढंग से परिष्कृत तथा आलोचनात्मक ढंग से आत्मसात् करता है। यही कारण है कि दर्शन के इतिहास के अध्ययन के लिए सैद्धांतिक आधार के रूप में स्वीकृत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन के इतिहास में अनुसंधान का वैज्ञानिक रूप से पुष्ट मुख्य मार्ग है। एकमात्र वैज्ञानिक दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण, जिसे समकालीन दर्शन ने अपना लक्ष्य घोषित किया, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है। यह सत्य न केवल मार्क्सवादी दर्शन के रचनात्मक विकास से, बल्कि २०वीं सदी में बुर्जुआ दर्शन के इतिहास से भी पुष्ट हो जाता है। समकालीन

प्रत्ययवादी दर्शन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण के विचार दोनों ही को अस्वीकार करता है। वास्तव में, सभी ग़ैर-मार्क्सवादी (समकालीन सहित) दार्शनिक सिद्धांतों के लिए दर्शन के पूर्ववर्ती **विकास** की धारणा का कोई अस्तित्व नहीं है। ग़ैर-मार्क्सवादी दार्शनिक सिद्धांतों के लिए, जो **विकासमान** प्रणालियां नहीं हैं (न ही हो सकती हैं) उद्भव और परिवर्तनों की प्रक्रिया से गुज़रनेवाले एक दर्शन के रूप में दर्शन की जांच परायी है। वे दर्शन के विगत को किसी अश्मीभूत चीज़ के रूप में देखते हैं : वह फिर कभी न लौटनेवाले ऐतिहासिक युग से या तो समग्रतः संबंध रखता है, या इसके विपरीत, काल गति से अप्रभावित मेधावी पुरुषों की कृति है। ये दोनों ही दृष्टिकोण दर्शन के विगत को वास्तविक बहुविध सामाजिक इतिहास से पृथक् करते हैं।

दार्शनिक विकास का सिद्धांत – द्वंद्वात्मक भौतिकवाद – दार्शनिक ज्ञान की विकासमान प्रणाली है और इसलिए यह आधुनिक युग का दर्शन बना हुआ है, भले ही इसकी स्थापना एक शताब्दी से अधिक पहले की गयी थी। दर्शन के पूर्ववर्ती विकास का आलोचनात्मक समाहार करते हुए द्वंद्वात्मक भौतिकवाद आधुनिक दार्शनिक सिद्धांतों द्वारा प्रस्तुत सवालों का भी उत्तर देता है। मार्क्सवादी दर्शन केवल दार्शनिक समस्याओं के ही सैद्धांतिक विवेचन और वैज्ञानिक हल नहीं पेश करता ; उसका विश्व-दृष्टिकोण मौलिक अनुसंधान, व्यावहारिक कार्यकलाप और मानवजाति के ऐतिहासिक अनुभव के सभी क्षेत्रों में अत्यधिक महत्वपूर्ण उपलब्धियों का भी समाहार करता है। समूचे ग़ैर-मार्क्सवादी दार्शनिक सिद्धांतों से द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद का मूल अंतर, सभी प्रगतिशील दार्शनिक परंपराओं से उसका अभिन्न संबंध, भविष्य से उसका उत्कट लगाव तथा सामाजिक अत्याचार और शोषण की रक्षा की अडिग अस्वीकृति – यह सब मार्क्सवाद के वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टिकोण को दर्शन के इतिहास के वैज्ञानिक सिद्धांत का एकमात्र संभव आधार बनाता है।

१

दर्शन के इतिहास में अध्ययन-विधि की समस्याएं

दर्शन का इतिहास –
दार्शनिक ज्ञान का विकास

कम से कम, पहली नज़र में लगता है कि दर्शन के इतिहास का विषय सुनिश्चित और स्पष्ट है। स्वयं इसका नाम ही अध्ययन के विषय को स्पष्ट कर देता है। फिर भी, हमें इससे भ्रमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह ऐसा "स्पष्ट" नहीं है। यह चीज़ तब स्पष्ट होती है, जब हम यह प्रश्न करें: दर्शन का इतिहास विज्ञान या कला के इतिहास से किस रूप में भिन्न है? मिसाल के लिए, गणितशास्त्र का इतिहास इस विज्ञान की प्रगति को पुनरावर्तित करता है, जहां प्रत्येक नयी उपलब्धि की जड़ पूर्ववर्ती उपलब्धियों में निहित होती है। इस तरह, इसमें गणितीय ज्ञान के विकास का सोपानक्रम होता है, जिसमें उसकी ऐतिहासिक अवस्थाएं अनिवार्यतः एक-दूसरे से संबंधित होती हैं। एक विशेष विद्या के रूप में कला का इतिहास विलक्षण कला-कृतियों की वास्तविक रचना-प्रक्रिया का पुनरावर्तन करता है। बेशक ये कलाकृतियां एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। परन्तु एक दूसरे से उनका संबंध वैज्ञानिक सिद्धांतों के बीच ऐतिहासिक संबंधों से मूलतः भिन्न होता है।

विकास के सिद्धांत के विरोधी भी इससे इन्कार नहीं करते कि विज्ञान के इतिहास के अध्ययन का अपना उद्देश्य होता है। पर जहां तक कला का संबंध है, यह अध्ययन-विधि का एक विवादास्पद मुद्दा है। दृष्टतः यही बात दर्शन के इतिहास पर भी लागू होती है।

दर्शन के आधुनिक प्रत्ययवादी इतिहासकार अक्सर जोर देकर कहते हैं कि दार्शनिक प्रणालियां महान कलाकृतियों की तरह हैं, क्योंकि दर्शन धारणाओं का काव्य है। यह सादृश्य दर्शत के सूत्रों और कला-बिम्बों के बीच गुणात्मक अंतर की पूर्णतः उपेक्षा करता है। होमर का 'इलियड' एक अर्थ में अब भी पूर्णता का अप्राप्य प्रतिमान बना

हुआ है। लेकिन 'इलियड' का आधुनिक पाठक इस महाकाव्य का आनंद लेते समय होमर के साथ प्राचीन यूनान के देवताओं, उनके परस्पर संबंधों, मनुष्यों के साथ उनके संबंधों, आदि पर बहस नहीं करता। दूसरी ओर, अरस्तू या प्लेटो को पढ़ते हुए वही पाठक अनिवार्यतः उनके सिद्धांतों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, उनका विश्लेषण करता है और उनमें असत्य, असंगत विचारों से बुद्धिसंगत विचारों को पृथक करने की कोशिश करता है।

केवल शेक्सपियर ही 'ओथेलो' लिख सका। कोई अन्य व्यक्ति इस दुःखांत नाटक की रचना नहीं कर सकता था। लेकिन, उदाहरणार्थ, प्लेटो अथवा अरस्तू के साथ बात कुछ और ही है। दूसरे दार्शनिकों ने उनके विचारों को भिन्न ढंग से पर व्यक्त कर ही दिया होता। इस संबंध में, दर्शन का इतिहास प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के सदृश है। यह सही है कि, उदाहरणार्थ, भौतिकविज्ञान में खोजें कतिपय वैज्ञानिकों का कार्य हैं और उनपर उनके व्यक्तित्व की छाप है। फिर भी, अगर वे उन खोजों को करने में असफल भी हो जाते, तो दूसरे वैज्ञानिकों ने उन्हें यथासमय कर दिया होता। अतः लीबनिज़ या फ़ायरबाख़ के सिद्धांतों का अध्ययन करनेवाले दर्शन के इतिहासकार तथा तोलस्तोय या बाइरन का अध्ययन करनेवाले साहित्यिक इतिहासकार के बीच तुलना करना बिल्कुल ग़लत है। दर्शन का इतिहास कला के इतिहास से मूलतः भिन्न है।

शब्द "इतिहास" (यूनानी historia) का शाब्दिक अर्थ है कहानी, वर्णन, सूचना। विज्ञान के रूप में इतिहास का उद्‌भव वस्तुतः विगत की उन घटनाओं (इतिहासकार घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी नहीं होता) के वर्णन के रूप में हुआ, जो वर्तमान के लिए अर्थपूर्ण हैं।

हेगेल ने शब्द "इतिहास" के दोहरे अर्थ पर ज़ोर दिया: "हमारी भाषा में शब्द "इतिहास" के वस्तुगत और आत्मगत, historiam rerum gestarum और स्वयं res gestas, दोनों ही अर्थ हैं; यह जो घटित हुआ उसे और ऐतिहासिक वर्णन, दोनों को सूचित करता है। हमें चाहिए कि हम दोनों अर्थों के इस संयोजन को मात्र एक बाह्य संयोग से अधिक महत्वपूर्ण चीज़ के रूप में देखें; हमें यह मानना चाहिए कि इतिहास-लेखन ऐतिहासिक कार्रवाइयों और घटनाओं के साथ-साथ उत्पन्न

होता है: उन्हें साथ-साथ जन्म देनेवाला एक सामान्य आंतरिक आधार होता है" (63,164)। हमें इस बात पर भी गौर करना होगा कि शब्द "इतिहास" ने प्राचीन समय में ही एक व्यापक अर्थ प्राप्त कर लिया था। उदाहरणार्थ, अरस्तू ने इतिहास को ऐसी तथ्यात्मक सूचनाओं (तदनुसार, विवरणों) का संग्रह कहा, जिन्हें उन्होंने सिद्धांत, अनुसंधान तथा तार्किक निष्कर्षों से पृथक रखा।

शब्द "इतिहास" का यह बहुअर्थ अनेक शताब्दियों तक बना रहा। १८वीं सदी के अंत तक प्राकृतिक विज्ञानों को, जो प्रेक्षण से प्राप्त तथ्यों का संग्रह और वर्गीकरण करनेवाले वर्णनात्मक विज्ञान बने रहे, historia naturalis – प्राकृतिक इतिहास – कहा जाता था, ताकि उसका जातियों के इतिहास से भेद किया जा सके। सैद्धांतिक प्रकृति विज्ञान ने उस स्पष्टतः पुराने शब्द के स्थान पर अध्ययन के विषय का अधिक उपयुक्त शब्द रखा। एंगेल्स के अनुसार, "अगर प्राकृतिक विज्ञान पिछली सदी के अंत तक मुख्यतः एक संग्रहकारी विज्ञान, तैयार चीज़ों का विज्ञान था, तो हमारी सदी में यह मूलतः एक **क्रमबद्धकारी** विज्ञान, प्रक्रियाओं का विज्ञान, इन चीज़ों के उद्‌भव और विकास की प्रक्रियाओं का विज्ञान तथा इन सभी प्राकृतिक प्रक्रियाओं को एक विशाल समष्टि में जोड़नेवाले अंतःसंबंध का विज्ञान है" (3,*3*,363)।

दर्शन के इतिहास और प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के बीच सादृश्य देखा जा सकता है; दर्शन का इतिहास भी मात्र तथ्यों के संग्रह और उनका सारांश प्रस्तुत करनेवाले वर्णन से सुव्यवस्थित अध्ययन में विकसित हुआ है, जो दर्शन के उद्‌भव और विकास का एक विज्ञान बन गया है। परंतु इस सादृश्य से यह तथ्य धुंधला नहीं होना चाहिए कि दर्शन का ऐतिहासिक विकास प्राकृतिक विज्ञानों के विकास से मूलतः भिन्न है।

दर्शन के इतिहास का जन्म भी मनुष्य के बौद्धिक जीवन में असाधारण और संभवतः आश्चर्यजनक घटनाओं के वर्णन के रूप में हुआ। मिसाल के लिए, डायोजेनिस लाएर्शियस की दृष्टि में, दार्शनिक तथा उनके सिद्धांत आश्चर्यजनक थे। उनके ग्रंथन 'सुप्रसिद्ध दार्शनिकों के जीवन, सिद्धांतों और सूक्तियों के बारे में' को दर्शन के इतिहास का पहला अध्ययन माना जा सकता है। हालांकि अपने पूर्ववर्तियों

के विचारों के बारे में प्लेटो या अरस्तू की टिप्पणियां दर्शन के इतिहास के लिए बड़े महत्व की हैं, फिर भी, ठीक-ठीक कहें तो, वे दर्शन के इतिहास का अन्वेषण नहीं हैं। प्लेटो अपने पूर्ववर्तियों को विगत के चिंतकों के रूप में मानने में असफल रहे। उनके संवादों में पार्मेनिडिज़, प्रोटागोरस और अन्य दार्शनिक बहस में प्लेटो के गुरु सुकरात की बराबरी में भाग लेते हैं। यह सही है कि अरस्तू इस संबंध में प्लेटो से भिन्न हैं। लेकिन पूर्ववर्ती सिद्धांतों की उनकी जांच अपनी ही प्रणाली पेश करने के कार्य के पूरी तरह अधीन है। अपने सिद्धांतो को सिद्ध करने के लिए वह दूसरे दार्शनिकों की पूर्वाग्रहपूर्ण आलोचनाओं का उपयोग करते हैं।

डायोजेनिस लाएर्शियस का ग्रंथ स्पष्टतः संकलनस्वरूप का होने के बावजूद दर्शन के इतिहास की एक निश्चित धारणा पर आधारित है, हालांकि स्वयं लेखक भी इसे पूरी तरह नहीं समझता है: इसमें डायोजेनिस लाएर्शियस दो मूल दार्शनिक प्रवृत्तियों – जड़सूत्रवाद तथा संशयवाद – को अलग रखने और एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़ा करने का प्रयास करते हैं।* दार्शनिकों के सिद्धांतों का वर्णन उनके बीच इतने महत्वपूर्ण मतभेद प्रकट करता है कि स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है: जितने दर्शन, उतने दार्शनिक। प्रत्यक्षतः इस दृष्टिकोण से **दर्शन** का इतिहास **दर्शनों** का इतिहास है; डायोजेनिस के लिए एक ही प्रक्रिया के रूप में दर्शन के इतिहास की धारणा परायी है। यह सच है कि वह स्वीकार करते हैं कि सभी दार्शनिक सत्य की खोज में एकमत हैं, लेकिन कोई भी इस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाता और वे अधिकाधिक विभिन्न मार्ग अपनाते हैं। यद्यपि डायोजेनिस लाएर्शियस एपिक्यूरसवाद के निकट थे, फिर भी दर्शन के इतिहास की उनकी अवधारणा मूलतः संशयवादी है।

---

*डायोजेनिस का अनुसरण करनेवाले संशयवादी दार्शनिकों ने इस दृष्टिकोण को अपनाया। यहां तक कि कांट ने भी इन मूल (परंतु, उनके विचार में, पूर्वाग्रहपूर्ण) दार्शनिक प्रवृतियों पर क़ाबू पाने को अपना लक्ष्य माना। डायोजेनिस लाएर्शियस के ग्रंथ के धारणात्मक गुण पर देखिये (12) ।

हमारा विश्वास है कि दार्शनिक संशयवाद दर्शन के इतिहास का पहला सिद्धांत था और इसका प्रभाव अब भी समकालीन ग़ैर-मार्क्सवादी दर्शन में महसूस किया जाता है। इस सिद्धांत का आरंभ-बिन्दु "बुद्धि की कसरत" के रूप में दर्शन की नकारात्मक समझ है, जो सत्य पर कभी नहीं पहुंचा सकती, क्योंकि दर्शन सत्य और भ्रांति को अलग करनेवाला मानदंड नहीं प्रस्तुत कर सकता। संशयवादियों की दृष्टि में, जिन चीज़ों को दार्शनिक सत्य कहते हैं, वे मात्र रायें और विश्वास हैं। अतः संशयवादियों ने अपने को सत्य कहने का दावा करनेवाले किसी भी दर्शन पर जड़सूत्रवाद का अवज्ञापूर्ण आरोप लगाया।

संशयवाद निरपवाद रूप से सभी दर्शनों के प्रति इस विश्वास के साथ नकारात्मक रुख़ अपनाता है कि वही एकमात्र सही दर्शन है, क्योंकि वह सभी सकारात्मक दार्शनिक स्थापनाओं को ठुकरा देता है। अतः संशयवाद दावा करता है कि उसे मालूम है कि सभी दर्शन किस थैले के चट्टे-बट्टे हैं: उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस तरह संशयवाद जगत् और उसके ज्ञान के बारे में एक दार्शनिक सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि दर्शन के एक दर्शन या अधिदर्शन के रूप में प्रकट होता है। दर्शन के प्रति इस भ्रामक दृष्टिकोण को इस दावे से उचित ठहराया जाता है कि किसी भी दार्शनिक प्रस्थापना की सत्यता को अस्वीकार करने का अर्थ उसकी प्रतिस्थापना की सत्यता को स्वीकार करना नहीं है। संशयवादियों के अनुसार, सभी दार्शनिक अपने विचारों में एक दूसरे से भिन्न हैं और वे एक दूसरे का खंडन करते हैं, अतः दार्शनिक निर्णय के प्रयोग से परहेज़ करना चाहिए। इस तथ्य की उपेक्षा कर दी जाती है कि संशयवाद भी दार्शनिकों के तर्कों में भाग लेता है और दूसरे दर्शनों की भांति अपने विरोधियों का खंडन करता है।

यद्यपि प्राचीन संशयवाद ने (और यह नव युग के संशयवाद के बारे में तो और भी सही है) कुछ दार्शनिक समस्याओं का विश्लेषण करके संज्ञान में निहित कुछ अंतर्विरोधों को निश्चय ही प्रकट किया तथा इस तरह ज्ञानमीमांसीय समस्याओं के प्रति एक अधिक रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने में सहायता की, तथापि दर्शन के इतिहास की उसकी धारणा ग़लत थी और सामान्य चेतना के काफ़ी पूर्वाग्रहों से ग्रस्त थी। संशयवादियों ने मौलिक रूप से महत्वपूर्ण ऐसे प्रश्नों को कभी नहीं

उठाया, जैसे कि क्या दार्शनिक सिद्धांत वास्तव में एक दूसरे का खंडन करते हैं? क्या उनके बीच मतभेदों का वास्तव में यह अर्थ है कि दर्शन द्वारा प्रस्तुत समस्याएं असमाधेय हैं? क्या दर्शनों को एक दूसरे से अलग करनेवाले बड़े मतभेद और अंतर्विरोध सभी दर्शनों के महत्वपूर्ण सर्वनिष्ठ गुणों को सचमुच खारिज कर देते हैं? क्या दर्शनों के बीच विवाद मात्र नकारात्मक हैं?

संशयवादियों ने दार्शनिक भ्रांतियों के ज्ञानमीमांसीय स्वरूप की कभी छान-बीन नहीं की, उन्होंने इनकी वास्तविक (चाहे ठीक-ठीक न समझी गयी) अंतर्वस्तु को कभी नहीं देखा। लेकिन दार्शनिकों ने चाहे कितनी ही बड़ी ग़लतियां क्यों न की हों, हमें उन्हें उस अंतर्वस्तु को प्रकट करने का श्रेय प्रदान करना चाहिए। संशयवादियों को सत्य और भ्रांति के बीच द्वंद्वात्मक संबंध के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। सत्य (जिस हद तक यह प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत और सामान्यतः ज्ञात किसी चीज़ का मात्र वर्णन नहीं है) और भ्रांति (बेशक, अगर यह कम से कम परोक्ष रूप से महत्वपूर्ण तथा पहले से अज्ञात तथ्यों को इंगित करती है) एक दूसरे के पूर्णतः विरोधी नहीं हैं। यही कारण है कि दर्शन के इतिहास का, चाहे यह भ्रांतियों – बड़ी भ्रांतियों! – का ही इतिहास क्यों न हो, विशाल ज्ञानमीमांसीय महत्व है। और केवल इस वजह से ही नहीं कि यह, चाहे परोक्ष रूप से ही क्यों न हो, ज्ञान के विकास के सही मार्ग की रूपरेखा प्रस्तुत करता है; दर्शन के इतिहास को मात्र भ्रांतियों के इतिहास के रूप में नहीं माना जा सकता: यह महान खोजों का इतिहास भी है, भले ही वे सामान्य रूप से स्वीकृत न हों। यह तथ्य कि सामान्यतः दर्शन में ऐसे सिद्धांत नहीं हैं, जिनसे सभी दार्शनिक सहमत हों, सही दार्शनिक सिद्धांतों के अस्तित्व से बिल्कुल इन्कार नहीं करता। इस तथ्य का विस्मरण उन धारणाओं का एक सैद्धांतिक स्रोत है, जो मानती हैं कि दर्शन का इतिहास दार्शनिक ज्ञान का विकास नहीं है।

ऊर्जा-रूपांतरण के नियम की खोज ने सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक प्राकृतिक विज्ञानों को यह प्रमाण प्रदान किया कि गति और भूतद्रव्य (भूतद्रव्य की स्वगति) की एकता तथा गति की अनश्वरता के बारे में भूलभूत भौतिकवादी सिद्धांत सही हैं। एंगेल्स के शब्दों में, "प्रकृति

में गति की एकता मात्र एक दार्शनिक दावा नहीं, बल्कि एक प्रकृति-वैज्ञानिक तथ्य है" (9,197)। दूसरी ओर "वे प्रस्थापनाएं, जो सदियों पहले पेश की गयीं, जिन्हें दर्शन में बहुत पहले ही दार्शनिक रूप से निपटाया जा चुका है, अक्सर सिद्धांतकारी प्रकृतिविज्ञानियों द्वारा बिल्कुल नये सत्य के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं और कुछ समय के लिए फ़ैशनेबुल भी बन जाती हैं (9,43)।

इस तरह, वे दार्शनिक सिद्धांत भी, जो विशेष वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा पुष्ट होते हैं, दार्शनिकों के बीच **सार्विक** स्वीकृति नहीं पाते। प्रकृतिवैज्ञानिकों ने बहुत पहले से यह स्वीकार कर लिया है कि चेतना अत्यधिक संगठित भूतद्रव्य का गुण है। पर प्रत्ययवादी आज भी भौतिकवादी दर्शन के इस भूलभूत सिद्धांत को चुनौती (चाहे आम तौर से अपवादों के साथ ही सही) देते हैं।

दर्शन के इतिहास की अपनी नकारात्मक व्याख्या के दोष के बावजूद संशयवादियों को उसके एक मुख्य गुण की खोज का श्रेय है। ज्ञान के अन्य क्षेत्रों के विपरीत दर्शन में अनेकानेक परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियां, सिद्धांत और अवधारणाएं सम्मिलित हैं, जिनमें से अनेक परस्पर-अपवर्जक हैं। लेकिन इस बात का कि मुख्य समस्याओं पर दार्शनिकों के (कम से कम प्रख्यात दार्शनिकों के) भिन्न-भिन्न विचार हैं, यह अर्थ नहीं है कि दार्शनिक सत्य अनस्तित्वमान हैं। एकमात्र स्पष्ट चीज़ (और यह दर्शन के इतिहास की मुख्य विशेषता है) यह है कि कुछ दार्शनिकों द्वारा पुष्ट किये गये सत्यों को उनके विरोधी सर्वथा ग़लत घोषित करते हैं। दूसरी ओर, अनेक दार्शनिक भ्रांतियों को मौलिक सत्य घोषित किया जाता है। ऐसा कभी-कभी दूसरे सैद्धांतिक विज्ञानों में भी होता है। परंतु जबकि ऐसा विज्ञान में यदा-कदा होता है, दर्शन में यह आम चीज़ है और इसे उसका बौद्धिक वातावरण कहा जा सकता है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संशयवादी और वे दार्शनिक भी, जिनका संशयवाद से कोई वास्ता नहीं है, परस्पर-विरोधी दर्शनों की असीम विविधता को क्यों स्वीकार करते हैं और इसे दार्शनिक ज्ञान में अंतर्निहित किसी चीज़ के तथा सत्य पर पहुंचने में एक गंभीर बाधा के रूप में मानते हैं।

१८वीं सदी में संशयवाद को अस्वीकार करनेवाले एक दार्शनिक ई० कोन्दिल्याक ने दर्शन की इस विशिष्ट स्थिति की जांच की। अपनी कृति 'प्रणालियों पर निबंध' में उन्होंने लिखा: "कितनी प्रणालियां बनायी जा चुकी हैं तथा और कितनी बनायी जायेंगी? काश हमें कम से कम एक भी ऐसी प्रणाली मिलती, जिसकी व्याख्या इसके सभी अनुयायियों द्वारा कमोबेश एक जैसी समझी गयी हो! लेकिन क्या हम ऐसी प्रणालियों पर विश्वास कर सकते हैं, जो हज़ारों हाथों से गुज़रती हुई हज़ारों बार परिवर्तित होती हैं, जो तरंग की भांति एक ही ढंग से प्रकट और ग़ायब होती और इतनी अविश्वसनीय हैं कि किसी स्थापना के खंडन और मंडन दोनों ही के लिए उनका उपयोग समान रूप से किया जा सकता है" (44,21) । संशयवादियों के विपरीत, कोन्दिल्याक ने वैज्ञानिक रूप से परखी सामग्री के आधार पर दार्शनिक प्रणाली की स्थापना के द्वारा दर्शन की उपरिलिखित स्थिति पर क़ाबू पाना संभव तथा आवश्यक माना। कोन्दिल्याक ने संवेदनवादी ज्ञानमीमांसा के विकास के लिए बहुत कुछ किया। हालांकि वह समस्या को हल करने में असफल रहे, उनके अन्वेषण ने निस्संदेह समाधान को निकटतर ला दिया।

वर्तमान समय में, दर्शन के इतिहास के अधिकांश सैद्धांतिक अध्ययन दार्शनिक सिद्धांतों के बीच बढ़ते अंतरों पर ज़ोर देते हैं। उदाहरणार्थ, दर्शन के फ़्रांसीसी इतिहासकार सी० जे० दुकास का विचार है कि इतनी संख्या में परस्पर-अपवर्जक दर्शनों के अस्तित्व का विश्लेषण दर्शन के सारतत्व को समझना संभव बनाता है। उन्होंने लिखा, "वे जो दर्शन के इतिहास की जांच करते हैं, उस अंतर से आश्चर्यचकित हो जाते हैं, जो प्राकृतिक विज्ञानों में अधिकाधिक स्पष्ट सहमति की ओर बढ़ती प्रवृतियों और इस तथ्य के बीच विद्यमान है कि दर्शन में ऐसी प्रवृति अगर पूर्णतः अनुपस्थित नहीं है तो कम दृष्टिगोचर अवश्य है" (46,272) । अतर्कबुद्धिवादी प्रवृति के दार्शनिकों के विपरीत, जो ज़ोर देते हैं कि दर्शन और विज्ञान असंगत हैं, दुकास दर्शन को sui generis* विज्ञान मानते हैं। तो भी, वे तथ्य, जो दर्शन का विषय हैं, उन तथ्यों

* विशिष्ट। – **अनु०**

से मूलतः भिन्न हैं, जो किसी भी दूसरे विज्ञान का विषय हैं। दर्शन में तथ्य प्रस्थापनाएं हैं और इस तरह "दार्शनिक सिद्धांत की सभी समस्याएं मूलतः शब्दार्थ-विषयक हैं, लेकिन सभी शब्दार्थ-विषयक समस्याएं अनिवार्यतः दार्शनिक नहीं हैं" (46,282)। बेशक, दर्शन के सार की यह मूलतः रूपात्मक व्याख्या दार्शनिक समस्याओं के वैज्ञानिक हल का सही मार्ग नहीं दिखा सकती।

यदि दर्शन के इतिहास का अन्वेषण कठिन है, तो दार्शनिक ज्ञान के **विकास** की एक प्रक्रिया के रूप में दर्शन के इतिहास को समझना और भी कठिन है। हेगेल ने ही इस समस्या को पहले पहल पेश किया। स्पष्टतः इसी वजह से मार्क्स ने ज़ोर दिया कि दर्शन के इतिहास की हेगेलीय व्याख्या के प्रत्ययवादी स्वरूप के बावजूद हेगेल "... समग्र रूप में दर्शन के इतिहास को समझनेवाले पहले व्यक्ति थे 4,*29*,549) ।

सबसे पहले हेगेल ने प्राचीन संशयवाद में बद्धमूल इस विचार को अस्वीकार कर दिया कि दार्शनिक सिद्धांत एक दूसरे के पूर्णतः विरोधी हैं। उन्होंने भिन्नता की अपनी इस द्वंद्वात्मक व्याख्या को दार्श-निक प्रणालियों के तुलनात्मक विश्लेषण पर लागू किया कि भिन्नता में तादात्म्य समाविष्ट है। हेगेल के अनुसार दार्शनिक प्रणालियों के बीच भिन्नताएं ऐसी ही हैं, वे भी, जो अंतर्विरोधों में विकसित हो जाती हैं। उनके शब्दों में, "**दर्शन का इतिहास** दिखाता है: पहले, भिन्न-भिन्न नज़र आनेवाले दर्शन **मात्र एक** दर्शन के विकास की विभिन्न मंज़िलें हैं; दूसरे, विशेष **सिद्धांत**, जिनमें से प्रत्येक किसी न किसी विशेष विशेप प्रणाली में अन्तर्निहित होता है, मात्र एक और एक ही समष्टि की **शाखाएं** हैं" (64,*6*,21)।

जैसा कि विदित है, विभिन्नता और तादात्म्य का हेगेलीय द्वंद्ववाद तादात्म्य को प्रधानता देता है, क्योंकि तादात्म्य की व्याख्या एकता के रूप में तथा एकता की व्याख्या विपरीतों की अनन्यता के रूप में की जाती है। हेगेल के विचार में, सत्ता और चिंतन का तादात्म्य सारी अस्तित्वमान चीज़ों का सार है। दार्शनिक प्रणालियों के बीच विभिन्न-ताओं के महत्व को कम करके आंकने के हेगेल के झुकाव का यही कारण है। उन्होंने उन्हें एक ही दर्शन के विकास की क्रमिक मंज़िलें माना, जिसका सार हमेशा एक जैसा बना रहता है। इस संशयवादी दावे

का खंडन करते हुए कि सभी दर्शन मिथ्या हैं, हेगेल दरअसल पूर्णतः विरोधी दृष्टिकोण स्वीकार करने को तैयार थे : सभी दर्शन सही हैं, परंतु एक ही विकासमान दर्शन की अवस्थाओं के रूप में, और स्वयं दर्शन उस "परम प्रत्यय" की प्रामाणिक आत्माभिव्यक्ति हैं, जिसने मानव-इतिहास और सबसे पहले युग-युगों में दार्शनिक ज्ञान के विकास से आत्म-चेतना पायी।

इस दृष्टिकोण से यह भी कहा जा सकता है कि दर्शन के संपूर्ण इतिहास से अलग करके विवेचित दर्शन की कोई भी प्रणाली सत्य नहीं है। सत्य प्रक्रिया है और यह सबसे पहले विभिन्न और यहां तक कि विपरीत परिभाषाओं की एकता के रूप में भी दार्शनिक सत्य पर लागू होता है। अतः हेगेल ने उस दृष्टिकोण का भी विरोध किया, जो संशयवाद से इन्कार करते हुए भी उतना ही दोषपूर्ण है, क्योंकि उसके अनुसार सभी दर्शन उन्हें पृथक् करनेवाले अंतर्विरोधों के बावजूद अपने-अपने ढंग से सत्य हैं। हेगेल के अनुसार, यह स्वीकरण कि दर्शन मूलतः भिन्न होते हुए भी समग्र रूप में सत्य हैं, एक ऐसा पूर्वानुमान है, जो गंभीरता से ध्यान देने के भी उपयुक्त नहीं है, चाहे वह कितना ही सांत्वनाप्रद क्यों न हो।

इस प्रकार, हेगेल ने सिद्ध किया कि दर्शन का इतिहास दर्शन का **विकास** है, ज्ञान के एक स्तर से क्रमशः दूसरे उच्चतर स्तर में संक्रमण तथा वस्तुओं के सारतत्व की अधिकाधिक गहराई से जांच है। अपनी कृति 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' में, जिसे एंगेल्स ने "उनकी एक प्रतिभाशाली कृति" कहा (2,415), हेगेल दर्शन के विकास की व्याख्या सर्पिल गति के रूप में करते हैं, क्योंकि एक स्तर पर इस या उस ढंग से हल की गयी दार्शनिक समस्याएं दर्शन के अगले विकास द्वारा रूपांतरित हो जाती हैं, नयी अंतर्वस्तु प्राप्त करती हैं तथा अब भी हल की जानेवाली समस्याओं के रूप में नये, उच्चतर दार्शनिक स्तर पर पहुंच जाती हैं; इन समस्याओं के प्रति नया दृष्टिकोण ऐसे निष्कर्षों पर ले जाता है, जो यथार्थ की दार्शनिक समझ को बढ़ाते हैं।*

---

* यह उल्लेख करना दिलचस्प है कि लुई दे ब्रोइल के अनुसार,

हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' प्रस्तुतीकरण की ऐतिहासिक विधि को, जो दार्शनिक प्रणालियों और उनकी उत्पत्ति से सम्बद्ध सभी तथ्यों का सारांश पेश करती है, ऐसी तार्किक विधि से मिलाते हैं, जो दार्शनिक ज्ञान के विकास में मुख्य अवस्थाओं तथा नियमों की खोज करती है। इस खोज के दौरान हेगेल अपने द्वारा निरूपित ऐतिहासिक और तार्किक कारकों की एकता के सिद्धांत से निर्देशित होते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, दर्शन का इतिहास मुख्य दार्शनिक प्रवर्गों के तार्किक विकास को पुनरुत्पादित करता है; प्रवर्गों की प्रणाली दार्शनिक विकास की अंतिम अवस्था परम प्रत्यय की रचना करती है। हेगेल लिखते हैं, "इतिहास में दर्शन के विकास को तार्किक दर्शन के विकास के अनुरूप होना चाहिए, लेकिन तार्किक दर्शन में अब भी ऐसे स्थान होंगे, जो ऐतिहासिक विकास में अनुपस्थित होते हैं।" लेनिन हेगेल की इस स्थापना को उद्‌धृत करते हुए इसे भौतिकवादी आधार पर रूपांतरित कर देते हैं और ज़ोर देते हैं कि दार्शनिक धारणाओं का वास्तविक विकास–एक ऐसी प्रक्रिया, जिसकी खोज का श्रेय निश्चय ही हेगेल को है–ऐसी परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है, जो दार्शनिक चेतना की अंतर्वस्तु से व्यापक होती हैं। लेनिन के शब्दों में, "यह बहुत गहन और सही, मूलतः भौतिकवादी विचार है (वास्तविक इतिहास वह आधार, वह सर्पिल विकास का विचार विज्ञान के इतिहास पर भी लागू होता है: "विज्ञान की प्रगति की तुलना वर्तुल गति से नहीं की जा सकती, जो हमें हमेशा उसी बिंदु पर लौटाती है; इसकी तुलना सर्पिल गति से की जा सकती है, जो कालांतर से हमें कुछ विगत अवस्थाओं के निकट लाती है, लेकिन सर्पिल कमानी के चक्र हमेशा आगे को बढ़ते और ऊपर को उठते हैं" (39,372)। कहना न होगा कि संज्ञान का सर्पिल विकास पुनरावृति और अद्वितीयता की एकता तथा इस सर्वतोमुखी गतिशील प्रक्रिया में अनुक्रम के संबंधों को निर्धारित करनेवाली तुलना मात्र है, कोई भी यांत्रिक मॉडल इस प्रक्रिया का समुचित रूप से वर्णन नहीं कर सकता। मार्क्सवादी-लेनिनवादी दार्शनिकों में सोवियत संघ के ब० व० बोग्दानोव ने इस समस्या का विशेष अध्ययन किया है। (15,70-79)।

बुनियाद, वह सत्ता है, जिसका चेतना **अनुसरण** करती है" (10,*38*,265)।

अपनी कृति 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' और खास तौर से 'तर्कशास्त्र' में हेगेल ने दार्शनिक ज्ञान के अग्रगामी विकास के रूप में दर्शन के वास्तविक इतिहास को **सैद्धांतिक रूप से** दिखाने की कोशिश की। 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' के शुरू में जिस सामान्य चेतना की जांच की गयी है, वह प्रत्यक्ष इंद्रियगत सत्यापन से संवेदानुभूति के लिए बंद प्राकृतिक नियमों की बौद्धिक समझ तक और अंततः परम ज्ञान या मानव इतिहास में अपने को समुचित रूप से अभिव्यक्त करनेवाली सभी अस्तित्वमान चीज़ों के सृजनकारी आधार के रूप में परम की समझ तक ऊपर उठती है। दैनंदिन अनुभव से परम ज्ञान तक संज्ञान की यह गति, हेगेल के विचार में, प्रारंभिक स्वामी – दास संबंध से बुर्जुआ-जनवादी अर्थ में नागरिकों के लिए स्वाधीनता तथा समानता सुनिश्चित करनेवाली विधिक प्रणाली तक मानवजाति के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास से मेल खाती है। इस प्रकार, हेगेल दर्शन के इतिहास की व्याख्या प्रत्ययवादी ढंग से सारे सामाजिक विकास के आधार तथा प्रेरक-शक्ति के रूप में करते हैं।

'तर्कशास्त्र' एक ऐसी वस्तुगत, अंतर्वर्ती तर्कसंगत प्रक्रिया के रूप में दर्शन के विकास का सत्तामीमांसीय दृष्टिकोण पेश करता है, जो "परम प्रत्यय" के क्षेत्र में घटित होती है। दार्शनिक प्रणालियां एक परम दार्शनिक प्रणाली की विरचना की इस प्रक्रिया की प्रमुख अवस्थाएं, प्रवर्ग हैं, परम दार्शनिक प्रणाली ऐतिहासिक अस्तित्व के सीमित रूपों से मुक्त तथा द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की अवधारणाओं के सोपानक्रम में शामिल सभी पूर्ववर्ती प्रणालियों के सिद्धांतों को समन्वित करती है। इसका अर्थ यह है कि हर दार्शनिक प्रणाली में प्रत्यय एक विशिष्ट रूप में निहित होता है यानी वह "परम प्रत्यय" का सीमित रूप होता है। "परम प्रत्यय" अपनी यथेष्ट और स्थायी अभिव्यक्ति केवल संपूर्ण प्रक्रिया का सार प्रस्तुत करनेवाले परम प्रत्ययवाद की प्रणाली में ही पाता है। दार्शनिक प्रणालियां "स्वयं प्रत्यय की भूलभूत विभिन्नताओं के अलावा और कुछ नहीं हैं; यह जो कुछ भी है, केवल उनमें ही

प्रकट होता है ; फलतः वे उसके लिए महत्वपूर्ण हैं और प्रत्यय की अंतर्वस्तु बनाती हैं। अंतर्वस्तु पूर्णतः उद्घाटित होकर रूप बन जाती है" (64,*13*,48)।

दार्शनिक ज्ञान के विकास का हेगेलीय तर्क अपनी सभी मेधावी अंतर्दृष्टियों के बावजूद, जिन्हें मार्क्सवाद के संस्थापकों ने भौतिकवादी ढंग से रूपांतरित किया, अंतिम विश्लेषण में निराधार है, क्योंकि यह दर्शन के **आत्म-विकास** की मिथ्या अवधारणा से आगे बढ़ता है। परम आत्मा, जो हेगेल के अनुसार, "परम प्रत्यय" की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, दर्शन की आत्मा प्रतीत होती है और इस तरह दर्शन एक तात्विक रचनात्मक शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। एंगेल्स ने वस्तुतः इस प्रकार की अवधारणा का विरोध किया, उन्होंने नव-युग के दर्शन के विकास के बारे में लिखा : "देकार्त से हेगेल तक और हॉब्स से फ़ायरबाख़ तक की इस लंबी अवधि में दार्शनिक मात्र शुद्ध चिंतन की शक्ति से कदापि आगे नहीं बढ़े, जैसा कि उन्होंने कल्पना की है। बात उल्टी है। वास्तव में, जिस चीज़ ने उन्हें मुख्यतः आगे बढ़ाया, वह प्राकृतिक विज्ञान तथा उद्योग का अधिकाधिक तीव्र और तूफ़ानी विकास था" (3,*3*,347-48)।

चूंकि परम प्रत्ययवाद दार्शनिक चिंतन को तात्विक बनाता है, इसलिए हेगेल दार्शनिक ज्ञान के विकास में प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक-ऐतिहासिक व्यवहार की भूमिका को महत्वपूर्ण नहीं समझते। उनकी दृष्टि में, हर अदार्शनिक चीज़ दर्शन की उपज है। दर्शन को अदार्शनिक अध्ययन और कार्यकलाप के मुक़ाबले में खड़ा करना सामान्यतः प्रत्ययवादी दर्शन की विशेषता है और हेगेलीय दर्शन इसका एक आत्यंतिक उदाहरण है। मिसाल के लिए, हेगेल के विचार में, तात्विक चिंतन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति के रूप में दर्शन उस हर चीज़ को अलग कर देता है, जो शुद्ध चिंतन नहीं है और इसके फलस्वरूप यह अपनी अंतर्वस्तु के संबंध में मात्र स्वयं पर ही निर्भर करता है। परंतु हेगेल की प्रणाली में ऐसी समस्याएं सम्मिलित हैं, जो प्राकृतिक विज्ञानों, नृविज्ञान, मनोविज्ञान, नागरिक इतिहास, कला-इतिहास, आदि के विषय हैं। तो भी, दार्शनिक अन्वेषण के उन सभी क्षेत्रों को व्यावहारिक तर्कशास्त्र के विषयों के रूप में पेश किया जाता है। हेगेल साफ़-साफ़ कहते हैं

कि "वह हर चीज़, जिसे कोई ज्ञान या विज्ञान सत्य एवं अर्थपूर्ण मानता है, केवल तभी इस नाम के योग्य हो सकती है, जब वह दर्शन से जन्मी हो; दूसरे विज्ञान दर्शन का सहारा लिये बिना तर्क-वितर्क करने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, उनमें इसके बिना न जीवन हो सकता है, न आत्मा, न सत्य" (64,*2*,53-54)।

इस तरह, विकास की हेगेलीय प्रत्ययवादी धारणा अपने द्वंद्ववादी स्वरूप के बावजूद उस जटिल तथा बहुरूपी प्रक्रिया की एकतरफ़ा और विकृत व्याख्या प्रस्तुत करती है, जो गणितशास्त्र में भी केवल धारणाओं के तार्किक विकास के रूप में परिभाषित नहीं होती। लेकिन इस बात पर तो ज़ोर देना ही पड़ेगा कि हेगेल के जीवन-काल में वैज्ञानिक ज्ञान के किसी भी क्षेत्र ने विकास की कोई धारणा नहीं प्रस्तुत की थी।

दर्शन के इतिहास पर "विकास" के प्रवर्ग को लागू करना आसान नहीं है। यह मानना भोलापन होगा कि विकास के सामान्य सिद्धांत को, जो भौतिकवादी द्वंद्ववाद का सार है, दर्शन के इतिहास सहित ज्ञान की प्रत्येक विशेष शाखा पर प्रत्यक्ष रूप से लागू किया जा सकता है। दर्शन का इतिहास जीवविज्ञान, भूविज्ञान, आदि की भांति विषय-विशेष की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी व्याख्या पर आधारित विकास के **विशेष** सिद्धांत की तैयारी की मांग करता है। डार्विन का सिद्धांत विकास के विशेष सिद्धांत का एक स्पष्ट उदाहरण है, जो अपने में न केवल सामान्य विकास-प्रक्रिया का वर्णन करनेवाले प्रवर्गों, बल्कि मात्र प्रक्रिया-विशेष से सम्बद्ध अवधारणाओं को भी सम्मिलित करता है। भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजविज्ञान विकास की मूलतः विभिन्न क़िस्मों का अध्ययन करते हैं। मार्क्स की 'पूंजी' विकास का सामान्य सिद्धांत तथा सामाजिक-आर्थिक विकास का एक विशेष सिद्धांत दोनों ही पेश करती है।

सभी विकास-प्रक्रियाओं के लिए आम विशेषताएं परिवर्तनों की अप्रतिवर्त्यता, परिवर्तनों के विशिष्ट चक्र के ढांचे में उनकी दिशा, गुणात्मक रूपांतरण, निषेध, अनुक्रम, नयी संरचना की उत्पत्ति और स्थापना, रूपांतरण, पुनरावृत्ति (पुनरुत्पादन) तथा अद्वितीयता और

नूतन के उद्भव की एकता और नवीकरण हैं। प्रगति विकास का उच्चतम रूप है; यह विकास की उच्चतर अवस्था (स्तर) में संक्रमण है, जो इस प्रक्रिया की अंतर्वस्तु को समृद्ध तथा उसके रूप को पूर्ण बनाता है। इस प्रकार, विकास गुणात्मक रूप से विभिन्न प्रक्रियाओं की एकता है, जिनमें से प्रत्येक अब भी स्वयं विकास की प्रक्रिया नहीं, बल्कि उसका आवश्यक अंगीभूत तत्व होती है। उदाहरणार्थ, अप्रतिवर्त्यता सभी जीवित चीज़ों के कार्य की सहवर्ती है; इसलिए इस प्रक्रिया को विकास से नहीं मिलाना चाहिए। गति और परिवर्तन अपने आप में विकास नहीं हैं, पर विकास वस्तुतः गति और परिवर्तन के ज़रिये ही होता है।

दर्शन के इतिहास का विश्लेषण विकास की इन सामान्य, अभिलाक्षणिक विशेषताओं को प्रकट करना संभव बनाता है। इसके साथ ही, यह कुछ ऐसी प्रवृत्तियां भी प्रकट करता है, जो उपर्युक्त प्रस्थापनाओं की विरोधी हैं: पूर्ववर्ती दर्शन का अमूर्त निषेध, ऐतिहासिक रूप से कालातीत दार्शनिक सिद्धांतों की वापसी तथा विपरीतों का संघर्ष, जो अक्सर परस्पर-संक्रमण, अन्योन्याश्रितता और एकता की संभावना को मिटा देता है।

यदि प्राकृतिक विज्ञानों के इतिहास के साथ दर्शन के इतिहास की तुलना की जाये, तो उनके बीच मूल अंतर, जैसा कि इस अध्याय के प्रारंभ में उल्लेख किया गया है, तुरंत स्पष्ट हो जाता है। इस तथ्य के बावजूद कि निरंतरता और व्यवधान दोनों ही प्राकृतिक विज्ञानों के विकास के लिए अभिलाक्षणिक हैं उनके इतिहास में अग्र विकास कभी-कभार ही भंग होता है। सामान्यतः वैज्ञानिक सिद्धियां नहीं भुलायी जाती हैं; परस्पर-अपवर्जक अवधारणाओं का अस्तित्व एक अस्थायी (चाहे यह स्थायी रूप से ही क्यों न घटे) परिघटना है। लेकिन दर्शन में भिन्न स्थिति है: विभिन्न मतों, धाराओं, प्रवृत्तियों के बीच सह-अस्तित्व तथा संघर्ष इसके संपूर्ण इतिहास की विशेषता है। अन्य विज्ञानों में बहसों से भिन्न दार्शनिक वाद-विवाद के लिए दृष्टिकोणों का **बढ़ता मतभेद** लाक्षणिक है। तर्कबुद्धिवाद और इंद्रियानुभववाद, तर्कबुद्धिवाद और अतर्कबुद्धिवाद, प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद, अधिभूतवाद और परिघटनावाद जैसी धाराओं के बीच विरोध दिखाता है कि दर्शनों

के बीच भिन्नता प्रतिरोध में बदल जाती है, जो दार्शनिक ज्ञान के विकास के अधिक सामान्य रूपों के लिए भी अभिलाक्षणिक है। इसके अलावा, प्रत्येक प्रतिरोधी धारा ध्रुवीकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है: भौतिकवादी तर्कबुद्धिवाद प्रत्ययवादी तर्कबुद्धिवाद का तथा प्रत्यय-वादी इंद्रियानुभववाद भौतिकवादी इंद्रियानुभववाद, आदि का विरोध करते हैं।

इस तरह, दर्शनों की बड़ी विविधता के बावजूद, बहुविध धाराओं और प्रवृत्तियों के बावजूद – इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, चाहे यह कभी-कभी दर्शन के इतिहास पर लोकप्रिय कृतियों में ही क्यों न हो – भौतिकवाद और प्रत्ययवाद दो प्रमुख अंतर्विरोधी प्रणालियां हैं। उनका पारस्परिक विरोध दर्शनों के आमूल ध्रुवीकरण का परिणाम है। फिर भी, वे निरपेक्ष विरोधी नहीं हैं: उनका विरोध अध्ययन के सामान्य दार्शनिक क्षेत्र के ढांचे में विद्यमान (और गहराता) है। यह एक महत्वपूर्ण बात है जिस पर ज़ोर दिया जाना चाहिए, चाहे इसलिए ही कि अधिकांश प्रत्ययवादी भौतिकवाद को एक अदार्शनिक दृष्टिकोण मानते हैं।

भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच संघर्ष अनुक्रम-संबंधों से इन्कार नहीं करता, पर स्वभावतः इस अर्थ में नहीं कि भौतिकवादी प्रत्यय-वादी विचारों और प्रत्ययवादी भौतिकवादी विचारों को आत्मसात् करते हैं। मार्क्सवादी दार्शनिक अनुक्रम को द्वंद्वात्मक निषेध के रूप में मानते हैं, जिसके सकारात्मक स्वरूप का बेमेल विचारों की सारसंग्रह-वादी खिचड़ी से कोई वास्ता नहीं है। क्लासिकीय जर्मन दर्शन के प्रति द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का रुख़ इस द्वंद्वात्मक अनुक्रम का बहुत अच्छा उदाहरण है, जो दर्शन में पक्षधरता के वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार काम करता है।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है: क्यों दर्शन का इतिहास गणितशास्त्र, भौतिकविज्ञान और अन्य विज्ञानों के इतिहास से इतना भिन्न है? इसका उत्तर यह है कि दर्शन अध्ययन का भी एक विशिष्ट रूप है तथा सामाजिक चेतना का भी – वह एक विचारधारा है।

स्पष्टतः इस तथ्य का कि सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता को प्रतिबिंबित करती है, यह अर्थ नहीं है कि यह सामाजिक सत्ता का

अध्ययन अथवा ऐसे अध्ययन का परिणाम है। सामाजिक चेतना की अंतर्वस्तु सामाजिक सत्ता द्वारा निर्धारित होती है, जो चेतना से स्वतंत्र वस्तुगत सामाजिक प्रक्रिया है। निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों में सामाजिक चेतना वैज्ञानिक चेतना यानी वैज्ञानिक विचारों की एक प्रणाली बन सकती है। विशेष वैज्ञानिक अन्वेषण के ज़रिये निर्मित वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा ऐसा ही एक उदाहरण है; यह विशिष्ट ऐतिहासिक सामाजिक सत्ता – पूंजीवादी प्रणाली, इस प्रणाली में मज़दूर वर्ग की स्थिति, उसके हितों, आवश्यकताओं तथा मुक्ति आंदोलन – को प्रतिबिंबित करती है।

वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा मज़दूरों की उस स्वतःस्फूर्त चेतना से मूलतः भिन्न है, जो पूंजीवादी विकास के दौरान बनती है। स्वभावतः मानव-चेतना में न केवल सामाजिक सत्ता का प्रतिबिंबन, बल्कि प्रकृति का प्रतिबिंबन भी उस अध्ययन से मूलतः भिन्न है, जो अपने विषयों का वैज्ञानिक प्रतिबिंबन करता है। इस पुस्तक के आगे के पृष्ठों पर सामान्य चेतना के साथ, जो सामान्य अनुभव पर आधारित होती है, विज्ञान (और दर्शन) के संबंध पर एक विशेष विवेचन दिया गया है। यहां सिर्फ़ यह उल्लेख करना चाहिए कि प्राकृतिक विज्ञान सामान्य चेतना के ज़रिये प्रकृति के प्रतिबिंबन तथा विशेष अन्वेषणों से प्राप्त परिणामों के बीच अंतर करते हैं, इसके बावजूद कि विशेष अन्वेषण बहुधा सामान्य अनुभव पर आधारित होते हैं।

विज्ञान मानव चेतना में मात्र वस्तुगत यथार्थ को ही प्रतिबिंबित नहीं करता, चाहे यह प्राकृतिक या सामाजिक यथार्थ हो, विज्ञान यथार्थ के सैद्धांतिक प्रतिबिंबन का उच्चतम रूप है। प्रतिबिंबक चेतना (धार्मिक चेतना सहित कोई भी चेतना यथार्थ को प्रतिबिंबित करती है) और प्रतिबिंबक सैद्धांतिक अध्ययन के बीच यह विभाजन दर्शन में भी सर्कसंगत है। एक उदाहरण प्रस्तुत है। १८वीं सदी का फ़्रांसीसी भौतिकवाद अपने युग का वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण था। भूतद्रव्य की स्वगति के सिद्धांत की पुष्टि (चाहे सीमित यांत्रिक रूप में ही सही) इस दर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। फ़्रांसीसी भौतिकवादियों ने समाज-विज्ञान में निम्नलिखित सिद्धांत पेश किया: मनुष्य अपनी परिस्थितियों के अनुसार बदलता है। मार्क्स और एंगेल्स ने समाजवादी सिद्धांतों

के बाद के विकास के लिए इस सिद्धांत के महत्व पर ज़ोर दिया।

इसके अलावा, फ़्रांसीसी भौतिकवाद बुर्जुआ प्रबोधन का दर्शन है, सामंतवाद के विरुद्ध संघर्षरत बुर्जुआ वर्ग के हितों, आवश्यकताओं और स्थिति को प्रतिबिंबित करनेवाली बुर्जुआ विचारधारा है। फ्रांसीसी भौतिकवाद के ये लक्षण निस्संदेह उसकी मूल दार्शनिक अंतर्वस्तु से जुड़े हुए हैं; वे उसकी विशेष अभिव्यक्तियां हैं। लेकिन इन लक्षणों को उस ऐतिहासिक युग की सामाजिक चेतना में सामाजिक सत्ता के एक वस्तुगत (विशेष परिस्थिति में स्वतःस्फूर्त भी) प्रतिबिंब के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि अध्ययन के परिणाम के रूप में।

अतः दार्शनिक सिद्धांत की अंतर्वस्तु के रूप में प्रतिबिंबन को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है: विशिष्ट यथार्थ के अध्ययन के रूप में, यानी निश्चित आत्मगत कार्यकलाप के रूप में, तथा सामाजिक सत्ता के वस्तुगत अवबोधन के रूप में, एक ऐसी समझ के रूप में, जो हमेशा और सर्वत्र संज्ञानात्मक प्रक्रिया नहीं होती। बेशक, प्रति-बिंबक चेतना और प्रतिबिंबक अध्ययन को हमेशा हीं पूर्णतः एक दूसरे के मुक़ाबले में नहीं रखा जाना चाहिए। लेकिन हमें विलोम भ्रम में भी नहीं पड़ना चाहिए: सामाजिक सत्ता पर सामाजिक चेतना की वस्तुगत निर्भरता को नज़रअंदाज़ करते हुए दार्शनिक सिद्धांतों की अंतर्वस्तु को मात्र अध्ययन का परिणाम नहीं माना जाना चाहिए।

फ़्रांसीसी भौतिकवाद के विचारधारात्मक कार्य का वर्णन करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने ज़ोर दिया कि "होलबाख़ का सिद्धांत उस समय फ़्रांस में विकसित हो रहे बुर्जुआ वर्ग के बारे में ऐतिहासिक रूप से तर्कसंगत दार्शनिक भ्रम है, जिसकी शोषण की ललक को तब भी पुराने सामंती बंधनों से मुक्त संसर्ग की परिस्थितियों में व्यक्तियों के पूर्ण विकास की ललक के रूप में लिया जा सकता था" (1,5,410)। स्पष्टतः फ़्रांसीसी भौतिकवादी अपने सिद्धांत की इस सामाजिक अंतर्वस्तु के प्रति सचेत नहीं थे, वैसे ही जैसे कि सामंती प्रणाली तथा विचारधारा के प्रति अपने पूर्ण विद्वेष के बावजूद वे अपने को बुर्जुआ वर्ग के सिद्धांत-कार नहीं मानते थे। मार्क्स और एंगेल्स ने फ़्रांसीसी भौतिकवादियों की विचारधारा के ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील स्वरूप को दिखाया और लिखा: "बुर्जुआ वर्ग की दृष्टि से मुक्ति यानी प्रतिद्वंद्विता बेशक

१८वीं सदी के लिए व्यक्तियों को अधिक स्वतंत्र विकास हेतु एक नया कार्य-क्षेत्र प्रदान करने का एकमात्र संभव तरीक़ा थी। इस बुर्जुआ व्यवहार के अनुरूप चेतना की, सभी व्यक्तियों के बीच आम पारस्परिक संबंध के रूप में परस्पर-शोषण की चेतना की सैद्धांतिक घोषणा भी आगे का साहसी तथा खुला क़दम थी। यह एक प्रकार का **प्रबोधन** था, जिसने राजनीतिक, पितृसत्तात्मक, धार्मिक और भावुक अलंकरण का अर्थ प्रकट किया, जो शोषण के तत्कालीन रूप के अनुरूप था तथा जिसे ख़ास तौर से निरंकुश राजतंत्र के सिद्धांतकारों ने सुव्यवस्थित बनाया था" (1,5,410) ।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या दर्शन को अध्ययन के विशिष्ट रूप तथा सामाजिक चेतना के मौलिक रूप की एकता अर्थात् विचारधारा बनाती है। मार्क्सवाद ने दर्शन के इतिहास के नये, **समाजवैज्ञानिक आयाम** की खोज की, जो दर्शन के विकास की गुणात्मक विशिष्टता को प्रदर्शित करता है। इतिहास की भौतिकवादी समझ दर्शन के इतिहास के अध्ययन की वैज्ञानिक विधि का आधार है। इसी पर दर्शन की पक्ष-धरता, सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया में दर्शन की भूमिका तथा दार्शनिक सिद्धांतों की वर्गीय जड़ों से सम्बन्धित शिक्षा आधारित है।

दर्शन के इतिहास का विज्ञान दर्शन के **विकास** का अध्ययन करता है। यदि हम उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करें, तो यह परिभाषा सतही कदापि नहीं लगेगी। ठीक-ठीक कहें, तो इसे केवल मार्क्सवादी ही मंज़ूर करते हैं, जबकि मार्क्सवाद के विरोधी इस बात में लगभग एकमत हैं कि दर्शन का इतिहास तो है, पर विकास नहीं है। हमने पहले ही दर्शन के इतिहास की विशिष्टता पर ज़ोर दिया था: यह दर्शन की प्रणालियों के बीच विभेदीकरण, ध्रुवीकरण की तथा भौतिकवाद और प्रत्ययवाद के बीच संघर्ष की प्रक्रिया है, एक ऐसा संघर्ष, जिसके परिणामस्वरूप द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के पूर्वाधार निर्मित होते हैं। दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास विविध दर्शनों की विचारधारात्मक प्रवृत्ति को नज़रअंदाज़ नहीं करता और इस तथ्य को स्थायी रूप से ध्यान में रखता है कि दर्शन के विकास के दौरान पूर्ववर्ती ऐतिहासिक अवस्थाओं में पीछे ले जानेवाले उलट-फेर निरंतर होते रहते हैं। यह प्रतिगामी पहलू १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध और २०वीं सदी के प्रत्ययवादी दर्शन पर हावी

था, जब अंतिम विश्लेषण में प्रत्येक नया सिद्धांत उन सिद्धांतों को पुनरुज्जीवित करता था, जिन्हें विगत में निरूपित और बाद में अस्वीकृत कर दिया गया था। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि आज बुर्जुआ दर्शन विचार-विमर्श करने योग्य कोई समस्याएं पेश नहीं करता। पुरानी समस्याओं का पुनरुज्जीवन दर्शन के विकास का एक विशिष्ट रूप है, बशर्ते यह नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता हो तथा नवीनतम वैज्ञानिक उपलब्धियों को ध्यान में रखता हो। समकालीन प्रत्ययवाद के संकट की किसी भी सरलीकृत व्याख्या का विरोध करते हुए सुप्रसिद्ध सोवियत दार्शनिक प० फ़ेदोसेयेव ठीक ही कहते हैं कि "कुछ बुर्जुआ दार्शनिक आकारगत तर्कशास्त्र के क्षेत्र में फलप्रद ढंग से काम कर रहे हैं। इस क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों की उपेक्षा करना अनुचित होगा; इसमें विद्यमान सभी मूल्यवान चीज़ों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए" (32,132)। इसके साथ ही, इस चीज़ पर दृढ़तापूर्वक ज़ोर दिया जाना चाहिए कि केवल मार्क्सवाद की स्थापना के साथ ही युग-युगों की उन भ्रांतियों से मुक्त दर्शन की एक मूलतः भिन्न क़िस्म का जन्म हुआ, जिन्हें आधुनिक प्रत्यय-वादी दर्शन ठीक करने में असमर्थ है। मार्क्सवादी दर्शन सारे वैज्ञानिक ज्ञान, ऐतिहासिक अनुभव तथा व्यवहार से अभिन्न रूप से संबद्ध एक विकासमान प्रणाली है। मार्क्सवाद ने अदार्शनिक अध्ययन तथा व्यवहार के दर्शन के असंगत विरोध पर पूरी तरह क़ाबू पा लिया है। द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद एक ऐसा वैज्ञानिक दार्शनिक दृष्टिकोण है, जो न केवल विश्व की व्याख्या प्रस्तुत करता है, बल्कि उसे बदलने का तरीक़ा भी दिखाता है।

दर्शन के **विकास** के रूप में ऐतिहासिक-दार्शनिक विज्ञान के विषय की परिभाषा करते हुए हमें तार्किक ज़ोर को विकास की प्रक्रिया से हटाकर विकास के **विषय** पर विचार करना चाहिए। **दर्शन** के विकास का क्या अर्थ है? यह प्रश्न ज्ञान के दूसरे रूपों से दर्शन के मूलभूत अंतर के कारण उचित है। यह सही है कि वे विज्ञान भी, जिनके साथ यहां दर्शन की तुलना की जा रही है, एक दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। जीवविज्ञान गणितशास्त्र से मूलतः भिन्न है। सामाजिक विज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान ज्ञान के दो विशिष्ट क्षेत्र हैं। फिर भी दर्शन,

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, अन्य सभी विज्ञानों में तथा फलतः उनके लिए सामान्य चीज़ से भी मूलतः भिन्न है। वैज्ञानिक द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दर्शन सहित दर्शन का वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली में अपना ही एक स्थान है। यही चीज़ **दर्शन** के विकास के विशिष्ट मार्ग के बारे में बात करने का आधार प्रदान करती है।

दैनंदिन अनुभव से प्राप्त ज्ञान के विपरीत दर्शन कई शताब्दियों तक **सैद्धांतिक** ज्ञान के रूप में उभरा तथा विद्यमान रहा। इस अविभेदित सैद्धांतिक ज्ञान में ऐसे तत्व निहित थे, जो बाद में दर्शन से पृथक् हो गये तथा विज्ञानों के स्वतंत्र क्षेत्र बन गये। लेकिन यह बात कि विज्ञान दर्शन से उत्पन्न होते हैं, केवल कुछ मूलभूत विज्ञानों के बारे में ही सही है। जहां तक अधिकांश आधुनिक विज्ञानों का संबंध है, उनका जन्म दर्शन से पृथक् हुए मूलभूत विज्ञानों के विकास, श्रम के बढ़ते विभाजन, वैज्ञानिक तथा टेक्नोलाजिकल प्रगति, सामाजिक-आर्थिक विकास, आदि के परिणामस्वरूप हुआ है। दर्शन तथा विशेष विज्ञानों के बीच सीमानिर्धारण ने वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली में दर्शन के स्थान को बदल दिया। इसने दार्शनिक अध्ययन के विषय को भी बदल दिया; इसने वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टिकोण के विकास के लिए आधारशिला रखी। ये सभी प्रक्रियाएं दर्शन की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ दर्शन के विकास को एक विशेष गुण प्रदान करते हैं।

विज्ञानों के इतिहास का अध्ययन दिखाता है कि नये विज्ञानों के उद्भव का अर्थ अज्ञात नियमों की खोज है; अतः विज्ञानों की विविधता मूलतः भिन्न नियमों की विविधता की द्योतक है। नियमों की यह विविधता विज्ञानों और ख़ास तौर से दर्शन के सामने सार्विक नियमों की अवधारणा में व्यक्त विविधता की एकता का प्रश्न प्रस्तुतु करती है।

विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अन्वेषित नियम परिघटनाओं के बीच मूल संबंधों तथा उनकी सापेक्षतः अविरत और पुनरावर्तित होनेवाली परस्पर-निर्भरता को निर्धारित करते हैं। वैज्ञानिक संज्ञान की प्रगति केवल साथ-साथ होनेवाली परिघटनाओं के संबंधों का ही नहीं, बल्कि वर्तमान तथा भावी प्रक्रियाओं के बीच संबंधों का भी मूल्यांकन करना संभव बनाती है। विज्ञान विकास की प्रक्रिया और इसके नियमों की अधिकाधिक जांच करता है। इस प्रकार, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का

विषय – प्रकृति, समाज और संज्ञान के विकास के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य नियम – वैज्ञानिक संज्ञान के इतिहास के सारांशीकरण और संप्रत्ययीकरण के रूप में ऐतिहासिक रूप से निर्मित होता है।

स्पष्टत:, विकास के सार्विक नियमों के प्रश्न के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण विकास के उन विशेष नियमों के महत्व को ज़रा भी नहीं घटाता, जिनका खगोलविज्ञान, भूविज्ञान, जीवविज्ञान और अन्य विज्ञान अध्ययन करते हैं। मार्क्सवादी दर्शन मूलत: भिन्न नियमों की एकता, उनके आम द्वंद्वात्मक स्वरूप का अध्ययन करता है। यह न केवल भौतिक या आर्थिक नियमों की जांच के दौरान, बल्कि उस समय भी स्पष्ट हो जाता है, जब विश्लेषण को सामाजिक विकास के अत्यधिक सामान्य नियमों पर लागू किया जाता है। इसे संज्ञान के अत्यधिक सामान्य नियमों के विशिष्ट लक्षणों का वर्णन करते समय भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

अत:, सरल लगनेवाले सूत्र – "दर्शन का विकास" – की व्याख्या करने का पहला प्रयास भी कोई कम महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं पेश करता, क्योंकि समस्या दर्शन में विकास के विशिष्ट स्वरूप और विकास के विषय यानी स्वयं दर्शन को निर्धारित करने की है। बेशक, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि मूलत: भिन्न दर्शनों का अस्तित्व है। विकास की अवधारणा को दर्शन की दो मूलभूत प्रवृत्तियों, भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद पर, भिन्न ढंग से लागू किया जाना चाहिए। अत: "एक और अनेक की" परंपरागत समस्या दर्शन में भी (विरोधाभास के रूप में) उठती है। दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता दर्शन की एकता को निराकृत नहीं करती, चाहे यह सापेक्ष और अंतर्विरोधी ही क्यों न हो। परंतु इस एकता को विकास की एक प्रक्रिया के रूप में तथा ख़ास तौर से इसके एक परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए। एक ओर, अदार्शनिक अध्ययन से तथा दूसरी ओर, व्यावहारिक कार्य से दर्शन का भेद दिखानेवाले दृष्टिकोण पर क़ाबू पाना निस्संदेह दार्शनिक ज्ञान की एकता प्राप्त करने में सहायता करता है। चूंकि दर्शन का अनेक परस्पर-अपवर्जक सिद्धांतों में विभाजन गहन सामाजिक-आर्थिक कारणों का परिणाम है, इसलिए वर्गहीन कम्युनिस्ट समाज में संक्रमण दार्शनिक ज्ञान की एकता के निर्माण में निश्चय ही एक अत्यंत महत्वपूर्ण अवस्था

होगा। बेशक, इससे दर्शन में वाद-विवाद का अंत नहीं हो जायेगा, पर यह उसके मुख्य स्वरूप को मूलतः बदल देगा।

चूंकि हेगेल आध्यात्मिक को तात्विक बनाते हैं, इसलिए वह दर्शन के इतिहास को प्रत्ययवाद के विकास के रूप में देखते हैं। वह लिखते हैं, "कोई भी दर्शन मूलतः प्रत्ययवाद है अथवा कम से कम उसका सिद्धांत के रूप में प्रत्ययवाद होता है और इस स्थिति में प्रश्न सिर्फ़ यह है कि इसे वास्तव में कितना विकसित किया गया है" (64,*3*, 171)। दर्शन के विकास की इस प्रत्ययवादी विकृति को अस्वीकार करते हुए दूसरी चरम सीमा तक नहीं जाना चाहिए। दर्शन का इतिहास मात्र भौतिकवाद का इतिहास नहीं है।

दो मुख्य दार्शनिक प्रवृत्तियों के रूप में भौतिकवाद और प्रत्ययवाद ऐसे विभिन्न सिद्धांतों से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं, जो अपनी बारी में मौलिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया के अधीन होते हैं। व्लादीमिर इल्यीच लेनिन ने दिखाया कि बर्कले और दिदेरो लॉक के संवेदनवाद के अनुयायी थे – बर्कले प्रत्ययवादी दिशा में और दिदेरो भौतिकवादी दिशा में। इस तरह, भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद का विरोध उन सिद्धांतों में भी विद्यमान है, जिन्हें न तो पूर्णतः प्रत्ययवादी, न ही पूर्णतः भौतिकवादी कहा जा सकता है।

दर्शन के इतिहास के किसी भी अध्ययन की मुख्य प्रवृत्ति भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच संघर्ष का विश्लेषण है। स्वभावतः इस संघर्ष का स्वरूप, अंतर्वस्तु व परिणाम परिवर्तनहीन नहीं हैं। उदाहरणार्थ, एंगेल्स के शब्दों में, प्राचीन भौतिकवाद "मन और भूतद्रव्य के बीच संबंध को स्पष्ट करने में असमर्थ था। लेकिन इस प्रश्न के बारे में साफ़ समझ प्राप्त करने के उद्देश्य से पहले एक ऐसी आत्मा की कल्पना की गयी, जिसे शरीर से अलग किया जा सकता है, फिर इस आत्मा की अनश्वरता की घोषणा की गयी और अंत में एकेश्वरवाद की स्थापना हो गयी। अतः पुराने भौतिकवाद का प्रत्ययवाद द्वारा निषेध हो गया" (8,165-66)। १७वीं और १८वीं सदियों के भौतिकवादी दर्शन ने देकार्त, लीबनिज़, मालब्रांश और उनके अनुयायियों की प्रत्ययवादी अधिभूतवादी प्रणालियों पर प्रभावशाली विजय प्राप्त की। पर बाद में, क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद ने १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादी अधि-

भूतवाद को पुनरुज्जीवित कर दिया। फ़ायरबाख़ के नृवैज्ञानिक भौतिकवाद ने हेगेल तथा उनके पूर्ववर्तियों के प्रत्ययवाद का निषेध कर दिया। क्लासिकीय जर्मन दर्शन भौतिकवाद की विजय के साथ अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा। लेकिन फ़ायरबाख़ का भौतिकवाद सीमित था : प्रत्ययवाद का उसका निषेध अमूर्त तथा अधिभूतवादी स्वरूप का था। इस बीच, क्लासिकीय जर्मन प्रत्ययवाद ने वास्तविक प्रश्न उठाये और उनके समाधान से वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टिकोण का पथ प्रशस्त हुआ।

जैसा कि एंगेल्स ने इंगित किया, एक ओर, प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति और दूसरी ओर, उत्पादक शक्तियों के विकास ने वैज्ञानिक दर्शन की स्थापना में योगदान किया। "भौतिकवादियों के बीच यह प्रत्यक्षत: सामने था, पर प्रत्ययवादी प्रणालियों ने भी अपने को अधिकाधिक भौतिकवादी अंतर्वस्तु से पूरित किया और आत्मा तथा भूतद्रव्य के बीच प्रतिस्थापना का समाधान सर्वेश्वरवादी ढंग से करने का प्रयास किया। अंतत: हेगेलीय प्रणाली विधि और अंतर्वस्तु में मात्र प्रत्ययवादी ढंग से सिर के बल खड़ा भौतिकवाद है" (3,*3*,348)।

वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण की स्थापना और इसके ज़रिये शब्द के पुराने, परंपरागत अर्थ में दर्शन का निषेध बुर्जुआ विचारधारात्मक स्थिति से नहीं हो सकता था। अदार्शनिक कार्य (सैद्धांतिक और व्यावहारिक) के मुक़ाबले दार्शनिक चिंतन को खड़ा करने का अधिभूतवादी प्रयास तथा "अपक्षधरता" का सिद्धांत, जिसे बुर्जुआ चेतना दर्शन का विशिष्ट लक्षण बताती है, दर्शन की किसी भी भौतिकवादी व्याख्या को असंभव बनाते हैं। बुर्जुआ विचारकों का भौतिकवाद अनिवार्यत: अनुध्यानशील और अनिश्चित स्वरूप का है। बुर्जुआ दर्शन में द्वंद्ववाद केवल प्रत्ययवादी ही हो सकता है।

मार्क्सवाद के संस्थापकों की अपूर्व मेधा सबसे पहले इस बात में है कि उन्होंने सर्वहारा पक्षधरता की आवश्यकता को सैद्धांतिक रूप से समझा तथा उसे वैज्ञानिक रूप से पुष्ट किया। एक मौलिक नयी स्थिति से उन्होंने दर्शन के संपूर्ण इतिहास तथा संपूर्ण सामाजिक विकास की नयी, क्रांतिकारी आलोचनात्मक व्याख्या दी और द्वंद्वात्मक व ऐतिहासिक भौतिकवाद का सृजन किया तथा उसके ज़रिये दर्शन के इतिहास में एक नये युग का शुभारंभ किया।

मार्क्स ने कहा कि मानव की शरीर-रचना वानर की शरीर-रचना की कुंजी है। इसी ढंग से हम कह सकते हैं कि चूंकि द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद उन समस्याओं को हल करता है, जो पहले दर्शन के लिए विकट बनी हुई थीं, यह उसकी अंतर्वस्तु तथा अर्थ की एक नयी समझ प्रस्तुत करता है। मिसाल के लिए, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद प्रवर्गों के विकास के अपने सिद्धांत में अन्तर्जात प्रत्ययों, चिंतन के प्रागनुभविक रूपों की समस्याओं का वैज्ञानिक दार्शनिक समाधान पेश करता है। यह सिद्धांत उन समस्याओं को महज़ दूर नहीं करता (उदाहरणार्थ, नव-प्रत्यक्षवाद उनसे एकदम इन्कार करता है), बल्कि उनकी वास्तविक ज्ञानमीमांसीय अंतर्वस्तु को प्रकट भी करता है। दर्शन के मार्क्सवादी-लेनिनवादी इतिहास का सबसे पहला कार्यभार भौतिकवाद के ऐतिहासिक रूपो, द्वंद्ववाद के ऐतिहासिक रूपों तथा उन प्रवर्गों का अध्ययन करना है, जो भौतिकवाद और द्वंद्ववाद को पर्याप्त अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। फिर भी, किसी सरलीकृत व्याख्या के ख़िलाफ़ चेता देना आवश्यक है। मार्क्स के शब्दों का यह अर्थ नहीं है कि वानर का विकास सारतः मानव का विकास है क्योंकि अंतिम विश्लेषण में उसके फलस्वरूप ही मनुष्य की उत्पत्ति हुई। अपनी अन्तर्निहित **ठोस ऐतिहासिकता** के कारण विकास की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी व्याख्या उद्देश्यवाद को अस्वीकार करती है। विकास की दिशा सामान्य विकास की समग्र प्रक्रिया का गुणधर्म नहीं है: ऐतिहासिक रूप से निश्चित चक्र, युग, आदि के भीतर विकास की प्रत्येक अवस्था की अपनी मूलभूत विशेषताएं और अपनी यथोचित दिशा होती हैं।

कार्ल मार्क्स ने उन निम्न-बुर्जुआ समाजवादियों का विरोध किया, जिन्होंने समाज के समाजवादी पुनर्निर्माण के विचार को वैज्ञानिक ढंग से पुष्ट करने में असफल होने पर घोषणा की कि लोगों ने हमेशा ही समाजवादी प्रणाली, सामाजिक न्याय, समानता, आदि क़ायम करने की कामना की है। इस संबंध में मार्क्स ने कहा कि "समानता के लिए प्रयास हमारी सदी की विशेषता है। लेकिन आज यह कहने का अर्थ कि बिल्कुल भिन्न आवश्यकताओं, उत्पादन के साधनों, आदि के साथ पूर्ववर्ती सदियों ने बड़ी दूरदर्शिता से समानता के लिए काम किया, सबसे पहले हमारी सदी के लोगों तथा साधनों को पूर्ववर्ती सदियों के

लोगों तथा साधनों के स्थान पर रखना और उस ऐतिहासिक गति को ग़लत ढंग से समझना है, जिसके द्वारा अनुक्रमिक पीढ़ियों ने अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों द्वारा प्राप्त परिणामों को रूपांतरित किया" (1,6,173)।

मार्क्स की इस प्रस्थापना को, जो अध्ययन-विधि निर्धारित करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, दर्शन के इतिहास पर भी लागू किया जाना चाहिए। यहां बात ऐतिहासिकता के सिद्धांत तथा इसके सही प्रयोग की है, जो सर्वहारा के कार्यभारों को उत्पादन संबंधों की विभिन्न प्रणालियों के अंतर्गत रहे हुए भूतपूर्व शोषित वर्गों के मुक्ति-आंदोलन पर आरोपित करने की संभावना को समाप्त कर देता है। इसी तरह, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के किसी पूर्ववर्ती सिद्धांत पर उन गुणों को लागू करना भी ग़लत है, जो केवल इसी वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण की विशेषताएं हैं।

द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद दर्शन के वैज्ञानिक इतिहास का वह सैद्धांतिक और अध्ययन-विधि संबंधी आधार है, जो दार्शनिक ज्ञान के विकास का पता लगाते हुए वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टिकोण की ऐतिहासिक आवश्यकता को प्रकट करता है। लेकिन यह कहना—जैसा कि दुर्भाग्य से यह कभी-कभी होता है—कि दर्शन का इतिहास द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद का इतिहास है, ऐतिहासिकता के सिद्धांत से स्पष्टतः विचलन होगा। इस सूत्र को मार्क्सवाद के पहले के अधिकांश सिद्धांतों—मुख्यतः प्रत्ययवादी और साथ ही पांडित्यवादी और रहस्यवादी भी—पर लागू करना उनका पक्ष-समर्थन करने के समान होगा।

दर्शन का अस्तित्ववादी इतिहास वस्तुतः अस्तित्ववादी दर्शन का इतिहास है। दर्शन का प्रत्यक्षवादी इतिहास वैसे ही आत्मगत है: यह प्रत्यक्षवाद के निकट से जुड़े इंद्रियानुभविक और आत्मगत रूप से अज्ञेय-वादी विचारों से असहमत विगत के सभी चिंतकों की अवमानना करता है। मार्क्सवादी दर्शन सभी मार्क्सवाद-पूर्व और अमार्क्सवादी दर्शनों से सिद्धांततः भिन्न है। दर्शन का मार्क्सवादी-लेनिनवादी इतिहास दर्शन के इतिहास की पूर्ववर्ती और वर्तमान अवधारणाओं का विज्ञान पर आधारित, द्वंद्वात्मक निषेध है; यह उनके द्वारा प्रस्तुत समस्याओं और समाधानों का आलोचनात्मक ढंग से विवेचन करता है। दर्शन

के इतिहास की समझ जितनी ही विशद, गहन और वैज्ञानिक होगी, उतना ही यह स्पष्ट होगा कि दार्शनिक ज्ञान के विकास का वैज्ञानिक सिद्धांत एकमात्र द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर ही संभव है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन के इतिहास का हेगेलीय दर्शन

दर्शन के इतिहास के प्रति अर्थात अपने विगत तथा इस विगत के सुव्यवस्थित अध्ययन के प्रति दर्शन का रुख़ क्या है? अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए अपने पूर्ववर्तियों के सिद्धांतों का विश्लेषण करने-वाले पहले दार्शनिकों – प्लेटो और अरस्तू के समक्ष यह प्रश्न नहीं प्रस्तुत हुआ। बाद में, दर्शन के इतिहास का अध्ययन अधिकांशतः संशयवा-दियों द्वारा किया गया, जिनके विचार में सच्चा दर्शन उसका संशय-वादी निषेध है।

इमैनुएल कांट ने पूर्ववर्ती दर्शन में समान रूप से ग़लत मात्र दो प्रवृत्तियों को देखा: जड़सूत्रवादी अधिभूतवाद तथा इसका निरर्थक निषेध – संशयवाद। इसी तरह, दर्शन के इतिहास के बारे में फ़िख़्ते और शेलिंग के विचार भी मूलतः निषेधात्मक थे। यह सही है कि उनके जीवन-काल में दर्शन के इतिहास पर पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, लेकिन उनके लेखक प्रख्यात दार्शनिक नहीं थे। अतः हेगेल विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास का अध्ययन करनेवाले पहले व्यक्ति थे, परंतु उन्होंने उसे अधिभूतवादी अर्थ प्रदान किया। हेगेल के अनुसार, दर्शन का इतिहास विकास का एक प्रामाणिक रूप है और इसका सिद्धांत उनके दर्शन की महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु बनाता है। इसका अर्थ यह है कि हेगेल ने मात्र दर्शन के इतिहास का अध्ययन ही नहीं किया, उन्होंने विभिन्न दर्शनों के इतिहास की व्याख्या दार्शनिक विकास की नियमित प्रक्रिया के रूप में की, जिसकी विभिन्न अवस्थाएं और रूप आवश्यक रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

हेगेल ने विकास के जिस सिद्धांत को दर्शन के विगत के अध्ययन पर लागू किया, उसका आधार ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से सत्य की द्वंद्वात्मक व्याख्या में निहित है। एंगेल्स के अनुसार, "हेगेल के विवेचन

में सत्य, जिसका संज्ञान ही दर्शन का मुख्य विषय है, ऐसे बने-बनाये जड़सूत्रों का संकलन न था, जिन्हें एक बार उनकी खोज हो जाने पर बस रट लेना काफ़ी था। सत्य अब संज्ञान की ही प्रक्रिया में, विज्ञान के लंबे ऐतिहासिक विकासक्रम में निहित था, जो ज्ञान के निचले स्तरों से निरंतर ऊपर उठता जाता है" (3,*3*,339)।

दर्शन के विगत के प्रति यह मौलिक रूप से परिवर्तित रुख एक ऐसा आलोचनात्मक दृष्टिकोण है, जो उसके बारे में न तो हर चीज़ की प्रशंसा करता है, न ही हर चीज़ को अस्वीकार करता है। यह विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों को दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने के अलग-थलग और स्वतंत्र प्रयासों के रूप में नहीं, बल्कि अंतर्विरोधी विकास के क्रम में आंतरिक रूप से एक दूसरे से जुड़ी कड़ियों के रूप में मानता है, एक ऐसा विकास, जो जैव जीवन के विकास की भांति "संघर्षहीन, शांत प्रक्रिया नहीं, बल्कि स्वयं अपने ख़िलाफ़ कठिन, अनचाहा कार्य है" (63,*1*,152)।

हेगेल की दृष्टि से, दर्शन शब्द के सही अर्थ में विज्ञान हो सकता है और उसे निश्चय होना चाहिए। विज्ञान का इतिहास विकास के नैरंतर्य यानी प्रगति की पूर्वकल्पना करता है। यह चीज़ दर्शन के इतिहास के बारे में भी सही है। दार्शनिक विकास की द्वंद्वात्मक अवधारणा का निर्माण करते हुए हेगेल नैरंतर्य का वर्णन ज्ञान के मात्र संचय के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी अंतर्विरोधी प्रक्रिया के रूप में करते हैं, जो निषेध तथा निषेध के निषेध से अपनी गति प्राप्त करती है। नैरंतर्य का अर्थ विगत के साथ सहमति, वर्तमान में विगत की स्वीकृति नहीं है। हेगेल परम्परा की अवधारणा की पुनर्व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि यह "मात्र वह गृहिणी नहीं है, जो अपनी धरोहर की ठीक-ठीक रक्षा करती है और इस तरह उसे भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखती है... परंपरा निश्चल मूर्ति नहीं है: यह जीवंत है और शक्तिशाली धारा की भांति अपने उद्‌गम से जितनी ही आगे बढ़ती जाती है, उतनी ही व्यापक बनती जाती है" (64,*13*,13)। अधिभूतवादी विवेक, जो विलोमों की एकता को स्वीकार नहीं करता, विचारधारात्मक विरासत का या तो बिल्कुल अनुकरण करता है या उसे बिल्कुल अस्वीकार करता है। लेकिन विचारधारात्मक विरासत

परस्पर-विरोधी है न कि समरूप। यह "हर अगली पीढ़ी की आत्मा है, किसी परिचित चीज़ के रूप में उसका आत्मिक सारतत्व, उसके सिद्धांत, पूर्वाग्रह और समृद्धि है; परन्तु वह पीढ़ी, जिसने इस विरासत को प्राप्त किया है, इसे आत्मा द्वारा रूपांतरित मूलभूत सामग्री में बदल देती है" (64,*13*,14)।

अधिभूतवादियों के विचार में, दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता उनकी एकता को अपवर्जित करती है। इसलिए वे, हेगेल के शब्दों में, दर्शन के इतिहास को मात्र "विचारों, भ्रमों और बौद्धिक खेलों की शृंखला" के रूप में देखते हैं (64,*13*,44)। यह सतही दृष्टिकोण मानव-इतिहास के अध्ययनों पर भी हावी है, जो "पहली नज़र में संयोगवश घटी घटनाओं का अनुक्रम प्रतीत होता है"(64,*13*,17)। पर विश्व-इतिहास ऐसा नहीं है: यह अवश्यंभावी अग्रगति है। दर्शन के इतिहास के बारे में तो यह और भी सही है। हेगेल संभवतः सभी अन्य ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से दर्शन के विकास का वैषम्य दर्शाते हैं। वह लिखते हैं, "इतिहास की निकट से जांच हमें दिखाती है कि मनुष्यों की कार्रवाइयां उनकी आवश्यकताओं, मनोवेगों, दिलचस्पियों, उनके चरित्र और प्रतिभा द्वारा दशानुकूलित होती हैं, और इस रूप में कि केवल ये आवश्यकताएं, मनोवेग, दिलचस्पियां ही इस नाटक की प्रेरक शक्तियां हैं और केवल ये ही मुख्य भूमिका अदा करती हैं" (63,*1*,79)। दर्शन में एक भिन्न तसवीर प्रस्तुत होती है, जहां हेगेल के अनुसार, सत्य की तीव्र लालसा अपने लिए परायी किसी भी दिलचस्पी और मनोवेग को हटा देती है।

दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता, उनकी सतह पर दिखायी देने वाली असंगति, दार्शनिक मतों, प्रवृत्तियों तथा धाराओं का संघर्ष – इन सभी तथ्यों को संशयवादी दर्शन के इतिहास की अपनी व्याख्या में तर्कों के रूप में इस्तेमाल करते हैं। हेगेल उनकी व्याख्या एक बिल्कुल नये ढंग से यानी एक ओर, द्वंद्वात्मक और दूसरी ओर, तर्कबुद्धिवादी ढंग से करते हैं। विविधता का अस्तित्व, यदि वह महत्वपूर्ण है तो (और दार्शनिक प्रणालियों की तुलना में वस्तुतः यही ध्यान में रखा जाता है) तादात्म्य के बाहर नहीं है; विविधता तादात्म्य में अंतर्निहित है। अतः मूलतः भिन्न दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता उनकी

एकता यानी उनके आवश्यक अंतर्संबंधों की पूर्वकल्पना करती है। हेगेल विभिन्न दर्शनों पर सभी बहसों को यह कहकर अस्वीकार करते हैं कि वे निरर्थक तथा खोखली बातें हैं, अमूर्त विचारों में उलझी हुई हैं और इस बात को नज़रअंदाज़ करती हैं कि "विविधता प्रवाहमान है, इसे अपने सारतत्व के अनुसार गतिमान, विकासमान अस्थायी लक्षण के रूप में माना जाना चाहिए" (64,*13*,47) ।

अत: दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता अनिवार्य है। अमूर्त से मूर्त की ओर गति, जो दर्शन के इतिहास का सार है, एकता की परस्पर-विरोधी परिभाषाओं की पूर्वकल्पना करती है। इनमें से प्रत्येक परिभाषा अमूर्त, एकांगी और इस वजह से असत्य है; सत्य उनकी एकता है। दर्शन का विकास दार्शनिक ज्ञान की एकता की संरचना है, जिसके द्वारा दार्शनिक वक्तव्यों की रंगबिरंगी बेसुरी विभिन्नता समाप्त हो जाती है। हेगेल के अनुसार, विभिन्न दर्शन "आवश्यक रूप से एक विकासमान दर्शन हैं, ईश्वर का उस रूप में प्रकटीकरण है, जिस रूप में वह स्वयं को जानता है। जहां कहीं भी कई दार्शनिक सिद्धांत एकसाथ विद्यमान हैं, वे अपने मूल में निहित एक ही समष्टि के विभिन्न पहलू हैं, पर उनके एकांगीपन के कारण हम उन्हें एक दूसरे का खंडन करते हुए देखते हैं" (64,*15*,686) ।

हेगेल के अनुसार, दार्शनिक प्रणालियों के बीच अंतर वैयक्तिक दार्शनिक मेधा को नहीं प्रकट करते: यह मेधा परम की समझ तक ऊपर उठती है और उसमें विलीन हो जाती है। इन अंतरों की व्याख्या सत्तामीमांसीय ढंग से की जानी चाहिए, वे "स्वयं प्रत्यय के मूल अंतर हैं, जिसका अस्तित्व केवल उनमें ही है... प्रत्येक प्रणाली एक परिभाषा की सीमा में होती है, लेकिन बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती और अंतर हमेशा ही एक दूसरे के बाहर नहीं रहते। इन परिभाषाओं की नियति अनिवार्यत: पूरी होनी चाहिए, जिसका अर्थ वस्तुत: यह है कि वे एकीकृत तथा संपूर्ण के संघटकों में परिवर्तित हो जाती हैं।" (64,*13*,48)। हेगेल अपने दर्शन को विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों में प्रतिबिंबित परम की परिभाषाओं की पूर्ण हो चुकी नियति के रूप में देखते हैं। परम प्रत्ययवाद को दर्शन के इतिहास की सर्वोच्च निष्पत्ति के रूप में वर्णित किया जाता है, जो अपने स्वभाव

के अनुसार न केवल प्रारंभ की बल्कि "परम गंतव्य" (64,*13*,48) की पूर्वकल्पना करता है। यह दावा हेगेलीय दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों से उत्पन्न होता है : दर्शन परम आत्मा का आत्म-संज्ञान है, जो अधूरा, अपूर्ण नहीं रहता, क्योंकि यह दिव्य के विचार से मेल नहीं खाता।

लगभग सभी दार्शनिकों ने अपने सिद्धांतों की घोषणा अंतिम दर्शन के रूप में की, जिससे उनका आशय अपनी निजी उपलब्धि से था। उनके विपरीत, हेगेल दर्शन की निष्पत्ति को एक सत्तामीमांसीय प्रक्रिया के रूप में मानते हैं : परम आत्मा अपने सभी अन्यसंक्रामित रूपों पर क़ाबू पा लेती है। "परम आत्म-चेतना के साथ अंतिम आत्म-चेतना का संघर्ष, जो अंतिम आत्म-चेतना को अपने बाहर घटता प्रतीत होता था, अब समाप्त हो रहा है। अंतिम आत्म-चेतना अब अंतिम होना बंद हो गयी है और इसकी वजह से परम आत्म-चेतना ने वह शक्ति प्राप्त कर ली है, जिसका पहले उसमें अभाव था। यह संघर्ष संपूर्ण पूर्ववर्ती विश्व इतिहास में, और ख़ास तौर से दर्शन के इतिहास में, प्रतिबिंबित होता है" (64,*15*,689-90)।

तरुण हेगेलवादी और फ़ायरबाख़ दर्शन के विकास के परिमित स्वरूप को स्वीकार करने के लिए हेगेल की आलोचना करने में सही थे, लेकिन वे इस चीज़ को समझने में असफल रहे थे कि यह सिर्फ़ चिंतक के अतिशयोक्तिपूर्ण दावों से नहीं, बल्कि इतिहास की तर्क-बुद्धिवादी-प्रत्ययवादी व्याख्या की सत्तामीमांसा से उत्पन्न होता है। उन्होंने दर्शन के इतिहास को अपने दर्शन के इतिहास तक सीमित करने के लिए हेगेल की भर्त्सना की। पर हेगेल ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि उनका दर्शन दर्शन के संपूर्ण इतिहास का निचोड़ पेश करता है। जहां उनके पूर्ववर्तियों ने दावा किया कि उनके सिद्धांत कुछ बिल्कुल नयी चीज़ हैं, वहां हेगेल ने केवल यही कहा कि उनकी प्रणाली दर्शन के इतिहास की वास्तविक अंतर्वस्तु को व्यक्त करती है तथा इसकी उपलब्धियों का निचोड़ आलोचनात्मक ढंग से पेश करती है। क्योंकि हरेक नयी प्रणाली दर्शन के पूर्ववर्ती विकास को जारी रखते हुए दार्शनिक ज्ञान की निधि से ज्ञान प्राप्त करती है। अत: "मूलत: जिस ढंग से वह उन्हें (पूर्ववर्ती प्रणालियों को – **ले०**) विकसित करता है," केवल वही अंश नयी प्रणाली के स्रष्टा का होता है (64,*14*,181)।

दर्शन के इतिहास की प्रक्रिया को पूरा करने के लिए अंतिम दर्शन की आवश्यकता के बारे में हेगेल के स्पष्टत: दोषपूर्ण सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए हमें इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए कि हेगेल का सिद्धांत वास्तव में अपने ढंग का अंतिम दर्शन था। वस्तुत: यही चीज़ एंगेल्स के ध्यान में थी : "हेगेल के साथ दर्शन (शब्द के पुराने अर्थ में – **ले०**) की समाप्ति हो जाती है : एक तो इसलिए कि अपनी प्रणाली में उन्होंने उसके संपूर्ण विकास का बड़े ही शानदार ढंग से निचोड़ पेश कर दिया है और दूसरे इसलिए कि उन्होंने हमें प्रणालियों की भूलभुलैयों से बाहर निकालकर विश्व के वास्तविक सकारात्मक संज्ञान का मार्ग दिखाया है, यद्यपि ऐसा उन्होंने अनजाने ही किया " (3,*3*,342)।

अत: दर्शन के विकास की हेगेल की व्याख्या दर्शन तथा दर्शन के इतिहास के बीच अभिन्न संबंध से आगे बढ़ती है। यह संबंध उस संबंध से मूलत: भिन्न होता है, जो उदाहरणार्थ, प्राकृतिक विज्ञानों के विकास में निश्चित स्तर तथा उसके पूर्ववर्ती विकास के बीच होता है। प्राकृतिक विज्ञानों का विकास अध्ययन के नये, अज्ञात विषयों को प्रकट करता है। आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान उन समस्याओं का अध्ययन नहीं करते, जो १७वीं या १८वीं सदियों में ध्यान का केंद्र थीं। वे समस्याएं सामान्यत: हल की जा चुकी हैं और इसलिए अब उनमें अनुसंधानकर्ताओं की कोई दिलचस्पी नहीं है। लेकिन दर्शन की बात और है, जहां पहले हल हो चुकी समस्याएं भी आम तौर से नयी अंतर्वस्तु प्राप्त कर लेती हैं और इस वजह से वे अनुसंधानकर्ताओं के लिए दिलचस्प बन जाती हैं। दर्शन नये विषयों की खोज द्वारा उतना विकसित नहीं होता, जितना कि दर्शन के विकास की पूर्ववर्ती अवस्थाओं में प्रस्तुत समस्याओं को पुनर्जीवित करके, समृद्ध करके, उनकी आलोचनात्मक समीक्षा करके।* यही कारण है कि हेगेल ने लिखा कि "दर्शन

---

* इस संबंध में एंगेल्स की ठोस ऐतिहासिक टिप्पणी का अध्ययन-विधि के लिए बड़ा महत्व है : "यूनानी दर्शन के नाना रूपों में भ्रूण रूप में भावी विश्व-दर्शनों की लगभग सारी क़िस्में विद्यमान थीं।" (8, 395)।

के इतिहास का अध्ययन स्वयं दर्शन का अध्ययन है और यह अन्यथा हो भी नहीं सकता" (64,*13*,43)।

हेगेल के लिए इस प्रश्न का कोई अस्तित्व नहीं है कि वस्तुत: कौन-सा दर्शन अध्ययनाधीन है; दूसरे शब्दों में, दर्शन के इतिहास का अध्ययन किस दार्शनिक सिद्धांत पर ले जाता है। हेगेल के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर स्वत:सिद्ध है, क्योंकि उनके विचार में, इतिहास में वर्णित सिद्धांतों की विविधता एक ही अंगीभूत तथा उत्तरोत्तर विकास-मान समष्टि है। यह "अनेक अवस्थाओं और घटकों से निर्मित एक ही संघटित प्रणाली है, एक समष्टि है" (64,*13*,40)। अत: हेगेल यह दावा करते हैं कि उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रणाली में इस "अवस्थाओं और घटकों की बहुलता" को संश्लेषित किया है, जो परम आत्मा की अवस्थाएं हैं। "हर अवस्था दर्शन की वास्तविक प्रणाली में अपना रूप बनाये रखती है; कुछ भी नहीं खोता, सभी सिद्धांत बने रहते हैं, क्योंकि अंतिम दर्शन अपने सारे पूर्ववर्तियों का परिणाम है" (64,*15*,685)।

लेकिन अगर हेगेल की प्रणाली वास्तव में दर्शन के इतिहास के अध्ययन का परिणाम, उसका निचोड़ है, तो सैद्धांतिक रूप से इस अध्ययन को दर्शन की निश्चित व्याख्या से आगे बढ़ना चाहिए, जो, जैसा कि समझना कठिन नहीं है, कुछ हद तक भावी अध्ययन के नतीजों के ज्ञान की पूर्वापेक्षा करती है। यह स्पष्ट है कि दर्शन के सार का यह पूर्वज्ञान दर्शन के इतिहास के अध्ययन-विशेष का परिणाम नहीं है, भले ही यह अध्ययन इसकी पुष्टि क्यों न करे। अत: यह प्रश्न कि हेगेल की प्रणाली दर्शन के इतिहास के उनके अध्ययन से पहले आती है या दर्शन के इतिहास का अध्ययन उनकी प्रणाली से पहले, अध्ययन के कार्यभार को अतिसरलीकृत और असंभव कर देता है।

यह मानना भोलापन होगा कि हेगेल ने पहले दर्शन के इतिहास का अध्ययन किया और फिर इसका निचोड़ निकाला तथा इसके ज़रिये दर्शन की अपनी प्रणाली प्रस्तुत की। लेकिन इसका उल्टा मानना भी उतना ही भोलापन होगा कि दर्शन की अपनी प्रणाली की स्थापना करने के बाद हेगेल ने उसके प्रवर्गों के अनुक्रम को दर्शन के पूर्ववर्ती विकास पर लागू किया यानी इसकी व्याख्या अपनी प्रणाली की आवश्यक-

ताओं के अनुसार की। हेगेल की जीवनी से पता चलता है कि उन्होंने और ही ढंग से काम किया, जो उनकी प्रणाली के विकास से संबंधित है न कि इसके परिणामों से। हेगेल ने अपनी प्रणाली की रचना स्पिनोज़ा के सिद्धांत की प्रत्ययवादी ढंग से व्याख्या करते हुए तथा कांट, शेलिंग और ख़ास तौर से फ़िख़्ते पर सीधे निर्भर करते हुए की। हेगेल को अपनी प्रणाली की रचना करने में लगभग २० साल लगे और उन्होंने दर्शन के इतिहास का बार-बार अध्ययन किया। दर्शन की अपनी प्रणाली की रचना तथा दर्शन के इतिहास का आलोचनात्मक निचोड़ पेश करना एक ही प्रक्रिया के पहलू थे। जहां तक हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' का संबंध है, तो वे तब लिखे गये, जब प्रणाली पर कार्य पूरा हो चुका था और उसने दर्शन के इतिहास की व्याख्या के आधार का काम किया। यह व्याख्या किसी भी अन्य व्याख्या की भांति अपने पूर्ववर्ती अध्ययन से मूलतः भिन्न थी, जिसके परिणाम पहले से ही नहीं जाने जा सकते थे।

हेगेल का द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद दर्शन के इतिहास का एक प्रतिभाशाली सिद्धांत है, लेकिन यह उसे प्रत्ययवाद के इतिहास तक सीमित करके तोड़ता-मरोड़ता है। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं कि हेगेल ने भौतिकवाद की अपेक्षा की: उन्होंने इसके ख़िलाफ़ संघर्ष किया। पर उन्होंने भौतिकवाद को अधिकांशतः अदार्शनिक सामान्य चेतना माना। उन्होंने दर्शन (यानी प्रत्ययवादी दर्शन) की व्याख्या भौतिकवाद के निषेध के रूप में की, यद्यपि कुछ स्थितियों में उन्होंने भौतिकवादी दर्शन की ऐतिहासिक उपलब्धियों को स्वीकार भी किया। लेकिन अक्सर हेगेल ने भौतिकवादी सिद्धांतों की व्याख्या मूलतः प्रत्ययवादी रूप में की। उदाहरणार्थ, उन्होंने कहा कि थेलेज़ ने "पानी को एक अपरिमित धारणा के, विचार के सहज सत्व के रूप में परिभाषित किया" (64,*13*,209)। हेगेल के विचार में, मिलेटस दर्शन-प्रणाली ने सामान्य स्वतःस्फूर्त भौतिकवाद से प्रत्ययवाद में संक्रमण का प्रतिनिधित्व किया।

हेगेल का विकास का प्रत्ययवादी सिद्धांत विकास के परिणाम और इसकी प्रारंभिक अवस्था के द्वंद्वात्मक तादात्म्य को मान लेता है। सत्ता और चिंतन के तादात्म्य को यानी सारे दार्शनिक विकास के

शिखर के रूप में परम प्रत्ययवाद के आधार को इस प्रक्रिया की प्रारंभिक अवस्था में ही प्रकट किया जाना चाहिए, चाहे यह अविकसित रूप में ही क्यों न हो। पहले यूनानी दार्शनिकों के भोले-भाले विचारों से प्रकट होनेवाले मूलतत्व की अवधारणा का उल्लेख करते हुए हेगेल दावा करते हैं कि वे दार्शनिक इस "अचेतन सूत्र से" आगे बढ़े थे "कि चिंतन सत्ता भी है" (64, *13*, 126)। यह मीमांसात्मक कल्पना प्राचीन भौतिकवाद को प्रत्ययवाद के रूप में पेश करने का आधार है। इस दृष्टि-कोण से, सुकरात तथा प्लेटो के सिद्धांतों में संक्रमण यानी विचारों की वास्तविक प्रत्ययवादी प्रणाली का आविर्भाव मात्र उस चीज़ की उपलब्धि है, जिसे पूर्ववर्ती दर्शन धारणाओं में व्यक्त नहीं कर सका। लेकिन विकास की इस स्कीम में ल्यूकिपस, डेमोक्रिटस व एपिक्यूरस नहीं शामिल किये जाते। हेगेल यह दावा करते हुए महान प्राचीन भौतिकवादियों की आलोचना करते हैं कि उनके सिद्धांत इंद्रिय-अनुभूति के स्तर से ऊपर नहीं उठते।

प्रत्ययवाद – द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद भी – भौतिकवादी दर्शन के महत्व को समझने में असमर्थ है। तो भी, हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' इस क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है और दार्शनिक विकास का उनका सिद्धांत प्रत्यक्षतः इस विकास की वैज्ञानिक, द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी व्याख्या का पूर्ववर्ती है।

हेगेल का प्रत्ययवाद उत्कट रूप से वैज्ञानिक है, फिर भी वास्तविक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रत्ययवाद से लेशमात्र मेल नहीं खाता। यह अंतर्वि-रोध वास्तविक वैज्ञानिक ज्ञान के प्रति प्रत्ययवादी दर्शन के विरोध को आवश्यक बना देता है। वास्तविक वैज्ञानिक ज्ञान की व्याख्या विज्ञान के अपूर्ण रूप में की जाती है, जब कि प्रत्ययवाद का वर्णन वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के रूप में किया जाता है। इसका संबंध सबसे पहले प्राकृतिक विज्ञानों से है। हेगेल उनकी ऐतिहासिक सीमाओं – इंद्रियानुभविक अध्ययन-विधि, यांत्रिक मनोभावों तथा अधि-भूतवादी चिंतन-विधि – की आलोचना करते हैं। परंतु प्राकृतिक विज्ञानों में जो मुख्य चीज़ हेगेल के लिए अमान्य है, वह उनका भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण है।

हेगेल की विज्ञानोपासना साथ ही प्रत्ययवादी तत्वनिरूपण के

गुणगान करती है। हेगेल के अनुसार, भूतद्रव्य पर आत्मा की प्रधानता विज्ञान को सर्वशक्तिमान बना देती है। सत्तामीमांसीय रूप से यह दावा सत्ता और चिंतन के तादात्म्य के सिद्धांत पर आधारित है, जिसके अनुसार दर्शन चिंतन के चिंतन-रूप में न केवल परम का विज्ञान, बल्कि स्वयं परम यानी दिव्य का कालेतर क्षेत्र भी है। हेगेल ने लिखा, "पर यह (परम आत्मा-**ले०**) अपने को केवल विज्ञान में ही परम आत्मा के रूप में जानती है और केवल यह ज्ञान, यह आत्मा ही उसका वास्तविक अस्तित्व है" (64,*15*,690)।

इस तरह, चिंतन के चिंतन-रूप में, जिसमें रूप अंतर्वस्तु से तथा विषयी विषय से मिल जाते हैं, चिंतन के दैवीकरण का अर्थ दर्शन का दैवीकरण है। यदि प्लेटो ने ईश्वर को ज्यामितिज्ञ, ब्रह्मांड का अभिकल्पक कहा; तो हेगेल का ईश्वर एक दार्शनिक है, जिसके मीमांसात्मक कार्य से विश्व की रचना तथा रख-रखाव होता है। सब कुछ प्रत्यय से, दार्शनिक चिंतन से उत्पन्न होता है! तथापि यह मानना पड़ेगा कि हेगेल सामान्यतः चरम निष्कर्षों से बचते हैं। उनके शब्दों में, "दर्शन का संबंध केवल विश्व-इतिहास में प्रतिबिंबित प्रत्यय की दीप्ति से है"(63,*4*,938)। लेकिन तब तो दर्शन मानवीय काम है न कि दैवी। लेकिन ऐतिहासिक रूप से सीमित आत्मिक कार्य के इस रूप में भी उसे आमूलतः वैज्ञानिक ज्ञान के मुक़ाबले में रख दिया जाता है। हेगेल अक्सर पुरोहित (इससे भी बढ़कर प्रधान पुरोहित) की भूमिका अदा करते हैं और इस प्रकार वह उस धर्मशास्त्री से भिन्न नहीं हैं, जो अपने "शास्त्र" की प्रशंसा एक ऐसे सर्वोच्च ज्ञान के रूप में करता है, जिसका विषय और स्रोत स्वयं ईश्वर है।

अतः हेगेल के अनुसार, दर्शन अथवा चिंतन का चिंतन एक ओर, शुद्ध बुद्धि का एक ऐसा असीम क्षेत्र है, जो विश्व का तात्विक आधार बनाता है और दूसरी ओर, निश्चित रूप से मानवीय, सीमित ऐतिहासिक आत्मिक क्षेत्र है। दर्शन के विकास के बारे में हेगेल का संपूर्ण सिद्धांत दर्शन के सत्तामीमांसीय तथा ऐतिहासिक अस्तित्व के बीच विभेदीकरण से ओत-प्रोत है, जिसे इस प्रत्ययवादी धारणा को ध्यान में रखे बिना नहीं समझा जा सकता। इस दृष्टिकोण से, दर्शन के इतिहास के दो आयाम हैं। पहला, दर्शन प्रत्यक्षतः दार्शनिकों, ऐसे व्यक्तियों

द्वारा विकसित किया जाता है, जो एक निश्चित युग, देश, आदि की ऐतिहासिक रूप से निश्चित परिस्थितियों में काम करते हैं। हेगेल दर्शन के इतिहास के इस पहलू का वर्णन निम्नलिखित ढंग से करते हैं: "दर्शन का इतिहास परम के बारे में विचारों की खोज का इतिहास है, जो इसका विषय है" (64,*6*,XX)। यह लौकिक, इंद्रियानुभविक रूप से अवबोध्य इतिहास है, जिसके अभिकर्ताओं को हेगेल चिन्तनशील बुद्धि के नायक मानते हैं। दार्शनिक मेधा इतिहास की निश्चित सीमाओं में परम आत्मा का मानवीकरण है। लेकिन दर्शन के इंद्रियानुभविक इतिहास के विपरीत, परम आत्मा दर्शन की ऐतिहासिक रूप से सीमित प्रणालियों का नहीं, बल्कि उनके सिद्धांतों तथा मौलिक प्रवर्गों का तार्किक अनुक्रम है, जिनका सोपानक्रम कालेतर तार्किक प्रक्रिया की, 'तर्कशास्त्र' के विषय की रचना करता है।

दर्शन के इतिहास के दूसरे तात्विक आयाम का विचार प्रत्यक्षतः हेगेल के बुद्धितत्ववाद से जुड़ा हुआ है, जिसके अनुसार तर्क (बुद्धि) चीज़ों के सार के संज्ञान का एक साधन अथवा रूप ही नहीं, बल्कि स्वयं वही सार भी है। इसका अर्थ यह है कि दार्शनिक अंतर्वस्तु का बोध परम के लिए यानी परम ज्ञान, विषयी तत्व, ईश्वर, आदि के लिए अन्तर्जात है, काल और देश निरपेक्ष हैं, क्योंकि हेगेल के अनुसार, देश और काल अन्यसंक्रामित सत्ता के रूप हैं। मानवजाति को उस निरपेक्ष तादात्म्य की अनुभूति युग-युगों के अपने विकास में होती है। और यही दर्शन का इतिहास कहलाता है, क्योंकि परम का कोई ऐतिहासिक विकास नहीं होता।

हेगेल के अनुसार, विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास का कार्यभार दार्शनिक ज्ञान के ऐतिहासिक रूपों का उनके निरपेक्ष आद्यरूपों में पता लगाना है अर्थात यह दर्शन के प्रत्येक ऐतिहासिक रूप से निश्चित और सीमित दर्शन प्रणाली को परम आत्मा की किसी विशेष तार्किक सुनिश्चितता के प्रतिबिंब के रूप में देखता है। "अपनी मूल अंतर्वस्तु के अनुसार दर्शन का इतिहास विगत का नहीं, बल्कि शाश्वत और पूर्णतः वर्तमान का अध्ययन करता है तथा अपने परिणाम की दृष्टि से इसकी तुलना मानव आत्मिक भ्रांतियों की वीथी से नहीं, बल्कि दिव्य मूर्तियों वाले सर्वदेव मंदिर से की जानी चाहिए" (64,*6*,

167-68) । दिव्य मूर्तियों वाला वह देव-मंदिर आद्य आदर्श है, एक ऐसा नियोग है, जो आद्यत: प्रतिष्ठापित और अस्तित्वमान है और जो उन सहज मानवीय भ्रांतियों से भरे दर्शन के कालगत इतिहास का विरोध करता है, जिन्हें हेगेल खुलेआम स्वीकार करते हैं। ऐतिहासिक तथा अति-ऐतिहासिक के बीच भेद के कारण ही हेगेल के समक्ष ऐसे प्रश्न प्रस्तुत होते हैं, जो भिन्न दार्शनिक संदर्भ में निरर्थक होते। मिसाल के लिए, वह पूछते हैं, "इस चीज़ का क्या कारण है कि दर्शन का अस्तित्व कालगत है और उसका एक इतिहास है?" (64,*13*,45) ।

दर्शन के इतिहास के दोहरे आयाम की हेगेलीय अवधारणा की उपेक्षा करने का अर्थ, जैसा कि नीचे स्पष्ट हो जायेगा, उसके अंतर्विरोधों की उपेक्षा करना तथा दर्शन के वास्तविक विकास की हेगेलीय अवधारणा को अतिसरलीकृत करना है। यह चीज़ इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि हेगेल न केवल दर्शन के इतिहास के दो पहलुओं का विभाजन करते और उनको एक दूसरे के विपरीत रखते हैं, बल्कि उन दो विलोमों को द्वंद्वात्मक तादात्म्य में परिवर्तित करने का भी उतना ही प्रयास करते हैं। क्योंकि हेगेल के अनुसार, दर्शन का कार्यभार अनुभवातीत और सर्वव्यापी, दैवी और मानवीय, नित्य और अनित्य की एकता को प्रकट करना, वास्तविक को प्रत्ययिक और प्रत्ययिक को वास्तविक समझना है।

मूलत: धार्मिक धारणाओं के बावजूद दर्शन के इतिहास के इन दो मुख्य पहलुओं के बीच विभेदीकरण में गहन द्वंद्वात्मक अंतर्दृष्टियां निहित हैं। इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन की दो मुख्य विधियां हैं: तार्किक-सैद्धांतिक तथा निश्चित ऐतिहासिक; निश्चित-ऐतिहासिक विधि देश-विशेष में, निश्चित परिस्थितियों आदि में प्रक्रिया-विशेष के मूल लक्षणों को ध्यान में रखती है। हेगेल अपने तर्क को उसके प्रत्ययिक, कालेतर रूप में दर्शन के इतिहास के तर्क के रूप में मानते हैं। जहां तक दर्शन के वास्तविक इतिहास का संबंध है, यह दर्शन के प्रागनुभविक आत्म-विकास का अन्यसंक्रामित तथा विरूपित पुनरुत्पादन है। हेगेल के शब्दों में, "इतिहास में दार्शनिक प्रणालियों का अनुक्रम वैसा ही है, जैसा कि प्रत्यय की परिभाषाओं के तार्किक अन्वेषण में। मैं दावा करता हूं कि अगर हम दार्शनिक प्रणालियों के इतिहास में प्रकट

होनेवाली मूल अवधारणाओं को उनके बाह्य रूप से, उनके विशेष प्रयोगों से संबंधित हर चीज़ से मुक्त कर दें, अगर उन्हें हम उनके शुद्ध रूप में लें, तो हम तार्किक व्याख्या में स्वयं प्रत्यय की परिभाषा की विभिन्न अवस्थाएं पायेंगे। इसके विपरीत, अगर हम स्वयं तार्किक अग्रगति को लें, तो हम इसमें मुख्य क्षणों में ऐतिहासिक घटनाओं की अग्रगति पायेंगे; बेशक, ऐतिहासिक रूप की अंतर्वस्तु में इन शुद्ध अवधारणाओं को पहचानने की योग्यता होनी चाहिए" (64,*13*,43)।

अगर बुद्धिसंगत ढंग से लागू किया जाये, तो अध्ययन की तार्किक-सैद्धांतिक और निश्चित ऐतिहासिक विधियां समान रूप से आवश्यक हैं, एक दूसरे की पूरक हैं। लेकिन दर्शन के इतिहास के अध्ययन में इन विधियों का वास्तविक वैज्ञानिक प्रयोग हेगेल के दर्शन के ढांचे में असंभव है। हेगेल दर्शन के इतिहास के निश्चित ऐतिहासिक अध्ययन को दार्शनिक चिंतन के प्रागनुभविक समाकृतिक दृष्टिकोण के अधीन बना देते हैं। दर्शन के इतिहास के उनके सिद्धांत तथा दर्शन के विकास के ठोस अध्ययन के बीच, जो अक्सर उनके सिद्धांत से मेल नहीं खाता, अंतर्विरोध का यही कारण है।

दर्शन के इतिहास के सिद्धांत के उस ढांचे में, जिसका आशय तार्किक सिद्धांतों और प्रवर्गों के सोपानक्रम से है, ऐसा कोई वास्तविक संघर्ष नहीं है, जो दर्शन के वास्तविक विकास के लिए लाक्षणिक है। अवैयक्तिक परम बुद्धि में विभिन्न प्रणालियों के आधार का काम करने-वाले सभी दार्शनिक सिद्धांत केवल "परम प्रत्यय" की परिभाषाओं के रूप में अस्तित्वमान होते हैं। यहां कोई इतिहास नहीं है, कुछ भी प्रकट या विलुप्त नहीं होता। मानव-इतिहास और फलतः दर्शन का इतिहास भिन्न चीज़ है। यहां "कालेतर" दार्शनिक सिद्धांत दर्शन की ऐतिहासिक रूप से निश्चित प्रणालियां हैं। उनमें से प्रत्येक सिद्धांत अपने काल से जुड़ा हुआ है, अपने काल की सीमाओं का भागी है और इसलिए उससे ऊपर नहीं उठ सकता।

परंतु अगर, जैसा कि हेगेल ने दावा किया, दर्शन किसी नित्य चीज़ का अध्ययन करता है, तो हम इसका उस प्रस्थापना से कैसे मेल बैठा सकते हैं कि दर्शन "अपने काल से पूर्णतः अभिन्न है" (64, *13*,69)? हेगेल इन परस्पर अपवर्जक प्रस्थापनाओं को दर्शन के

इतिहास के विभिन्न पहलू कहकर उनको "समन्वित" करते हैं। तथापि हेगेल की दार्शनिक प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पन्न हुआ वस्तुतः यही चरम वैषम्य दोनों प्रस्थापनाओं को दोषपूर्ण बना देता है। ऐतिहासिक रूप से निश्चित दर्शन अपने युग से महज़ अभिन्न नहीं होता और दार्शनिक प्रणालियों के सिद्धांत सामान्यतः कालेतर सत्य कदापि नहीं होते। प्रणालियां वास्तव में अनित्य हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उनके सिद्धांत सदा-सर्वदा के लिए सही हैं। आत्मगत प्रत्ययवादी प्रणाली की निराधारिता उसके सिद्धांत की निराधारिता है, हालांकि ठीक-ठीक समझी गयी आत्मगतता संज्ञान की प्रक्रिया की वास्तविक तथा महत्वपूर्ण सुनिश्चितता है। लेकिन हेगेल दर्शन की ऐतिहासिक रूप से सीमित प्रणालियों के मुक़ाबले में उनके सिद्धांतों को रखते हैं, मानो वे इंद्रियानुभविक सीमाओं से मुक्त और परम की तार्किक परिभाषाएं हों। इसके अलावा, वह प्रत्यक्षतः इस तथ्य के महत्व को कम करके आंकते हैं कि प्रणाली सिद्धांत की निष्पत्ति है, न कि केवल उसका एकांगी, परम विकास तथा प्रतिपादन।

दार्शनिक सिद्धांत एक दूसरे से मूलतः भिन्न हैं और वैसी ही उनकी ऐतिहासिक नियति भी। डेमोक्रिटस, एपिक्यूरस, प्लेटो और अरस्तू के सिद्धांतों ने दर्शन के विकास को बड़ा प्रभावित किया। पर यह बात सभी असाधारण दार्शनिक सिद्धांतों के बारे में नहीं कही जा सकती। फलतः अपने कालों तथा भावी सामाजिक विकासों से दार्शनिक सिद्धांतों का संबंध भी सामान्यतः भिन्न-भिन्न है। यदि एक सिद्धांत परवर्ती कालों में पुनर्जीवित होता है, नये सिद्धांतों के प्रभाव में विकसित व रूपांतरित होता है, तो दूसरे मानवजाति के बौद्धिक इतिहास के मात्र स्मारक बन रहते हैं। दर्शन के कालेतर इतिहास के बारे में प्रस्थापना, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि तात्विक दृष्टि से दर्शन की सभी प्रणालियां परम के रूपों की शृंखला बनाती हैं इस वजह से भी ग़लत है, कि यह इस स्वतः स्पष्ट तथ्य से लेशमात्र मेल नहीं खाती कि विभिन्न युगों के दार्शनिक समकालीन नहीं हैं। इस सरल वक्तव्य से जो निष्कर्ष निकलता है, वह सतही कदापि नहीं है: हर अगले युग के दार्शनिकों के पास ऐसी विरासत

होती है, जो स्वभावतः उनके पूर्ववर्तियों के पास नहीं हो सकती थी।

अपने युग के ढांचे में प्रत्येक दार्शनिक सिद्धांत की ऐतिहासिक सीमाओं पर सही ही ज़ोर देते हुए हेगेल दर्शन के उस विकास का उल्लेख करते हैं, जो उनके सिद्धांत के अनुसार अवैयक्तिक दार्शनिक (परम) प्रत्यय के क्षेत्र में अनुपस्थित है। लेकिन वस्तुतः इसी वजह से कि वह एक वास्तविक, इंद्रियानुभविक रूप से सत्यापनीय प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं, यह सत्य अतिरंजित हो जाता है, यह दावा किया जाता है कि कोई भी दर्शन "केवल उन्हीं हितों को पूरा कर सकता है, जो उसके युग के अनुरूप हों" (64,*13*,60)। पर महान दार्शनिक सिद्धांत अपना महत्व, प्रभाव और कुछ हद तक अपनी सामयिक यथार्थता विभिन्न युगों तक बनाये रखते हैं। बेशक, हेगेल को यह भली-भांति मालूम है, लेकिन उनकी दृष्टि में, यह केवल दर्शन के इतिहास के प्रत्ययिक पहलू के बारे में ही सही है तथा उसके इंद्रियानुभविक पहलू से वहीं तक संबंध रखता है, जहां तक यह उस प्रत्ययिक स्तर तक ऊंचा उठता है। अतः प्रत्ययिक स्तर प्रतिमान, मानक, नियोग के रूप में प्रस्तुत है, पर चूंकि यह आद्य है, इसलिए यह उस अर्थ में नियोग नहीं है, जिस अर्थ में कांट या फ़िख़्ते ने इसे समझा। ठीक-ठीक कहें, तो आत्म-विकास के इस शुद्धतः तार्किक न कि ऐतिहासिक पहलू में "प्रत्येक दार्शनिक सिद्धांत का अस्तित्व था और अब भी आवश्यक रूप से है: अतः उनमें से एक भी विलुप्त नहीं हुआ, बल्कि वे सभी दर्शन में एक समाष्टि के घटकों के रूप में सुरक्षित हैं" (64,*13*,50)। दार्शनिक ज्ञान के ऐतिहासिक विकास में शाश्वत पर ज़ोर देने में हेगेल सही हैं। परंतु सत्य और भ्रांति की ऐतिहासिक द्वंद्वात्मकता में निस्संदेह रूप से महत्वपूर्ण इस घटक को वह बढ़ा-चढ़ाकर परम की हद तक ले जाते हैं। यह सब होते हुए भी, हेगेल तार्किक पहलू को पूरी तरह ऐतिहासिक पहलू के विरोध में खड़ा करने से बचने का प्रयास करते हैं, क्योंकि उन्हें यह भली-भांति मालूम है कि अपनी प्रणाली के मूलभूत सिद्धांतों के विपरीत यह वैषम्य सापेक्ष है। दार्शनिक सिद्धांतों के ऐतिहासिक पहलू की व्याख्या न केवल ऐतिहासिक रूप से अनित्य किसी चीज़ के रूप में, बल्कि ऐतिहासिक रूप से उत्पन्न किसी शाश्वत चीज़ के रूप में भी करने के हेगेल के प्रयासों का यही कारण है। इस संबंध

में हेगेल दर्शन-विशेष का उसके युग से संबंध की ठोस व्याख्या पेश करते हैं। "यद्यपि कोई दर्शन अपनी अंतर्वस्तु में अपने युग से ऊपर नहीं उठता, फिर भी यह अपने रूप में उससे ऊपर होता है, क्योंकि अपने युग की तात्विक आत्मा के चिंतन व ज्ञान के रूप में यह दर्शन उसे अपना विषय बनाता है" (64,*13*,69)। लेकिन दर्शन में रूप और अंतर्वस्तु का यह विभेदीकरण परम प्रत्ययवाद की मौलिक प्रस्थापना से विचलन है, जिसके अनुसार दर्शन में रूप और अंतर्वस्तु चिंतन के चिंतन-रूप में तद्रूप हैं।

इस तरह, दर्शन के इतिहास के तार्किक और ऐतिहासिक पहलुओं के बीच हेगेल का अंतर स्पष्टतः उचित और ज्ञानमीमांसीय रूप से आवश्यक है। लेकिन हेगेल ज्ञानमीमांसा तथा सत्तामीमांसा को गड्डमड्ड कर देते हैं और इस वजह से अक्सर अनुसंधानकर्ताओं द्वारा उनके दर्शन के परस्पर-विरोधी मूल्यांकन पेश किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, दर्शन के इतिहास पर हेगेल के विचारों के अनुसंधानकर्ता सामान्यतः निम्नलिखित अत्यंत महत्वपूर्ण प्रस्थापना को उद्धृत करते हैं: "नवीनतम दार्शनिक सिद्धांत सभी पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धांतों का परिणाम है, इसलिए इसमें सभी दार्शनिक सिद्धांत निहित होने चाहिए; इसलिए जब यह दार्शनिक सिद्धांत बन जाता है, तो यह सबसे विकसित, सबसे समृद्ध और सबसे ठोस होता है" (64,*6*,21)। हेगेल की इस प्रस्थापना को उद्धृत करते हुए उनके अनुसंधानकर्ता इस चीज़ के बारे में सामान्यतः नही सोचते कि वह किस हद तक दर्शन के वास्तविक इतिहास पर उनके विचार का वर्णन करती है। चूंकि इस उद्धरण का इशारा नवीनतम दार्शनिक सिद्धांत की ओर है, इसलिए यह स्वतः स्पष्ट लगता है कि यह दर्शन के इतिहास पर लागू होता है। लेकिन यह दावा कि प्रत्येक अगला दर्शन अपने पूर्ववर्ती से हमेशा उच्चतर होता है, केवल परम की परिभाषाओं की तार्किक व्यवस्था से मेल खाता है, जो "परम आत्मा" के रूप में अपनी तार्किक परिभाषाओं को समय में यानी ऐतिहासिक रूप से विकसित करता है।

हेगेलीय दर्शन के सुप्रसिद्ध फ़्रांसीसी अनुसंधानकर्ता जां हिप्पोलित इस तथा अन्य ऐसे वक्तव्यों का उल्लेख करते हैं तथा हेगेल की इस

बात के लिए निंदा करते हैं कि वह यह मानते हुए कि दार्शनिक सिद्धांतों का पूर्णतः अतिक्रमण हो जाता है, उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, "हेगेल के दर्शन के इतिहास का दोष, जो दार्शनिक सिद्धांतों को तार्किक और कालक्रमिक ढंग से प्रस्तुत करने का दावा करता है, यह है कि वह प्रत्येक अनुवर्ती दर्शन को उसके पूर्ववर्ती दर्शन के सिद्धांत को संश्लिष्ट करनेवाले तथा उसका अतिक्रमण करनेवाले एक श्रेष्ठ दर्शन में बदल देता है" (69,82)। हेगेल के उपर्युक्त उद्धरण की रोशनी में दर्शन के इतिहास की उनकी अवधारणा का यह मूल्यांकन न्यायसंगत प्रतीत होता है। लेकिन यह स्पष्टतः दर्शन के इतिहास के तात्विक और ऐतिहासिक (जो हिप्पोलित के अनुसार, तार्किक और कालक्रमिक) पहलुओं के वैषम्य को कम महत्व देता है, जिसपर हेगेल इतना जोर देते हैं। इस बीच में, हेगेल के 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' से स्पष्ट है कि वह दर्शन के इतिहास के ठोस अध्ययन में अपने सिद्धांत का अनुसरण नहीं करते। मिसाल के लिए, वह स्टोइक दर्शन, एपिक्युरसवाद अथवा संशयवाद को प्राचीन दर्शन के शिखर के रूप में नहीं मानते, हालांकि वे उसके विकास की नवीनतम अवस्थाएं थे। यहां तक कि वह एपिक्यूरस का उल्लेख एक ऐसे चिंतक के रूप में करते हैं, जो इंद्रियगत अवधारणाओं से ऊपर नहीं उठ सका। वह संशयवाद की ओर भी वैसा ही अवज्ञापूर्ण रुख अपनाते हैं और स्टोइक दर्शन का वर्णन तो एक पतनोन्मुख परिघटना, दर्शन के संकट के रूप में करते हैं।

हेगेल मध्य युग के दर्शन को ऐसे दर्शन के रूप में नहीं मानते, जिसका स्तर अपने पूर्ववर्ती दर्शनों से ऊंचा हो। उनके विचार में, उत्तरकालीन पांडित्यवाद ने अपनी विशिष्ट दार्शनिक अंतर्वस्तु खो दी और धर्मशास्त्र ने दर्शन का स्थान ले लिया।

नव-युग के दर्शन के अपने विश्लेषण में हेगेल नवीनतम दर्शन को सभी पूर्ववर्ती दर्शनों के संश्लेषण के रूप में प्रस्तुत करने से तो और भी अधिक दूर हैं। १७वीं सदी की अधिभूतवादी प्रणालियों की उच्च प्रशंसा करते हुए वह १८वीं सदी के दार्शनिकों, विशेष रूप से बुर्जुआ प्रबोधकों की आलोचना ऐसे चिंतकों के रूप में करते हैं, जो कम से कम अपने सिद्धांतों की ठोस अंतर्वस्तु में अपने सभी पूर्ववर्तियों से उन्नीस पड़ते

थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हेगेल बर्कले और ह्यूम को देकार्त, लीबनिज़ या स्पिनोज़ा के सिद्धांतों की तुलना में दर्शन की उच्चतर अवस्था के प्रतिनिधि नहीं मानते।

यदि हम अब 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' से, जो दार्शनिक ज्ञान के ऐतिहासिक विकास का पता लगाता है, हेगेल के 'तर्कशास्त्र' की ओर मुड़ें, जिसके प्रवर्गों का सोपानक्रम निम्नतर से उच्चतर की ओर ले जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तब हेगेल का आशय दर्शन के इतिहास के किस पहलू से है, जब वह कहते हैं कि प्रत्येक अनुवर्ती दर्शन अधिक विकसित, समृद्ध व अधिक ठोस होता है (बेशक, हेगेल का तर्कशास्त्र विशिष्ट दर्शन से नहीं, बल्कि इसकी मौलिक प्रस्थापना, सिद्धांत और प्रवर्गों से संबंध रखता है)।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सामान्यतः दर्शन के विकास की हेगेल की अवधारणा उस अतिसरलीकृत व्याख्या से अधिक समृद्ध है, जिसके अनुसार प्रत्येक नयी परिघटना अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से विकास की उच्च अवस्था को प्रकट करती है। विदित है कि हेगेल ने अमूर्त और मूर्त निषेध के बीच भेद करते हुए निषेध को विकास का आवश्यक तत्व माना। विकास में अमूर्त और मूर्त दोनों ही निषेध घटित होते हैं, पर केवल मूर्त निषेध ही निम्नतर से उच्चतर अवस्था में संक्रमण को प्रकट करता है। निम्नतर से उच्चतर और अपूर्ण से पूर्ण में प्रत्यक्ष संक्रमण की अतिसरलीकृत समझ के विपरीत हेगेल विकास का वर्णन एक ऐसी सर्पिल प्रक्रिया के रूप में करते हैं, जिसमें विगत अवस्थाएं एक नये आधार पर पुनर्जीवित होती हैं।

इस तरह, दर्शन के विकास की हेगेलीय व्याख्या में तार्किक और ऐतिहासिक के बीच विभेदीकरण हेगेल की प्रत्ययवादी भ्रांतियों की आलोचना करने के लिए भी तथा उनके मेधावी द्वंद्वात्मक चिंतन को स्पष्ट करने के लिए भी आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से हमें दर्शन के विकास की प्रेरक शक्तियों और उसकी अंतर्वस्तु के ऐतिहासिक स्रोतों की हेगेलीय अवधारणा पर विचार करना चाहिए। अगर तार्किक को न केवल संज्ञान करनेवाले विषयी के विशिष्ट गुण के रूप में, बल्कि तात्विक के रूप में भी स्वीकार किया जाये, तो इस तरह उसे

causa sui * के रूप में, आत्म-निर्धारक के रूप में स्वीकार किया जाता है। हेगेल की यह मूल धारणा दर्शन से प्रत्यक्षत: जुड़ी हुई है और दर्शन के विकास की व्याख्या एक तात्विक प्रक्रिया के रूप में की जाती है: "...दर्शन का संपूर्ण इतिहास मूलत: आंतरिक रूप से आवश्यक अनुक्रमिक अग्रगति है, जो स्वयं में बुद्धिसंगत है और अपने विचार से a priori ** निर्धारित होती है। दर्शन के इतिहास को इसे अपने उदाहरण से सिद्ध करना चाहिए'(64,*13*,50)। इस तार्किक प्रक्रिया का उद्देश्य, जो इसमें प्रारंभ से ही निहित होता है, इसकी आंतरिक प्रेरक शक्ति है; इसके कारण इसका परिणाम प्रारंभ से ही पूर्वनिर्धारित होता है। दर्शन के ऐतिहासिक रूप से सीमित रूप तथा इसकी अपरिमित अंतर्वस्तु के बीच अंतर्विरोध दार्शनिक ज्ञान के विकास का प्रत्यक्ष प्रेरक कारण है। हेगेल के अनुसार, परिमित अब भी सत्य नहीं है, जिसकी वजह से "आंतरिक प्रत्यय इन परिमित रूपों को नष्ट कर देता है" (64,*13*,50), यानी यह दर्शन की एक प्रणाली से दूसरी में संक्रमण को एक आवश्यकता बना देता है। चूंकि दर्शन के इतिहास को "परम प्रत्यय" की परिभाषाओं का एक तार्किक सत्तामीमांसीय अनुक्रम माना जाता है, इसलिए यह "परम प्रत्यय" द्वारा भी निर्धारित होता है और वस्तुत: इसी वजह से यह उद्देश्यवादी स्वरूप का है। संसार में जो कुछ भी घटता है, वह अंतिम विश्लेषण में बुद्धिसंगत है। हेगेल की दृष्टि में, यह महान पूर्वाधार, "जो एकमात्र ऐसी चीज़ है, जो दर्शन के इतिहास को इतनी दिलचस्प बनाती है, केवल एक भिन्न रूप में दैव में विश्वास के अलावा और कुछ नहीं है" (64,*13*,49)।

ये सभी परिभाषाएं दर्शन के इतिहास के उस पहलू से प्रत्यक्ष संबंध रखती हैं, जिसे हेगेल तात्विक के रूप में वर्णित करते हैं। लेकिन तात्विक पहलू का अस्तित्व दर्शन के "इंद्रियानुभविक" विकास के बाहर नहीं होता, क्योंकि यह उसका सारतत्व बनाता है। हेगेल की सुविदित परिभाषा के अनुसार, ऐतिहासिक रूप से विकासमान दृश्य सत्ता के रूप में

---

* स्वकारण। – **अनु०**

** अनुभव-निरपेक्ष। – **अनु०**

दर्शन विचार द्वारा अनुभूत एक युग है; यह "काल की आत्मा का चिंतन और बोध है" (64,*13*,66)। बेशक, "काल की आत्मा" का "परम आत्मा" से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, जिससे कि दर्शन की परिकल्पनात्मक और ऐतिहासिक परिभाषाएं एक दूसरे की अपवर्जक नहीं हैं। तो भी, जो एक ख़ास ऐतिहासिक युग के लिए (और अतः दर्शन के विकास में ख़ास अवस्था के लिए भी) लाक्षणिक है, वह परम की सामान्य अवधारणा में, चिंतन के चिंतन, परम आत्मा के आत्म-अन्यसंक्रामण के मीमांसीय विचार, आदि में नहीं निहित है।

इस प्रकार, एक ओर हेगेल दर्शन के इतिहास की प्रेरक शक्तियों को शुद्ध चिंतन तक सीमित करते हैं, जब कि दूसरी ओर, वह दर्शन के उद्‌भव और परवर्ती विकास को निश्चित इतिहास बनानेवाली सामाजिक उथल-पुथलों से जोड़ने का प्रयास करते हैं। दर्शन के उद्‌भव के ऐतिहासिक पूर्वाधारों से संबंधित प्रश्न पेश करते हुए हेगेल कहते हैं कि उनमें श्रम का विभाजन, "एस्टेटों" का उदय यानी पितृसत्तात्मक गोत्रों के पतन, जीवन की पितृसत्तात्मक पद्धति से स्वतंत्र मानव-व्यक्तित्व का उद्‌भव, स्वतःस्फूर्त धार्मिक चेतना का संकट शामिल हैं (देखिये, 64,*13*,66-67)। लेकिन हेगेल ऐतिहासिक युगों का कोई ठोस वर्णन नहीं देते, जिनकी अंतर्वस्तु इस या उस दर्शन में प्रकट होती है। आम तौर से वह केवल "काल की आत्मा", बौद्धिक वातावरण, इस या उस ऐतिहासिक युग के प्रधान विश्वासों की सामान्य रूपरेखा देते हैं और इसलिए स्वयं दर्शन सामान्यतः काल की आत्मा के सार के रूप में प्रकट होता है। समग्र सामाजिक संबंधों के प्रति दर्शन के संबंध के प्रश्न पर हेगेल का दृष्टिकोण कोई निश्चित उत्तर नहीं देता, बल्कि वह तो इसे केवल पेश करता है।

हेगेल इस चीज़ को भली-भांति जानते हैं कि दर्शन, चूंकि उसका अस्तित्व ऐतिहासिक सीमाओं में है, सामाजिक रूपांतरणों का कारण नहीं है; लेकिन इन रूपांतरणों पर दर्शन की निर्भरता का विचार तर्कबुद्धिवादी प्रत्ययवाद से लेशमात्र मेल नहीं खाता। "दर्शन और राजनीतिक इतिहास, राजकीय व्यवस्था के रूपों, कला तथा धर्म के बीच संबंध ऐसा नहीं है कि वे दर्शन के कारण या दर्शन उनका कारण है, बल्कि वे तो सभी काल की आत्मा में बद्धमूल हैं" (64,*13*,69)

स्पष्टत: हेगेल एक ही सार्विक परम आत्मा की अवधारणा से आगे बढ़ते हैं, जिसकी एक निश्चित अवस्था काल की आत्मा के रूप में प्रकट होती है और इसकी विविधता धर्म, कला, राजकीय व्यवस्था में तथा अत्यंत पर्याप्त रूप में दर्शन में प्रकट होती है। दर्शन तथा सामाजिक जीवन के सभी अन्य रूपों के बीच संबंध सहसंबंध, समांतरता, संगतता का और प्रकटत: अन्योन्यक्रिया तथा अंतर्व्याप्ति का भी संबंध है। हेगेल की प्रत्ययवादी प्रणाली का मूल अभ्युपगम सामाजिक चेतना व सामाजिक सत्ता की अन्तर्वस्तु के बीच अंतर को अस्वीकार करता है, क्योंकि अंतिम विश्लेषण में दोनों ही चिंतन के चिंतन, विषयी-तत्व, सत्ता और चिंतन के तादात्म्य में परिणत हो जाती हैं।

यह सही है कि हेगेल विधि के दर्शन में राज्य तथा नागरिक समाज – निजी हितों, सर्वोपरि आर्थिक हितों के क्षेत्र – के बीच मूलभूत विभाजन करते हैं। परंतु यह विभाजन दर्शन के विकास के उनके विश्लेषण में नहीं प्रकट होता। वर्ग समाज की वास्तविक संरचना इंद्रियानुभविक के मीमांसात्मक उन्मूलन में विलयमान हो जाती है। यह सब दर्शन की ठोस ऐतिहासिक अंतर्वस्तु और उसकी सामाजिक भूमिका के अध्ययन को पहले ही प्रकट सही (पर बेशक प्रत्ययवादी नहीं) मार्ग से हटा देता है। अंतिम निष्कर्ष – परम प्रत्ययवाद प्रत्येक ऐतिहासिक युग-विशेष के सामाजिक जीवन में दर्शन की स्थिति का विश्लेषण करते समय उससे आगे बढ़ने का साहस नहीं करता – का सार यह स्वीकृति है कि दर्शन तथा सामाजिक परिघटनाओं के सभी अन्य रूप एक समष्टि में सम्मिलित हैं और कि उस समष्टि के आंतरिक संघटक आवश्यक संगति बनाते हैं। "अत: दर्शन का एक निश्चित प्रकार लोगों के एक निश्चित प्रकार, जिनके बीच वह अस्तित्वमान होता है, उनकी राज्य प्रणालियों, सरकार, उनके सामाजिक जीवन से संबद्ध है" (64,*13*,68)। लेकिन कौन-सी चीज़ इस संगति को निर्धारित करती है, जो मात्र काल में होनेवाला संयोग नहीं है? हेगेलीय दर्शन इस प्रश्न का उत्तर अत्यंत सामान्य ढंग से देता है: परम आत्मा की अनन्यता। इसका अर्थ यह है कि दो ऐतिहासिक युगों के बीच गुणात्मक अंतर उस परम आत्मा की तार्किक संरचना द्वारा पूर्वनिर्धारित होता है, जिसमें प्रत्येक युग परम आत्मा की आत्म-चेतना के मार्ग पर एक आवश्यक क़दम है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, हेगेल विश्व-इतिहास को दर्शन के इतिहास में बदल देते हैं। वह समाज के ठोस ऐतिहासिक (आर्थिक, राजनीतिक, विचारधारात्मक, टेक्नोलाजिकल, आदि) विकास को ज्ञान और आत्म-चेतना के विकास से गड्डमड्ड कर देते हैं तथा आत्म-चेतना के प्रामाणिक रूप को दर्शन घोषित किया जाता है। यह स्वतंत्रता की चेतना में प्रगति के रूप में विश्व इतिहास की व्याख्या के साथ पूरी तरह मेल खाता है। मानव इतिहास की विविधता को दार्शनिक चेतना के विकास में परिणत कर दिया जाता है। हेगेल के शब्दों में, "विश्व-इतिहास दिव्य, अपने सर्वोच्च रूपों में आत्मा की परम प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है; यह उस अधिक्रम की अभिव्यक्ति है, जिसके ज़रिये वह अपने सत्य को साकार करती है और आत्म-चेतना पर पहुंचती है... विश्व-इतिहास केवल यह दिखाता है कि कैसे आत्मा में आत्म-चेतना और सत्य के लिए प्रयास धीरे-धीरे जाग्रत होते हैं; पहले उसमें चेतना की टिमटिमाहट होती है, फिर उसे मुख्य बातें स्पष्ट हो जाती हैं और अंत में वह पूर्णतः सचेत बन जाती है" (63,*1*,75)।

ऐसी एकांगी व्याख्या विश्व इतिहास की अंतर्वस्तु की विविधता को नष्ट करती तथा तोड़ती-मरोड़ती है। प्रत्ययवाद ने हमेशा मानव इतिहास को सर्वोपरि बौद्धिक विकास के इतिहास के रूप में, भ्रांति के साथ बुद्धि के, बुराई के साथ अच्छाई के संघर्ष के रूप में पेश किया है। हालांकि समाज के इतिहास के वस्तुगत तर्क के बारे में हेगेल का सिद्धांत कुछ हद तक इतिहास की प्रत्ययवादी व्याख्या के कतिपय दोषों को दूर करता है, फिर भी वह निस्संदेह इस दार्शनिक-ऐतिहासिक धारणा के उत्तराधिकारी हैं। तो भी दर्शन की अलग-अलग प्रणालियों के अपने विश्लेषण में हेगेल बहुधा निश्चित ऐतिहासिक युग के विशिष्ट लक्षणों के साथ उनके संबंध को विश्वसनीय ढंग से दिखाते हैं। उदाहरणार्थ, वह फ़्रांसीसी बुर्जुआ प्रबोध की ऐतिहासिक आवश्यकता तथा औचित्य को प्रकट करते हैं। हेगेल के अनुसार उसका पादरी-प्रथा-विरोध और अनीश्वरवाद भी कालातीत सामंती व्यवस्थाओं तथा उनके मुख्याधार कैथोलिक धर्म के ख़िलाफ़ संघर्ष की अभिव्यक्ति हैं। उनकी दृष्टि में १७८९ की क्रांति उस बौद्धिक आंदोलन से प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई है, जिसका वह प्रकृतिवादी और विशेषतः भौतिकवादी विचारों

के प्रति अपने सुविदित विद्वेष के बावजूद इतने खुले उत्साह से उल्लेख करते हैं।

हेगेल का 'तर्कशास्त्र' दार्शनिक प्रणालियों के बीच सिर्फ तार्किक संबंधों को मानते हुए दर्शन तथा इससे स्वतंत्र सामाजिक परिस्थितियों के बीच ऐतिहासिक संबंधों को, जिन्हें हेगेल अंकित करते हैं, हर्गिज नही स्वीकार करता। फिर भी, हेगेल के लिए दार्शनिक सिद्धांतों का समाजवैज्ञानिक मूल्यांकन आवश्यक है, क्योंकि अपनी मौलिक अवधारणा के अनुसार वह केवल तत्वनिरूपण करने वाली परम आत्मा की तार्किक आत्म-गति को ही नहीं, बल्कि इतिहास में दर्शन के विकास को भी स्वीकार करते हैं। बेशक, दर्शन का विकास आवश्यक है, क्योंकि परम मात्र आत्म-अनुध्यान से संतुष्ट नहीं हो सकता। और "जितनी ही आत्मा स्वयं में लीन होती है, उतनी ही विषमता गहरी बनती जाती है, उतनी ही बाहर को निर्दिष्ट समृद्धि व्यापक होती जाती है : हमें गहराई को उसे आवश्यक ललक के मापदंड से नापना चाहिए, जिससे आत्मा अपने को पाने के लिए अपनी खोज बाहर को निदेशित करती है (64, *15*,684)। इस प्रकार, अपनी सर्वबुद्धिवादी प्रणाली के सिद्धांतों को बदले बिना ही हेगेल तार्किक और ऐतिहासिक को आंतरिक और वाह्य के रूप में मिला देते हैं। ये विषमताएं द्वंद्वात्मक हैं, जिसकी वजह से वाह्य आंतरिक बन जाता है, जब कि उनकी एकता विश्व-इतिहास तथा इसके सारतत्व के रूप में विकासमान दार्शनिक आत्मा बन जाती है। स्वभावतः तार्किक को प्रधानता दी जाती है; इंद्रियानुभविक को एक ऐसे साधन में परिणत कर दिया जाता है, जिसके द्वारा आत्मा अपनी अंतर्वस्तु के प्रति सचेत बन जाती है।

सामाजिक जीवन के विभिन्न और प्रायः दर्शन से असंबद्ध पहलुओं के अपने विश्लेषण में हेगेल बेशक दर्शन तथा ग़ैर-दार्शनिक अध्ययनों और सामाजिक चेतना के दूसरे रूपों – धर्म, कला, नैतिकता – के बीच मूल संबंध की उपेक्षा नहीं कर सकते। नव-युग के दर्शन का वर्णन करते हुए वह स्पष्टतः लिखते हैं : "प्रायोगिक विज्ञानों के स्वतंत्र विकास के बिना दर्शन प्राचीन दार्शनिकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता था" (64, *15*,283)। लेकिन यह स्वीकृति प्रणाली के ढांचे में ठीक-ठीक नहीं बैठती और अतः दार्शनिक विकास की प्रेरक शक्तियों के बारे

में उपयुक्त सैद्धांतिक निष्कर्षों पर नहीं ले जाती : दार्शनिक प्रणालियों को सूत्रबद्ध करनेवाला ऐतिहासिक अनुक्रम प्राकृतिक या सामाजिक विज्ञानों के लिए कोई स्थान नहीं रखता।

नव-युग के प्राकृतिक विज्ञानों से प्रत्यक्षतः संबद्ध यांत्रिक विश्व-दृष्टिकोण ने दर्शन के विकास में बड़ी भूमिका अदा की। पर हेगेल इस तथ्य पर बहुत कम ध्यान देते हैं, स्पष्टतः इस वजह से कि वह यांत्रिक दृष्टिकोण के आलोचक हैं। उनके 'प्रकृति का दर्शन' में प्राकृतिक विज्ञानों से निकाले गये अनेक द्वंद्वात्मक निष्कर्ष हैं। लेकिन चूंकि ये विज्ञान भौतिकवादी पूर्वाधारों से आगे बढ़ते हैं, इसलिए हेगेल दर्शन से उनके संबंधों का सही मूल्यांकन नहीं कर पाते। वह दर्शन की अवधारणा को अधिकतम सीमा तक विस्तारित करते हैं तथा इसमें मीमांसात्मक ढंग से प्राकृतिक विज्ञानों को सम्मिलित करके इसे एक सर्वग्राही विज्ञान मानते हैं। इस तरह, वह दर्शन के विकास के लिए प्राकृतिक विज्ञानों के (और सामाजिक विज्ञानों के भी) महत्व को स्वीकार करते हैं। लेकिन यह स्वीकृति ऐसे शब्दों में सूत्रित की जाती है कि ठोस विज्ञान ही अपनी महत्वपूर्ण उपलब्धियों के लिए दर्शन के ऋणी प्रतीत होते हैं। हेगेल ग़ैर-दार्शनिक कार्यकलापों (व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों ही) और दर्शन के बीच परंपरागत वैषम्य को चरम सीमा तक ले जाते हैं जिससे दर्शन के इतिहास पर उनका सिद्धांत प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

हेगेल दार्शनिक ज्ञान के विकास के लिए ठोस विज्ञानों के महत्व को कम करके अपेक्षित रूप से धर्म की भूमिका को बढ़ा-चढ़ा कर आंकते हैं। हेगेल की दृष्टि में, चूंकि दर्शन मूलतः प्रत्ययवाद है, इसलिए यह धर्म से अंतर्वस्तु में उतना भिन्न नहीं जितना कि रूप में है। यदि 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' में हेगेल दावा करते हैं कि दर्शन का अस्तित्व केवल वहीं तक है, जहां तक वह अपने को धार्मिक चेतना से अलग करता है, तो 'धर्म का दर्शन' में प्रायः उस मूलभूत अंतर पर लीपा-पोती करते हैं, जो प्रत्ययवाद के लिए भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है, और यह भी कहते हैं कि दर्शन और धर्म तद्रूप हैं। इस तद्रूपता के द्वंद्वात्मक स्वरूप के बारे में उनकी बातें इसे विश्वसनीय बनाने में सफल नहीं हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि दर्शन और धर्मशास्त्र के विषयों के तादात्म्य को सिद्ध करने के हेगेल के तर्क अधिकांशतया गौण हैं। इससे भी बढ़कर, वह सिद्ध करते हैं कि दर्शन धर्म से स्वतंत्र है। हेगेल के विचार में, धर्म यह दावा नहीं कर सकता कि उसका विषय दर्शन के विषय से उच्च स्थान पर है। दर्शन ज्ञान के सोपानक्रम के सर्वोच्च सोपान पर है, क्योंकि उसका सर्वोच्च विषय दिव्य है। दर्शन धर्म से उच्च है, क्योंकि जो चीज़ धर्म में कल्पना व भावना (और हेगेल उनके संज्ञानात्मक मूल्य को महत्वहीन समझते हैं) का विषय है, वह दर्शन में धारणात्मक ज्ञान का विषय है। अत: आश्चर्य नहीं कि हेगेल के जीवन-काल में धर्मशास्त्रियों ने उनके तर्क-वितर्कों को दर्शन की धृष्टता तथा धर्मशास्त्र के परमाधिकारों को हथियाने के प्रयास के रूप में देखा।

हेगेल ने दर्शन के इतिहास का सिद्धांत निरूपित करके उसे एक विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास का आधार बनाया है। यह मूलत: द्वंद्वात्मक सिद्धांत दार्शनिक ज्ञान के विकास का सिद्धांत है, जो अपनी बारी में दर्शन के विश्व-इतिहास के हेगेल के ठोस और सुव्यवस्थित अध्ययन के आधार का काम करता है। वह दर्शन के विकास की व्याख्या प्रकृति तथा समाज में विकास के रूपों से मूलत: भिन्न विकास के एक विशिष्ट रूप में करते हैं। परस्पर-विरोधी सिद्धांतों का अस्तित्व एवं संघर्ष दर्शन के विकास की मुख्य विशिष्टता है। हेगेल के अनुसार, उनका संघर्ष उनकी अंतर्वस्तु के परस्पर संबंध अथवा एक सिद्धांत से दूसरे में अनिवार्य संक्रमण को असंभव नहीं ठहराता। दर्शन के इतिहास की परस्पर-विरोधी एकता की अवधारणा तथा ऐतिहासिक निरंतरता की द्वंद्वात्मक समझ हेगेल के दर्शन के इतिहास की महानतम उपलब्धियां हैं।

हेगेल का प्रत्ययवाद उनके दर्शन की सभी उपलब्धियों को विरूपित कर देता है। विकास की प्रत्ययवादी व्याख्या उस अवधारणा को विकृत करती है तथा उसे धर्मशास्त्रीय प्रणाली के अधीन करती है, जो दर्शन के विकास की वास्तविक प्रेरक शक्तियों को बहिष्कृत करती है और अंतिम विश्लेषण में दर्शन के इतिहास की अधिभूतवादी व्याख्या के साथ द्वंद्ववाद का मेल बैठाती है। हेगेल की अधिभूतवादी प्रणाली दर्शन

के इतिहास की एकतरफ़ा व्याख्या प्रस्तुत करती है, जो भौतिकवादी दृष्टिकोण के विकास के अध्ययन को नज़रअंदाज़ करती है; अतः यह भौतिकवाद और प्रत्ययवाद के संघर्ष – दार्शनिक विकास की मूल अंतर्वस्तु – की उपेक्षा करती है। दर्शन के इतिहास के दो मौलिक आयामों की सर्वबुद्धिवादी अवधारणा, इसकी तार्किक-सैद्धांतिक व्याख्या का सत्तामीमांसीकरण, दर्शन का चिंतन के चिंतन में रूपांतरण, जिसे विषयी-तत्व के स्तर तक ऊपर उठाया जाता है – यह सब हेगेलीय दर्शन के धर्मशास्त्रीय पूर्वाधारों तथा निष्कर्षों के साथ दर्शन के वास्तविक इतिहास को विकृत करता है और परम प्रत्ययवाद की सीमाओं में असमाधेय अंतर्विरोधों तथा दक़ियानूसी (और अंशतः प्रतिक्रियावादी) विचारधारात्मक निष्कर्षों का स्रोत है।

मार्क्सवादी दर्शन ने दर्शन के इतिहास की हेगेलीय अवधारणा से विकृत खोल को हटा दिया; उसने केवल इसके मूल दोषों को ही नहीं, बल्कि महत्वपूर्ण खोजों, उपलब्धियों तथा अंतर्दृष्टियों को भी प्रकट किया, जिनके आलोचनात्मक आत्मसात्करण और विकास ने दर्शन के इतिहास के एक वैज्ञानिक सिद्धांत के सृजन में सहायता की।

दर्शन के इतिहास की नवीनतम बहुवादी अवधारणा की आलोचना

दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता विगत में भी और वर्तमान में भी दर्शन के विकास की विशेषता रही है। इसके महत्व को दर्शन के विशिष्ट पहलुओं, इसके विषय और विचारधारात्मक कार्य के विकासक्रम, दार्शनिक भ्रांतियों के ज्ञानमीमांसीय तथा वर्गीय कारणों, मौलिक विज्ञानों की प्रणाली में दर्शन के स्थान और कला, धर्म तथा सामाजिक चेतना के अन्य रूपों के साथ इसके संबंध का अध्ययन करके ही सही-सही समझा और वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है। एकमात्र यही दृष्टिकोण दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता को महज़ इंद्रियानुभविक रूप से सुस्पष्ट लेकिन वैज्ञानिक रूप से अव्याख्येय तथ्य के रूप में नहीं, बल्कि समाज के आत्मिक जीवन की एक ऐसी परिघटना के रूप में स्पष्ट करता है, जो ऐतिहासिक रूप से आवश्यक तथा अनित्य दोनों ही है।

आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक और दर्शन के इतिहासकार बहुधा दार्शनिक सिद्धांतों की बढ़ती हुई विविधता को असाधारण दार्शनिकों की अपनी-अपनी आत्मनिष्ठ रचनात्मकता में बद्धमूल एक अपूर्व प्रक्रिया के रूप में पेश करते हैं। लेकिन यह तथ्य कि दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता उनकी परस्पर-विरोधी एकता को अस्वीकार नहीं करती और अंतिम विश्लेषण में यह भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद की मूलभूत प्रतिस्थापना में परिणत हो जाती है, दर्शन में ऐतिहासिक प्रक्रिया की इस आत्मवादी व्याख्या को झूठा सिद्ध कर देता है।

दार्शनिक ज्ञान का ऐतिहासिक विकास भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान और दूसरे विज्ञानों के विकास से मूलतः भिन्न है, वैसे ही जैसे दर्शन इन सभी विज्ञानों से अनुसंधान के विषय और विधियों में भिन्न है। फिर भी, इस मौलिक भिन्नता को निरपेक्ष नहीं बनाना

चाहिए, जैसा कि आम तौर से आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक और दर्शन के इतिहासकार करते हैं। दर्शन के इतिहास का अध्ययन केवल तभी वस्तुतः फलप्रद होता है, जब दर्शन के इतिहास और विज्ञान के इतिहास के बीच संबंध को मात्र भिन्नता के रूप में ही नहीं, बल्कि एक द्वंद्वात्मक एकता के रूप में भी समझा जाये। अध्ययन-विधि से संबंधित केवल यही एकमात्र ऐसा दृष्टिकोण है, जो वास्तव में सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक गैर-दार्शनिक कार्यकलाप के प्रति दर्शन के विरोध को सचमुच समाप्त कर देता है। इस तरह का विरोध सारे पूर्व-मार्क्सवादी और खास तौर से प्रत्ययवादी दर्शन की विशेषता है। यहां तक कि द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद के दार्शनिक भी इससे नहीं बच सके। यह विरोध दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत आत्मगत राय नहीं, बल्कि दर्शन तथा विशिष्ट विज्ञानों के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया की एक वस्तुगत विशेषता है। यह तथ्य कि यह विरोध, जो अपने ऐतिहासिक औचित्य से कभी का वंचित हो चुका है, आधुनिक दर्शन में न केवल बना रहा है बल्कि और भी तेज़ हुआ है, उस संकट का जीता-जागता उदाहरण है, जिससे प्रत्ययवादी दर्शन गुज़र रहा है।

वैज्ञानिक दर्शन की स्थापना की आवश्यकता की नींव रखते हुए पूर्व-मार्क्सवादी क्लासिकीय दार्शनिकों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि दार्शनिक सिद्धांतों की बढ़ती विविधता एक अस्थायी प्रक्रिया है। उदाहरण के लिए, फ़िख़्ते का विश्वास था कि "केवल एक ही दर्शन का अस्तित्व है, वैसे ही जैसे कि एक गणितशास्त्र है और जैसे ही इस एकमात्र संभव दर्शन की खोज हो जायेगी और उसे मान्यता मिल जायेगी, वैसे ही नये दर्शनों का प्रकट होना बिल्कुल बंद हो जायेगा तथा सभी पूर्ववर्ती तथाकथित दर्शनों को केवल प्रयासों और प्रारंभिक कार्यों के रूप में माना जायेगा" (52,3,3)। इसलिए उन्होंने अपने सिद्धांत को "दर्शन को विज्ञान के स्तर तक उठाने" के रूप में माना। स्पष्टतः, फ़िख़्ते का यह दावा ग़लत था कि एक वैज्ञानिक दर्शन की स्थापना दर्शन के और आगे विकास का, और फलतः दार्शनिक वाद-विवाद का अंत कर देगी। लेकिन उस परिस्थिति के ऐतिहासिक रूप से अनित्य स्वरूप के संबंध में उनका विचार, जिसे बाद में "दार्शनिक प्रणाली की अराजकता" कहा गया, ऐतिहासिक

दार्शनिक समस्या के वैज्ञानिक समाधान का उत्कृष्ट पूर्वानुमान है।

क्लासिकीय दार्शनिकों के विपरीत दर्शन के इतिहास के आधुनिक बुर्जुआ सिद्धांतकार यह साबित करने की कोशिश करते हैं कि कला (और बेशक धर्म) की भांति दर्शन अपनी प्रकृति के अनुसार विज्ञान नहीं हो सकता और नहीं होना चाहिए और कि वैज्ञानिक दर्शन के निर्माण की कोई भी कोशिश मानव-अस्तित्व के इस मूलत: अवैज्ञानिक "आत्मिक पद्धति" के अनूठे अर्थ और महत्व की उपेक्षा है। स्विस दार्शनिक आंद्रे मेर्स्ये ने १५वीं विश्व दर्शन कांग्रेस में कहा, "दर्शन विज्ञान नहीं है... विज्ञान न तो कोई दर्शन, न ही सामान्यत: दर्शन है" (87,25)। मेर्स्ये जैसे सिद्धांतकार वैज्ञानिक दर्शन की संभावना को अस्वीकार करते हैं, दार्शनिक सिद्धांतों की विविधता को दार्शनिक चिंतन की परम स्वतंत्रता की प्रामाणिक अभिव्यक्ति मानते हैं और पूर्व-मार्क्सवादी क्लासिकीय दार्शनिकों की आलोचना उनपर यह आरोप लगाते हुए करते हैं कि दर्शन के एक विज्ञान की स्थापना करने के उनके प्रयास आशावादी चिंतकों की अव्यावहारिक कल्पनाजन्य भ्रांतियां थे, जिन्हें इतिहास का कटु अनुभव नहीं था। ऐसा है "प्रमाण" उस दृष्टिकोण का, जो दार्शनिक ज्ञान की प्रगति से संबंधित विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास को नकारता है और वैज्ञानिक विश्व-दर्शन की संभावना से ही इन्कार करता है।

इस निषेधात्मक प्रवृत्ति ने बहुत-से फ़्रांसीसी, इतालवी और पश्चिम जर्मन दार्शनिकों द्वारा दर्शन के इतिहास के अध्ययनों में अपनी धारणात्मक अभिव्यक्ति पायी, जो अपनी इस प्रवृत्ति को "दर्शन के इतिहास का दर्शन" कहते हैं। मार्तियल गेरू को इस प्रवृत्ति का नेता माना जाता है, जो देकार्त, लीबनिज़, फ़िख़्ते, मालब्रांश, माइमोन तथा दर्शन के इतिहास की अध्ययन-विधि पर अनेक निबन्धों के लेखक हैं। गेरू के समर्थकों और अनुयायियों में हेनरी गुइए, पाल रिकेर, एफ़० ब्रुन्नेर, फ़्रांको लोम्बार्दी और वी० गोल्दश्मीद्त शामिल हैं।

स्पष्टतया, "दर्शन के इतिहास का दर्शन" नाम में भ्रम या संदेह पैदा करनेवाली कोई चीज़ नहीं है। इस नाम के संस्थापक, और इससे भी बढ़कर, अपने तरह के पहले और एकमात्र "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के रचयिता हेगेल ही थे, जिन्होंने पहले-पहल दर्शन के

इतिहास के एक दार्शनिक सिद्धांत को विकसित किया। लेकिन ऊपर जिन सिद्धांतकारों का उल्लेख किया गया है, वे इस तथ्य के बारे में कोई ज़िक्र नहीं करते, क्योंकि उनका सिद्धांत दार्शनिक ज्ञान के विकास के हेगेलीय सिद्धांत का उल्टा है। बात यह है कि हेगेल ने दर्शन के इतिहास की एकता – स्पष्टतः अंतर्विरोधी एकता – के सिद्धांत की पुष्टि अपने युग के उस प्रधान विचार की असंगति को सिद्ध करके की, जिसके अनुसार दर्शन की अनेकानेक परस्पर-निषेधक प्रणालियों के बीच मूलतः कोई संबंध नहीं है तथा वे दर्शन के विकास की एक, यद्यपि कि बहुविध प्रक्रिया के विभिन्न पहलू नहीं हैं। गेरू के दृष्टि-कोण से, इसका अर्थ एक विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास की संभावना को ही नकारना होगा। वह दावा करते हैं कि हेगेल के दर्शन का इतिहास "उसी तथ्य का उन्मूलन कर देता है, जिसे वह सिद्ध करने का दावा करता है" (60,59)।

ब्रुन्नेर के अनुसार, हेगेल का दर्शन का इतिहास "दार्शनिक विविधता की समस्या का निरंकुश हल है" (40,193), क्योंकि हेगेल दार्शनिक सिद्धांतों की स्वायत्तता से इन्कार करते हैं और दर्शन के इतिहास को दर्शनों की वास्तविक विविधता के उत्तरोत्तर उन्मूलन की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के रूप में चित्रित करते हैं। गोल्दश्मीद्त हेगेल पर "दर्शन के इतिहास की साम्राज्यवादी व्याख्या" (57a,40) का आरोप लगाते हैं, क्योंकि वह दार्शनिक प्रणालियों की निर्विवाद स्वतंत्रता का अतिक्रमण करते हैं और दर्शन की प्रत्येक प्रणाली का ऐतिहासिक रूप से निश्चित युग की आत्म-चेतना के रूप में वर्णन करते हुए उन्हें दार्शनिक ज्ञान के ऐतिहासिक विकास के अधीन करते हैं। आधुनिक "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के प्रवक्ताओं के लिए, जैसा कि हम देखते हैं, दार्शनिक सिद्धांतों के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण पूर्णतः अमान्य है।

लोम्बार्दी के अनुसार (देखिये 79), हेगेल ने न केवल प्लेटो के सत्य को, बल्कि अरस्तू के सत्य को भी अर्थ प्रदान करने की कोशिश की, जिसके फलस्वरूप वह सभी चिंतकों को मानव-ज्ञान के मंदिर में भ्रांतियों की गैलरी में योगदानकर्ताओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परंतु इस सूरत में यह बिल्कुल साफ़ है कि ये चिंतक हेगेल के प्रत्यय

के सिद्धांत की स्थापना करनेवाली धारणा के केवल विशेष "घटकों" के रूप में अपनी स्वायत्तता खो देते हैं। लोम्बार्दी स्पष्टत: हेगेल के दर्शन के इतिहास के सिद्धांत को अतिसरलीकृत करते हैं। हेगेल ने अपने दर्शन को पूर्ववर्ती दर्शन के विकास का परिणाम माना और इसके ज़रिये दिखाया कि वह दर्शन के पूर्ववर्ती कार्य को जारी रख रहे तथा पूरा कर रहे हैं। हेगेल की यह मान्यता ग़लत थी कि उनकी प्रणाली दर्शन के विकास का अंत है, लेकिन लोम्बार्दी दार्शनिक प्रणालियों के बहुवाद को दर्शन के अस्तित्व का एकमात्र संभव रूप मानते हुए दार्शनिक ज्ञान के विकास को बिल्कुल ही ठुकरा देते हैं।

दर्शन के जर्मन इतिहासकार गोत्तफ़्रिद मार्तिन भी यही भूल करते हैं, परन्तु वह दर्शन के इतिहास की बहुवादी व्याख्या का श्रेय केवल हेगेल को देते हैं। मार्तिन के अनुसार, "द्वंद्ववाद परस्पर-विरोधी निर्णयों को भी समान रूप से सारगर्भित मानता है। इस अर्थ में यह परस्पर-विरोधी निर्णयों की विविधता को मानता है। यहां से परस्पर-विरोधी दर्शनों की विविधता की स्वीकृति दूर नहीं है। यही प्लेटो और हेगेल ने किया। यह तथ्य है कि अनेकानेक परस्पर-विरोधी दर्शनों का अस्तित्व है और कि वे दृष्टत: हमेशा एक दूसरे के विरुद्ध संघर्षरत रहेंगे। लेकिन द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से यह तथ्य एक दोष नहीं, बल्कि एक आवश्यकता है। दर्शन के लिए यह महत्वपूर्ण है कि बहुत-से दर्शनों का अस्तित्व हो। दर्शन केवल दर्शनों की विविधता के रूप में ही अस्तित्वमान हो सकता है" (85,283)। स्पष्ट है कि मार्तिन हेगेल के दर्शन के इतिहास की अवधारणा की ग़लत व्याख्या करते हैं। विविध दार्शनिक सिद्धांतों के अस्तित्व की स्वीकृति से दर्शन के इतिहास की बहुवादी व्याख्या तक काफ़ी लंबा रास्ता है। और हेगेल दर्शन के इतिहास के प्रति एकत्ववादी (द्वंद्वात्मक-एकत्ववादी) दृष्टिकोण के समर्थक थे।

"दर्शन के इतिहास के दर्शन" के विचारधारात्मक उद्देश्य स्पष्ट हैं। ऐतिहासिकता के सिद्धांत के साथ ही यह ऐतिहासिक भौतिकवाद से भी इन्कार करता है, जिसकी व्याख्या दर्शन की मौलिक कृतियों को उनके आविर्भाव के तात्कालिक ऐतिहासिक कारणों के समरूप करते हुए अनगढ़ समाजवैज्ञानिक अवधारणा के रूप में की जाती है। "दर्शन के इतिहास का दर्शन" चेतना से स्वतंत्र भौतिक परिस्थितियों के एक

साधारण परिणाम के रूप में दर्शन (और सामान्यतः सामाजिक चेतना के किसी भी रूप) के बारे में इस दृष्टिकोण के मुक़ाबले में, जो मार्क्सवाद पर ग़लत ढंग से आरोपित किया जाता तथा उससे पूर्णतः असंबद्ध है, सभी ग़ैर-दार्शनिक चीज़ों से दर्शन की स्वतंत्रता के प्रत्ययवादी सिद्धांत को रखता है, जो इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को अस्वीकार करता है। उदाहरण के लिए, ब्रुन्नेर इन निष्कर्षों पर पहुंचते हैं, जब वह लिखते हैं: "यदि हेगेल अपनी प्रणाली के घटकों के रूप में दर्शनों का पुनर्नामकरण करते हुए उनकी स्वायत्तता को नष्ट करते हैं, तो मार्क्स और भी आगे जाते हैं: वह स्वयं दर्शन को दर्शन के रूप में उसकी स्वाभाविक स्वायत्तता से वंचित करते हुए नष्ट कर देते हैं। दर्शन, जो कभी सर्वोत्तम विद्या हुआ करता था, मानव के सामाजिक जीवन की अनुघटना में परिवर्तित हो जाता है" (40,194)। "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के अन्य अनुयायियों की भांति ब्रुन्नेर अब भी सुदूर विगत के प्रवर्गों में सोचते हैं। वह दर्शन को एक महाविज्ञान के रूप में मानते हैं, जिसे "निम्नतर" वैज्ञानिक ज्ञान की उपेक्षा करने का हर अधिकार है। स्पष्टतः मार्क्सवाद दर्शन की इस व्याख्या को दृढ़तापूर्वक ठुकरा देता है, जो दार्शनिक ज्ञान के कारगर विकास में एक बाधा बन गयी है।

उल्लेखनीय है कि दर्शन की स्वायत्तता के सिद्धांत को प्रत्ययवाद भी अस्वीकार करता है, अगर यह आत्मिक जीवन के अन्य रूपों (विज्ञान, कला) से दर्शन के संबंध और धर्म पर अपनी निर्भरता को स्वीकार करता है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि बेल्जियन प्रत्ययवादी दार्शनिक अल्फ़ोन्स दे वाल्लान्स अपने लेख 'दर्शन और ग़ैर-दर्शन' में दर्शन की परिभाषा "ग़ैर-दार्शनिक अनुभव पर चिंतन" के रूप में करते हैं तथा "दर्शन और ग़ैर-दर्शन के बीच अटूट संबंध" पर ज़ोर देते हैं (96,*6*,12)। लेकिन इसमें वाल्लान्स दर्शन की एक ऐसी नव-थोमसवादी अवधारणा पेश करते हैं, जो इसे धर्म से प्रत्यक्षतः जोड़ देती है।

अतः, "दर्शन के इतिहास के दर्शन" की सैद्धांतिक धारणाएं दर्शन के इतिहास की एकता, वैज्ञानिक दर्शन की संभावना तथा दर्शन के विकास को अस्वीकार करती हैं। इसके एक अनुयायी के अनुसार,

"दर्शन के इतिहास का दर्शन" "आमूल परिवर्तनवादी प्रत्ययवाद" है। यह बेशक द्वंद्ववाद-विरोधी प्रत्ययवाद है, जो अधिभूतवादी ढंग से एक सर्वविदित तथ्य – गणितशास्त्र, भौतिकविज्ञान और अन्य विज्ञानों के इतिहास से दर्शन के इतिहास की भिन्नता – की व्याख्या करना है। इन विज्ञानों में से प्रत्येक अपने संघटक अंगों की एक अपेक्षाकृत सामंजस्यपूर्ण प्रणाली बनाता है। आधुनिक भौतिकविज्ञान और क्लासिकीय यांत्रिकी के बीच अंतर उनकी एकता के ढांचे में विद्यमान है, जो अपनी प्रक्रिया को एक नियम के अधीन प्रकट करती है, जिसे नील्स बोर ने संगति का नियम कहा। बेशक संगति का नियम दार्शनिक प्रणालियों के बीच संबंध पर नहीं लागू होता।

प्रत्येक विज्ञान का विकास ऐसे सत्यों की बढ़ोत्तरी, संचय को द्योतित करता है, जिन्हें अंततः वैज्ञानिक ज्ञान के क्षेत्र-विशेष के सभी विशेषज्ञ स्वीकार करते हैं। वैज्ञानिक विकास में नयी अवस्था वह आगे का क़दम है, जो पूर्ववर्ती अवस्था की सीमाओं पर विजय पाता है। यह सही है कि प्राकृतिक विज्ञानों में पुरातन के समर्थक अक्सर नूतन के विरुद्ध लड़ते हैं, बावजूद इसके कि उसकी सत्यता तथ्यों से पहले ही सिद्ध हो चुकी होती है। पर दर्शन में स्थिति अतुलनीय रूप से अधिक जटिल है, जिसके विकास का अर्थ हमेशा यह नहीं है कि नयी दार्शनिक प्रणाली ने अपनी पूर्ववर्ती प्रणाली को मात कर दिया है।

मार्तियल गेरू इन सभी तथ्यों की आत्मगतवादी ढंग से व्याख्या करते हैं, जो विशेष ज्ञानमीमांसीय अध्ययन की मांग करते हैं। वह मात्र घोषणा करते हैं कि विज्ञान के विगत (दर्शन के विगत के विपरीत) का अपने वर्तमान द्वारा निरंतर अवमूल्यन होता जाता है। इसलिए दर्शन तथा विज्ञान एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं, बावजूद इस तथ्य के कि प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली वैज्ञानिक ज्ञान की किसी भी प्रणाली की भांति सत्य का अन्वेषण करती है। फिर भी, असल बात यह है कि प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली सभी दूसरी दार्शनिक प्रणालियों को ग़लत मानती है, जब कि गेरू के विचार में, सत्य पर अपने दावे में वे सभी समान रूप से सही होती हैं। विज्ञान के इतिहास में हर नयी उपलब्धि पूर्ववर्ती उपलब्धि पर आधारित और उससे आगे बढ़ी हुई होती है। "दर्शन के इतिहास का दर्शन" इस तथ्य को वैज्ञानिक

उपलब्धियों के निरंतर अवमूल्यन के रूप में देखता है। उदाहरण के लिए, हेनरी गुइए घोषणा करते हैं कि "एकमात्र निर्विवाद तथ्य यह है कि आज का विज्ञान कल के विज्ञान की अवमानना करता है, जब कि आज का दर्शन कल के दर्शन की अवमानना नहीं करता" (59,111)। बेर्गसनियन जिल्बेर्त मेर के अनुसार, दर्शन कभी भी कालातीत नहीं होता। "अरस्तू और देकार्त के भौतिकविज्ञान मर चुके हैं लेकिन उनके दर्शन फल-फूल रहे हैं" (81,19)। मेर "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के समर्थक नहीं हैं। पर उनके विचार उस संप्रदाय के विचारों से काफ़ी मिलते-जुलते हैं। "दर्शन के इतिहास का दर्शन" ऐसे बहुत-से बुर्जुआ दार्शनिकों के विचारों को व्यक्त करता है, जिनका उसके समर्थकों के अपेक्षाकृत छोटे हलक़े से कोई संबंध नहीं है।

स्पष्टतः ऐसे तर्क विज्ञान के वास्तविक इतिहास का खंडन करते हैं। न्यूटन की यांत्रिकी की अवमानना नहीं की जाती, न ही प्राकृतिक विज्ञानों की अन्य वास्तविक उपलब्धियों की। यह दूसरी बात है कि विगत की वैज्ञानिक उपलब्धियों की जगह नयी उपलब्धियों ने ले ली है। इस तथ्य का मिथ्या निरूपण करते हुए और इस बात पर एकतरफ़ा ज़ोर देते हुए कि विगत में प्रस्तुत अनेक दार्शनिक प्रश्न अब भी अपना सामयिक महत्व बनाये हुए हैं, "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के समर्थक दर्शन तथा विज्ञानों के बीच एक अभेद्य दीवार खड़ी करते हैं। मिसाल के लिए, पश्चिम जर्मनी के हेनरी रोमबाख़, जो इस संप्रदाय से संबंध रखते हैं, यहां तक दावा करते हैं कि "दर्शन एक कालसापेक्ष परिघटना नहीं है... वह काल के ढांचे में नहीं विकसित होता; वह स्वयं ही सभी आत्मिक घटनाओं के लिए बाह्य ढांचे की रचना करता है..." (93,13)। इस तरह, "दर्शन के इतिहास का दर्शन" दर्शन का धर्मशास्त्र बन जाता है।

दर्शन के इतिहास और विज्ञान के विकास के बीच मौलिक अंतर को पूर्ण बनाते हुए गेरू इस प्रश्न का उत्तर देने (बेशक, शुद्ध परिकल्पनात्मक तर्क के द्वारा) का प्रयास करते हैं कि क्यों विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास की वैधता हमेशा संदेह का विषय रही है और आज भी है? वह हमें यक़ीन दिलाना चाहते हैं कि यह इस वजह से है कि हमेशा दर्शन पर विज्ञान से ऐसी कसौटियां लेकर लागू की गयी

हैं, जिनसे उसका कोई संबंध नहीं रहा है। दर्शन की तुलना उस विज्ञान से की जाती रही है, जिसके महानतम मूल्य उसकी नवीनतम उपलब्धियां हैं, क्योंकि वे उन उपलब्धियों का स्थान ले लेती हैं, जो विगत में प्राप्त की गयी थीं। यह दृष्टिकोण स्पष्टतः वैज्ञानिक ज्ञान के विकास को अतिसरल बनाता है, उसे ऐसे नये परिणामों के मात्र संचय में परिणत करता है, जो विगत के परिणामों से उच्चतर होते हैं। लेकिन आपेक्षिकता सिद्धांत और क्वांटम यांत्रिकी २० वीं सदी के भौतिकविज्ञान की महानतम उपलब्धियां बनी हुई हैं, बावजूद इसके कि उनके बाद भी कई अन्य असाधारण खोजें हुई हैं। विज्ञान के विकास को विकृत करके गेरू इसकी तुलना दर्शन से करते हैं और दावा करते हैं कि इसका विगत अपने वर्तमान से यदि अधिक नहीं तो कम मूल्यवान नहीं है। वह लिखते हैं, "विज्ञान और इसके इतिहास के दो भिन्न मौलिक विषय हैं: पहला, वैज्ञानिक सत्य, जो कालनिरपेक्ष है; दूसरा, इस सत्य की प्राप्ति, जो कालसापेक्ष है। अतः विज्ञान का इतिहास किसी भी रूप में विज्ञान का अंग नहीं हो सकता। उनके अपने-अपने हित बिल्कुल भिन्न हैं (60,49)। "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के नज़दीकी विद्वान इवोन बेलावाल इस प्रस्थापना को और भी खरे ढंग से व्यक्त करते हैं: "वैज्ञानिक को आगे बढ़ने के लिए अपने विज्ञान के इतिहास की जानकारी की आवश्यकता नहीं होती, वह वर्तमान अवस्था का अध्ययन करता है, वह उससे आगे बढ़ता है और उसे विगत में कोई दिलचस्पी नहीं होती" (43,25)।* गेरू के अनुसार, दर्शन में बात और

---

*दुर्भाग्य से विज्ञान के इतिहास की इस स्पष्ट अवमानना में प्राकृतिक विज्ञानों के कुछ इतिहासकार भी सहभागी हैं। मिसाल के लिए, अलेक्सांद्र कोयरे के अनुसार, "कॉपेर्निकस या न्यूटन के खगोलविज्ञान में अब किसी को भी दिलचस्पी नहीं रह गयी है, आधुनिक दुनिया में उनका कोई महत्व नहीं है; ठीक इसी चीज़ में तो विज्ञान का इतिहास दर्शन के इतिहास से भिन्न है। और हमारा विश्वास है (इस बात पर विस्तारपूर्वक बहस किये बिना कि यह विचार किस हद तक प्रामाणिक है) कि अरस्तू और प्लेटो के सिद्धांत आज भी अपना महत्व बनाये हुए हैं" (59,111)

ही है, जो हमेशा अपने विगत पर दृष्टिपात करता है। चूंकि प्राचीन और बाद के दर्शन दोनों ही आज भी अपना महत्व बनाये हुए हैं, इसलिए उनके संस्थापक वस्तुतः हमारे समकालीन हैं। वर्तमान और विगत की प्रतिमुखता को, जो विज्ञान के इतिहास में इतनी स्पष्ट है, ऐसे वर्णित किया जाता है जैसे कि दर्शन में इसका बहुत कम महत्व हो। गेरू जोर देते हैं, "दर्शन और इसके इतिहास की अविभाज्यता इस इतिहास के तथ्य की एक आवश्यक विशेषता है" (60, 47)। लेकिन अगर दर्शन और इसका इतिहास वास्तव में अविभाज्य हैं और एक दार्शनिक प्रणाली को दूसरी से अलग करनेवाली सहस्राब्दि का कोई महत्व नहीं है, तो कालसापेक्ष वास्तविक प्रक्रिया के रूप में, मौलिक रूप से भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में दर्शन का इतिहास कैसे संभव हो सकता है? "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के दृष्टिकोण से एक ऐतिहासिक युग से दूसरे में संक्रमण का क्या महत्व है? यह इन प्रश्नों का उत्तर उत्कृष्ट दार्शनिक कृतियों की संख्या में वृद्धि का हवाला देकर देता है। कांट की दुनिया में कोई हेगेल नहीं थे, लेकिन हेगेल की दुनिया में कांट थे और इस तथ्य ने हेगेल के दर्शन को अनिवार्यतः प्रभावित किया। इस सबका अर्थ यह है कि सभी असाधारण दार्शनिक एक ही युग में नहीं होते। इस तथ्य को "दर्शन के इतिहास का दर्शन" एक मौलिक महत्व प्रदान करता है। लेकिन अगर विशद रूप से व्याख्या की जाये, तो यह तथ्य प्रत्येक दर्शन के कालनिरपेक्ष सारतत्व के बारे में निराधार दावे का पूरा-पूरा खंडन कर देता है। इस प्रत्ययवादी सिद्धांत को बचाने के अपने प्रयास में विचाराधीन धारा के अनुयायी दावा करते हैं कि दार्शनिक कृतियों के पाठकों (या अध्येताओं) के लिए उनके लेखक समकालीन होते हैं, चाहे वे किसी भी काल में रहे हों। लेकिन यह दावा भी निराधार है।

यह समझना कठिन नहीं है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों, उनकी अंतर्वस्तु और रूप के मूल में निहित ऐतिहासिक तथ्यों का निषेध करने का अर्थ है विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास की वैधता पर उंगली उठाना। दार्शनिक सिद्धांतों के ऐतिहासिक मूल्यांकन से रहित दर्शन के इतिहास का अध्ययन स्वयं अपने ही मूलभूत उद्देश्य से

टकराता है। फिर भी गेरू के अनुसार, किसी दार्शनिक सिद्धांत की ऐतिहासिकता उसके शाश्वत मूल्य को अस्वीकार करती है, जिसके बिना वह शब्द के सही अर्थ में एक सच्चा दर्शन नहीं रह जाता। पर दर्शन के वास्तविक इतिहास का अध्ययन दिखाता है कि दार्शनिक सिद्धांत अपने युग के बाद भी वस्तुतः इस वजह से अपना असाधारण महत्व बनाये रखते हैं कि वे एक ऐसे युग-विशेष की उपज होते हैं, जिसने बाद के सामाजिक विकास में सहायता की।

गेरू की राय में, विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास का प्रमाण वैसा ही है, जैसा कि कांट का सुप्रसिद्ध सूत्र : शुद्ध गणितशास्त्र कैसे संभव है? शुद्ध अर्थात सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञान कैसे संभव है? कांट ने, जैसा कि सुविदित है, यह मान कर शुरूआत की कि "शुद्ध" गणितशास्त्र और "शुद्ध" प्राकृतिक विज्ञानों का अस्तित्व है और फिर उनके ज्ञानमीमांसीय पूर्वाधारों की जांच की ओर आगे बढ़े। उनके उदाहरण का अनुसरण करते हुए गेरू दावा करते हैं: "यह कहने का कि दर्शन का इतिहास अस्तित्वमान है, अर्थ असल में केवल यह है कि विगत के दर्शनों के अध्ययन लंबे अर्से से विद्यमान रहे हैं, जिनका उद्देश्य उस काल की दार्शनिक चेतना को उसके मौलिक अर्थ में पुनरुत्पादित करना रहा है, बशर्ते यह मान लिया जाये कि अध्येतागण उनके लेखकों को समझते हैं" (60,47)। कांट ने शुद्ध गणितशास्त्र और शुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों के अस्तित्व को अनुभूति तथा चिंतन के प्रागनुभविक रूपों के अस्तित्व की कल्पना करके सिद्ध किया। गणितशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञानों के बाद के इतिहास ने इस कल्पना का पूर्णतः खंडन कर दिया। तो भी, इतिहास से दर्शन की स्वतंत्रता से संबंधित प्रत्ययवादी सिद्धांत की रक्षा करने में गेरू दर-असल कांट के प्रागनुभविक दृष्टिकोण की ग़लतियों को ही दुहराते हैं।

गेरू अपने सिद्धांत को "डायनोइमैटिक्स"* कहते हैं, जिसे वह

---

* प्राचीन यूनानी दर्शन में dianoia का अर्थ था "चिंतन", "अवधारणा", "विचार"। प्लेटो के *Timaeus* में dianoema का अर्थ है "चिंतन"। शापेनहार का Dianoiologie चिंतन-क्षमताओं का विज्ञान है। गेरू इसी अर्थ में "डायनोइमैटिक्स" का प्रयोग करते हैं।

"उन परिस्थितियों का अध्ययन करनेवाले" एक विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं, "जिनमें दार्शनिक कृतियां वहां तक संभव हैं, जहां तक उनमें अनश्वर दार्शनिक मूल्य विद्यमान है" (60, 68)। अतः इतिहास से दर्शन की काल्पनिक स्वतंत्रता ही वह परिघटना है, जो दर्शन के इतिहास को विज्ञान के रूप में सभंव बनाती है। लेकिन परिवर्तन की सार्विकता का विरोध करनेवाली इस परिघटना की स्वयं संभावना को कैसे स्पष्ट किया जाये? गेरू को मालूम है कि उनके स्पष्टीकरण को इस दावे में परिणत नहीं किया जा सकता: "अगर कोई भी (दार्शनिकों में से – **लेखक**) अपने सत्य निश्चित रूप से सिद्ध नहीं कर सकता, तो कोई भी दूसरों का निश्चित रूप से खंडन नहीं कर सकता" (60, 50)। यह तर्क, गेरू जोर देते हैं, किसी भी ऐसे संशयवादी को स्वीकार्य होगा, जो दावा करता है कि सभी दार्शनिक सिद्धांत सारहीन हैं। लेकिन कार्य, संशयवादियों के विपरीत, यह सिद्ध करने में निहित है कि सभी दार्शनिक सिद्धांत – बेशक जहां तक वे मौलिक प्रणालियां हैं – काल से पूर्णतः अप्रभावित आत्मिक मूल्य हैं। "विज्ञान के रूप में दर्शन के इतिहास की संभावना की समस्या अपने को इस विज्ञान के विषयों की संभावना की समस्या में, यानी एक संभव इतिहास के स्थायी विषयों के रूप में दर्शनों की संभावना की इंद्रियातीत समस्या में, संक्षेप में, ऐसे दर्शनों की विविधता के रूप में दर्शन की संभावना की समस्या में बदल देती है, जो परस्पर रूपांतरित या नष्ट नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे दार्शनिक मनन के लिए शाश्वत रूप से मूल्यवान बने रहते हैं" (60, 51)।

इस तरह, प्रत्येक दर्शन के शाश्वत मूल्य के बारे में स्थापना को सिद्ध करने के लिए गेरू न केवल दार्शनिक ज्ञान की प्रगति को बल्कि इस तथ्य को भी अस्वीकार कर देते हैं कि एक दर्शन उन समस्याओं को हल (या कम से कम पेश) कर सकता है, जिन्हें दूसरी प्रणाली हल या पेश करने में असमर्थ रही है। गेरू के कुछ अनुयायी तो इससे भी आगे चले जाते हैं। ब्रुन्नेर के अनुसार, दर्शन एक दूसरे से टकराये बिना अस्तित्वमान हो सकते हैं, क्योंकि वे यथार्थ की सच्ची या झूठी अनुकृतियां नहीं हैं" (40, 198)। शब्द "अनुकृति" यहां स्पष्टतः असंगत है, क्योंकि ब्रुन्नेर इस चीज़ से भी इन्कार करते हैं कि दर्शन सच्चे या झूठे

हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि दर्शन वस्तुगत वास्तविकता के अध्ययन नहीं हैं तो फिर वे क्या हैं? ब्रुन्नेर उन्हें मात्र "कला के विषय" कहते हैं (40,198)। इस प्रकार, दार्शनिक संज्ञान की विश्व के कलात्मक दर्शन से तथा दार्शनिक प्रणालियों की फ़ीडियस, राफ़ाएल, चाइ-कोव्स्की आदि की कृतियों से तुलना की जाती है। बेशक, दर्शन के प्रति इस "कलात्मक" दृष्टिकोण से यह स्पष्ट करने की आशा नहीं की जाती कि कौन-से दार्शनिक सिद्धांत सही हैं और कौन-से ग़लत। लेकिन समाधान अत्यधिक महंगा है: उसमें वास्तविकता की सौंदर्यात्मक अनुभूति और दर्शन के बीच मूलभूत अंतर को मानने से इन्कार करना पड़ता है। दर्शन, जैसा कि विदित है, कलाकारों का सृजन बिल्कुल नहीं है। कवि के विपरीत दार्शनिक बिंबों के रूप में नहीं, बल्कि धारणाओं के रूप में संज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करता है। कवि अक्सर गहन दार्शनिक विचारों तक पहुंच जाते हैं, लेकिन दार्शनिक काव्यात्मक रचनाओं का सृजन नहीं करते। प्रतीत होता है कि इसी कारण से गेरू आम तौर से कलाकृतियों के साथ दर्शनों की तुलना का विरोध न करते हुए भी अत्यधिक सीधे दृष्टिकोण को संशोधित करना आवश्यक समझते हैं।

गेरू के अनुसार, दर्शन को सत्य की आकांक्षा से अलग करके नहीं देखा जा सकता, जो सभी सच्चे दार्शनिकों को प्रेरित करती है। यह आकांक्षा महज़ ऐसी आत्मगत मनोदशा नहीं है, जो दर्शनों की उस अन्तर्वस्तु को मलिन करती हैं, जो वास्तविक तो है पर सच्ची कदापि नहीं। समस्या वास्तव में यह है कि सत्य की इस सहज आकांक्षा की विशिष्ट सिद्धि के रूप में प्रत्येक दर्शन को कैसे समझा जाये। लेकिन यदि बात ऐसी ही है तब स्पष्टत: दर्शनों की एक दूसरे से तथा वैसे ही प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों से तथा ऐतिहासिक अनुभव और व्यवहार से तुलना की जानी चाहिए, क्योंकि केवल इसी तरीक़े से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कितने सही ढंग से यह या वह दर्शन यथार्थ को समझता है। पर गेरू ठीक इसी चीज़ को नामंजूर कर देते हैं और यह दावा करते हैं कि वैज्ञानिक सत्यों से मूलत: भिन्न और पूर्णत: स्वतंत्र दार्शनिक सत्यों का अस्तित्व है और दार्शनिक सत्य विज्ञान से परे विशेष प्रकार के यथार्थ पर आधारित

होता है। दर्शन का विषय समग्रतः सभी प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के विषय की एकदम विपरीत स्थिति में रख दिया जाता है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि दार्शनिक को वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती और वैज्ञानिक दार्शनिक खोजें करने में असमर्थ हैं। तर्कों का ऐसा परिवर्तन-प्रतिवर्तन गेरू के लिए आवश्यक है, ताकि वह वैज्ञानिक खोजों की उपेक्षा करने के दार्शनिकों के जिस अधिकार की घोषणा करते हैं उसे उचित ठहरा सकें। यह समझना कठिन नहीं है कि इस "अधिकार" का निगमन विज्ञान के विकास सहित ऐतिहासिक विकास से दर्शन की स्वतंत्रता के बारे में एक मिथ्या पूर्वाधार से किया जाता है। गेरू के अनुसार, दार्शनिक सत्य और इसकी आकांक्षा के एक आधार का अस्तित्व है और यह अस्तित्व दार्शनिक की इच्छा से (पर उसकी चेतना से नहीं) स्वतंत्र है। इस स्थापना को उचित ठहराने के लिए वह दैनंदिन यथार्थ के विपरीत, जिसे वह वैज्ञानिक अध्ययन के एक विषय के रूप में देखते हैं, दार्शनिक यथार्थ की अवधारणा का निर्माण करते हैं। वह इस तथ्य की व्याख्या कि विज्ञान ने लंबे समय पहले सामान्य अनुभव की सीमाओं को पार कर लिया है, इस अर्थ में करते हैं कि ये सीमाएं क्रमशः बढ़ती जा रही हैं, लेकिन यह चीज़ सामान्य अनुभव को तथाकथित अधिवैज्ञानिक दार्शनिक यथार्थ के निकट नहीं लाती। यह सारा तर्क-वितर्क धर्मशास्त्रियों के इस दावे से मिलता-जुलता है कि उनके "अध्ययन" का विषय इहलोक नहीं है।

अतः गेरू दावा करते हैं कि दर्शन अपने को सामान्य यथार्थ से अलग कर लेता है और एक दूसरे, गहन यथार्थ की ओर मुड़ता है। इससे भी बढ़कर दर्शन का निर्माण इसी यथार्थ से संबंधित है, जबकि ठोस सामान्य यथार्थ कठोर दार्शनिक आलोचना का विषय बन जाता है।

गेरू दावा करते हैं कि दर्शनों के बीच अंतरों को उस सामान्य यथार्थ के समक्ष सफ़ाई देने की आवश्यकता नहीं है, जिसे दार्शनिक चिंतन संदेहास्पद समझता है। अतः सामान्य यथार्थ को न कि दर्शन को बुद्धि के समक्ष अपनी सफ़ाई पेश करनी चाहिए। दर्शन सामान्य यथार्थ में वल्कि इसकी दूसरी ओर से उसके संज्ञेय सार, दार्शनिक यथार्थ की खोज करता है। सामान्य यथार्थ के विपरीत दार्शनिक यथार्थ दार्शनिक निर्णय से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है, जो स्वतंत्र तो है लेकिन यादृच्छिक नहीं,

क्योंकि हमेशा और हर जगह (यहां तक कि अतर्कबुद्धिवादियों के बीच भी) यह तर्कसंगति पर आधारित है और तर्क ही इसका बौद्धिक अस्त्र है।

गेरू के लिए सामान्य यथार्थ बाह्य, इंद्रियों द्वारा ग्राह्य गोचर जगत् नहीं है। वह इस धारणा को इस हद तक विस्तारित करते हैं कि उसकी परिधि में वे सभी चीज़ें शामिल हो जाती हैं, जिनका ग़ैर-दर्शन अध्ययन करता और संज्ञान प्राप्त करता है। अतः इस तथाकथित सामान्य यथार्थ के बारे में ज्ञान अनुभव या व्यवहार पर आधारित ज्ञान से मिलता-जुलता है। और इस यथार्थ ज्ञान के विरोध में, जिसके प्रति मानवजाति बहुत आभारी है, जिसके बिना आधुनिक सभ्यता असंभव होती, यथार्थ से स्वतंत्र, आत्म-निर्भर समष्टि के रूप में, प्रागनुभविक पूर्वाधारों के ज़रिये अपना निर्धारण करनेवाले चिंतन के बंद जगत् के रूप में विवेचित महान दर्शन खड़े कर दिये जाते हैं। ब्रुन्नेर इस अवधारणा को चिदणुवादी यथार्थवाद कहते हैं। प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली को लीबनिज़ के चिदणु से मिलती-जुलती किसी चीज़ के रूप में कम से कम इस अर्थ में प्रस्तुत किया जाता है कि वह प्रत्यय के एक बंद जगत् को बनाता है। दार्शनिक सत्ता की रचना भी करता है और उसका अवबोधन भी, जो उसके मनन का विषय है। यथार्थ की समस्याएं, जिनका दर्शन अध्ययन करता है, ब्रुन्नेर के अनुसार, प्लेटो के इंद्रियातीत विचार-जगत के सदृश हैं, जो हर किसी की पहुंच में होनेवाली इंद्रियगोचर वस्तुओं के जगत का विरोध करता है। इस तरह, सभी महान दर्शनों की मूलभूत समानता के बारे में अपने सभी दावों के बावजूद "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के समर्थक भौतिकवादी प्रणालियों को अस्वीकार करते हैं तथा "प्लेटो की लाइन" यानी प्रत्ययवाद की रक्षा करते हैं। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे प्लेटो के दर्शन का अनुसरण करते हैं। आधुनिक प्रत्ययवाद स्पष्टतः प्लेटो के सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकता, जिसकी रचना २००० साल पहले की गयी थी। और "दर्शन के इतिहास का दर्शन" इस अतिशंसित दार्शनिक यथार्थ को बोधगम्य विचारों के जगत् के रूप में प्रस्तुत करता है, चाहे उनकी सत्तामीमांसीय स्थिति कुछ भी क्यों न हो।

प्लेटो ने अपनी प्रणाली की मूलभूत अवधारणाओं को मिथकों की सहायता से स्पष्ट किया। "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के कुछ समर्थक भी यही करने की कोशिश करते हैं। उदाहरणार्थ, इस प्रवृत्ति के एक सबसे अधिक सुसंगत अनुयायी अल्बेर्त वाग्नेर दे रेइना अपने लेख 'मिथक, इतिहास और रहस्य' में ईसाई धर्मशास्त्र की भावना में दावा करते हैं कि "मिथक सत्य का शब्द है, क्योंकि यह विश्वास का शब्द है" (97, 24) । मिथक, वह दावा करते हैं, "वहां तक सच है, जहां तक यह अपने दृष्टिकोण से यथार्थ की खोज करता है" (97, 24) । मिथक की यह स्तुति एक निश्चित धर्मशास्त्रीय अर्थ रखती है। इस अवधारणा के अनुसार, मिथक एक प्रतीक भी नहीं, बल्कि ब्रह्मांडीय सत्य का एक चिह्न है, जो मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान के माध्यम से प्रकट होता है। मिथक में संकेतबद्ध संपूर्ण अर्थ उससे कहीं बहुत अधिक बड़ा है, जिसे शब्दों में समझा या व्यक्त किया जा सकता है। मतलब यह कि मिथक "सत्ता को, इंद्रियातीत के सार को, 'ब्रह्मांड' के सार को प्रकट करता है" (97, 23-24) । मिथक आपरिहार्य है, क्योंकि मनुष्य के लिए अपने दर्शन को तर्क या विज्ञान की भाषा में व्यक्त करना असंभव है, जिसमें बाहर से आत्मानुध्यान एक असाध्य और निरर्थक काम है" (97, 25) । मिथक को केवल अलंकारों और प्रतीकों में ही व्यक्त किया जा सकता है। इसे चिंतन द्वारा नहीं समझा जा सकता, इसका महत्व इसमें है कि यह इसपर विश्वास करनेवाली चेतना को उस इंद्रियातीत यथार्थ में स्थानांतरित कर देता है, जिसे यह सूचित करता है।

स्पष्टतः, "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के सभी अनुयायी अमूर्त ऐतिहासिक-दार्शनिक निर्णयों से "ठोस" धर्मशास्त्रीय वक्तव्यों की ओर इतनी दृढ़तापूर्वक आगे नहीं बढ़ते। अतः "दर्शन के इतिहास के दर्शन" को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए हमें इसके तथाकथित पांडित्यपूर्ण तर्कों और उन तथ्यों (या जो कम से कम तथ्य प्रतीत होते हैं) पर पुनः लौटना उपयुक्त होगा।

गेरू और उनके समर्थकों के अनुसार, दर्शन के इतिहास के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक विधि को सख़्ती से प्रयोग करना चाहिए। फिर भी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए हमेशा ज़ोर दी जानेवाली यह मांग वास्तव

में एक विशिष्ट औपचारिकता ही प्रतीत होती है, क्योंकि यह उन अध्ययन-विधियों के मूल्यांकन को पूर्णतः अस्वीकार करती है, जो यह देखने के लिए लागू की जाती हैं कि वे वस्तुगत यथार्थ और तदनुरूप वस्तुगत सत्य को कैसे प्रतिबिंबित करती हैं। इस संबंध में पॉल रिकेर द्वारा दी गयी वैज्ञानिक वस्तुगतता की परिभाषा महत्वपूर्ण है : "यहां हमें वस्तुगतता को उसके निश्चित ज्ञानमीमांसीय अर्थ में समझना चाहिए ; वस्तुगत वह है, जिसे सुव्यवस्थित चिंतन द्वारा विकसित किया गया हो, जिसे क्रमबद्ध ढंग से पेश किया और समझा गया हो और जो दूसरों के लिए भी स्पष्ट हो सके। यह भौतिक तथा जैविक विज्ञानों के बारे में सही है ; यह इतिहास के बारे में भी सही है" (92, 26)। अध्ययन की वस्तुगतता की तकनीकी मांगों तक यह सीमितता, हालांकि वे बेशक आवश्यक हैं, रिकेर को इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि ऐतिहासिक (और सर्वोपरि, ऐतिहासिक-दार्शनिक) अध्ययन अपनी ज्ञानमीमांसीय वस्तुगतता के बावजूद आत्मगत है। लेकिन यह "वैज्ञानिक आत्मगतता" है, जिसे "बैरी मंतव्य की आत्मगतता" से, दूसरे शब्दों में, विवेकहीनता या अयोग्यता से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए।

अनुसंधान के आत्मगत पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन मूल बात इसमें नहीं है कि अनुसंधानकर्ता के आत्मगत दृष्टिकोण को स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है, बल्कि इसमें है कि वस्तुगत सत्य और इसकी कसौटी की सिद्धि के मार्ग को देखा जाये यानी संज्ञान के आत्मगत पहलू तथा आम तौर से मानव आत्मगतता की भौतिकवादी समझ रखी जाये। वस्तुतः इसी चीज़ की "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के अनुयायियों में कमी है, जो उन्हें दर्शन के इतिहास के प्रति आत्मगत दृष्टिकोण पर ले जाती है, बावजूद इसके कि वे "ज्ञानमीमांसीय वस्तुगतता" की मांगों का ईमानदारी से पालन करते हैं। वस्तुगतता का सिद्धांत अर्थात व्यक्तिगत मेधा का सिद्धांत "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के लिए मुख्य अवधारणा है। प्रत्येक दर्शन की सच्ची अंतर्वस्तु तत्व-निरूपण करनेवाले व्यक्ति की अद्वितीय रचनात्मकता की अभिव्यक्ति है, उसके स्वाग्रह का एक साधन है। उदाहरणार्थ, हेनरी गुइए दावा करते हैं : "हमारी दृष्टि में कोई भी 'वाद' दूसरे

'वाद' को जन्म नहीं देता। अगर वारूख (स्पिनोज़ा – **लेखक**) बचपन में ही मर गये होते, तो कोई स्पिनोज़ावाद नहीं हुआ होता (59, 20)।

वास्तव में, "दर्शन के इतिहास का दर्शन" केवल पुराने प्रत्ययवादी विचारों को नये ढंग से प्रस्तुत करता है। हमारे युग के आरंभ में विलियम जेम्स ने दावा किया कि "आपमें से प्रत्येक का अपना एक दर्शन है..." (71, 3)। उन्होंने भौतिकवाद और प्रत्ययवाद, तर्कबुद्धिवाद और इंद्रियानुभववाद के बीच संघर्ष को तथा दार्शनिकों के बीच सभी अन्य मतभेदों को स्वभावों के बेमेलपन में बदल दिया। यह विचार, जो स्पष्टतः शापेनहार के सिद्धांत में प्रकट हुआ, आगे चलकर यथार्थ की एक शुद्धतः आत्मगत दृष्टि के रूप में दर्शन की अस्तित्ववादी अवधारणा पर ले गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दर्शन में निरंतरता का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक दर्शन स्वतः एक दूसरे दर्शन को जन्म देता है। लेकिन गुइए इस सरल (कम से कम मार्क्सवादियों के लिए) सत्य से एक बिल्कुल ही अतर्कसंगत निष्कर्ष निकालते हैं कि विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों की अंतर्वस्तु मात्र अपने प्रणेताओं के रचनात्मक व्यक्तित्व को ही पुनरुत्पादित करती है। वह इस चीज़ को नज़रअंदाज कर देते हैं कि रचनात्मक व्यक्तित्व केवल दर्शन या कला की ही नहीं, बल्कि विज्ञान और मानव कार्यकलाप के दूसरे क्षेत्रों की भी एक विशेषता है। यह संयोग की बात नहीं थी कि आइंस्टीन ने आपेक्षिकता के सिद्धांत की रचना की। लेकिन इस चीज़ ने इस सिद्धांत की, जो वस्तुगत सत्यों की प्रणाली है, **अंतर्वस्तु** को कोई ख़ास प्रभावित नहीं किया।

बेशक, गुइए और दर्शन की **आत्मगत** व्याख्या के अन्य पक्षधर इस तर्क को नहीं स्वीकार कर सकते, क्योंकि वे दर्शन को विज्ञान के और दर्शन के इतिहास को विज्ञान के इतिहास के मुक़ाबले में रखते हैं। गुइए विभिन्न दर्शनों में वस्तुगत और आत्मगत, व्यक्तिगत और सामूहिक के बीच अंतर करने से एकदम इन्कार करते हैं। यही कारण है कि वह उस सुस्पष्ट तथ्य को अस्वीकार करते हैं कि स्पिनोज़ा का भौतिकवादी सर्वेश्वरवाद उन विचारों का विकास है, जिन्होंने एक पूरी की पूरी ऐतिहासिक अवधि में निश्चित रूप धारण किया। गुइए

के अनुसार, "देकार्तवाद, मालब्रांशवाद, कोम्तवाद और बेर्गसांवाद हमें रेने देकार्त, निकोला दे मालब्रांश, ओग्यूस्त कोम्त तथा आंरी बेर्गसां का हवाला देते हैं' (59,20)। उनकी राय में, वह सिर्फ़ ऐसे अकाट्य तथ्यों को पेश कर रहे हैं, जो सिद्ध करते हैं कि दर्शन अवधारणात्मक चिंतन की एक पूर्णतः वैयक्तिक विधि है। पर ऐसे वक्तव्य इस आधारहीन पूर्वानुमान से आगे बढ़ते हैं कि देकार्त, मालब्रांश, कोम्त और बेर्गसां ने सामाजिक शून्य में काम किया, कि उनके दर्शनों ने कोई वास्तविक सामाजिक-ऐतिहासिक आवश्यकताएं नहीं व्यक्त कीं और कि उन्होंने अपने युग के ऐतिहासिक अनुभव या वैज्ञानिक उपलब्धियों को आत्मसात् नहीं किया। लेकिन "रचनात्मक क्रमविकास" के बारे में बेर्गसां का सिद्धांत डार्विन के क्रमविकास सिद्धांत की असंगत व्याख्या तथा आइंस्टीन के आपेक्षिकता सिद्धांत पर हमला था।

दर्शन के इतिहास की आत्मगत व्याख्या का पूर्वाधार उस "दार्शनिक यथार्थ" की आत्मगत व्याख्या के मूल में है, जिसके बारे में हमने ऊपर चर्चा की है। दर्शन मूलतः अतुलनीय घोषित किये जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक दर्शन मानो अपनी ही दुनिया का अध्ययन करता है। गुइए के अनुसार, "दार्शनिकों के बीच मतभेद सांयोगिक नहीं हैं: वे सारे दर्शन के मूल में हैं। विभिन्न दर्शनों का अस्तित्व इस वजह से है कि दार्शनिकों के दृष्टि-क्षेत्र में एक और वही दुनिया नहीं होती; दार्शनिकों के बीच मतभेद उनके दर्शनों के आगे-आगे चलते हैं: उनके विचारों में कोई सहमति नहीं होती क्योंकि वे एक और उसी तथ्य से आगे नहीं बढ़ते" (59, 42)। इस स्थापना की निकट से जांच इस निष्कर्ष पर ले जाती है कि "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के दृष्टिकोण से स्वयं दार्शनिक ही उस दार्शनिक यथार्थ का निर्माण करते हैं, जिसके द्वारा इस स्कूल ने दर्शन के इतिहास की बहुवादी अवधारणा को पुष्ट करने का प्रयास किया। तब फिर दर्शनों को जो शाश्वत और अतः अंतर्गविषयिक महत्व प्रदान किया जाता है उसको कैसे स्पष्ट किया जाये? यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है।

"दर्शन के इतिहास के दर्शन" के प्रतिनिधि आत्मगतता की अवधारणा का कोई वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं करते। न ही वे आत्मगतता और आत्मगतवाद के बीच अंतर करते हैं। वे

इस चीज़ को बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर देते हैं कि एक मानव विषयी के दूसरे से वास्तविक अंतर के रूप में आत्मगतता में एक वस्तुगत अंतर्वस्तु होती है। लेनिन के शब्दों में, "आत्मगत और वस्तुगत के बीच अंतर तो है, **पर इसकी भी अपनी सीमाएं हैं**" (10,38,98)। जहां तक गुइए का संबंध है, वह दार्शनिक की आत्मगतता को एक सत्तामीमांसीय स्थिति प्रदान करते हैं: आत्मगतता दार्शनिक की व्यक्तिगत दुनिया का स्रोत है।

रिकेर की दृष्टि से, एक असाधारण दार्शनिक की सच्ची आत्मगतता उसके सिद्धांत को उसकी मेधा की एक स्वतंत्र रचना बनाती है, एक ऐसी रचना, जो अन्य वैसी ही मेधावी दार्शनिक रचनाओं से पूर्णतः स्वतंत्र होती है। इस दृष्टि से, दर्शन के इतिहास के अध्ययन का कार्यभार प्रत्येक दर्शन को अधिकतम "विशिष्ट बना" पाना, इसकी अद्वितीयता क़ायम करना है, जो इसे दार्शनिक विचार की कतिपय विशिष्ट प्रक्रिया में शामिल नहीं होने देगी। इस सिद्धांत के अनुसार भौतिकवाद, प्रत्ययवाद, तर्कबुद्धिवाद तथा अतर्कबुद्धिवाद, आदि की अवधारणाएं मात्र अलग-अलग दर्शनों की अद्वितीयता को धुंधला बनानेवाले कृत्रिम प्रवर्ग हैं, जो उनका वर्गीकरण करना असंभव बनाते हैं। यह दृष्टिकोण दर्शन के इतिहास में व्यवधान, सापेक्ष स्वाधीनता और अद्वितीयता के चरणों को निरपेक्ष बनाता है। लेकिन इनमें से प्रत्येक चरण अपनी विपरीत प्रवृत्तियों से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है यानी असततता आवश्यक रूप से सततता को उपलक्षित करती है और, स्वाधीनता आधीनता की और अद्वितीयता अनुक्रमण की पूर्वकल्पना करती है। महान दर्शनों के पूर्ण बेमेलपन के बारे में सारतः अविवेकपूर्ण विचार को निरपेक्ष बनाते हुए रिकेर इस चीज़ तक को अस्वीकार करते हैं कि उनमें बहुतों की आम समस्याएं एक हो सकती हैं। उनकी राय में, दर्शन के लंबे इतिहास में दार्शनिक समस्याओं की सापेक्ष एकता तक का अंगीकरण भी अनिवार्यतः संशयवाद पर ले जाता है, जिससे वह सहमत नहीं हो सकते। "ठीक-ठीक कहें तो दर्शन का इतिहास संशयवाद का एक सबक़ है, यदि इसे उन अपरिवर्तनीय समस्याओं के विभिन्न समाधानों की शृंखला के रूप में देखा जाये, जिन्हें शाश्वत (स्वतंत्रता, बुद्धि, यथार्थ, आत्मा, ईश्वर, आदि)

कहा जाता है" (92,57)। लेकिन स्पष्टतः वह इस चीज़ को नहीं समझते कि दर्शन के इतिहास में सततता की अस्वीकृति भी संशयवाद पर ले जाती है, जो दावा करता है कि दार्शनिक न तो अपने पूर्ववर्तियों से सीख सकते हैं, न ही अपने उत्तराधिकारियों को सिखा सकते हैं। स्वयं रिकेर भी वस्तुतः इस वजह से दार्शनिक संशयवाद के निकट हैं (हालांकि वह स्वीकार नहीं करते हैं) कि वह संशयवादियों की भांति ही दार्शनिक समस्याओं की विरासत के विचार को अस्वीकार करते हैं।

विगत में, दर्शन के इतिहासकारों ने आम तौर से कहा कि सभी दार्शनिकों ने हमेशा एक समान "शाश्वत" समस्याओं को प्रस्तुत और हल करने की कोशिश की थी। दर्शन के इतिहास का वर्णन विचारों तथा असमाधेय समस्याओं के एक बंद चक्र के रूप में किया जाता था। इस परंपरागत अवधारणा के विपरीत, जिसकी भ्रांतिपूर्ण प्रकृति को हेगेल ने पहले ही प्रकट कर दिया, "दर्शन के इतिहास का दर्शन" सामान्यतः अस्वीकार करता है कि विभिन्न दर्शनों द्वारा विवेचित दार्शनिक समस्याओं में कोई समानता है। एक अधिभूतवादी छोर से दूसरे पर, दार्शनिक समस्याओं की सामान्यता से उनके "विशिष्टीकरण" पर अथवा जैसा कि इतालवी अस्तित्ववादी निकोला अब्बान्यानो कहते हैं, उनके "वैयक्तिकीकरण" पर इस छलांग को कैसे स्पष्ट किया जाये? इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त विवरण से सुस्पष्ट है। "दर्शन के इतिहास का दर्शन" वैज्ञानिक दर्शन के विचार पर हमला करता है, जिसकी रक्षा पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन की एक प्रगतिशील विशेषता थी। इस दार्शनिक स्कूल की दृष्टि से (और अधिकांश आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक सिद्धांतों की दृष्टि से) दर्शन तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई मेल नहीं है। "विज्ञानवाद" के ख़िलाफ़ संघर्ष का यही कारण है, जिसमें एकतरफ़ा वैज्ञानिक विशेषीकरण के कुछ नकारात्मक परिणामों की आलोचना तथा सामान्यतः वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि के रूप में विज्ञान के महत्व की अस्वीकृति का एक अत्यंत परस्पर-विरोधी संयोजन प्रकट होता है। अतः मार्क्सवाद के ख़िलाफ़ आधुनिक बुर्जुआ दर्शन का संघर्ष वैज्ञानिक दर्शन की अवधारणा, वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि की अस्वीकृति में व्यक्त होता है वैसे ही जैसे कि समाजवाद की अनिवार्यता की बुर्जुआ

अस्वीकृति सामान्यतः ऐतिहासिक अनिवार्यता की निषेधवादी अस्वीकृति में व्यक्त होती है।

रिकेर अपने को दार्शनिक समस्याओं की ऐतिहासिक निरन्तरता की अस्वीकृति तक ही सीमित नहीं करते। वह दार्शनिक समस्याओं के किसी भी समाधान पर ऐसे हमला करते हैं मानो यह दर्शन का कार्य न हो : दर्शन केवल प्रश्नों को पेश करता है, इसे उनका उत्तर नहीं देना चाहिए। इसलिए एक दार्शनिक की मौलिकता और रचनात्मक प्रतिभा उन प्रश्नों के उत्तर में नहीं व्यक्त हो सकती, जिन्हें उसके पूर्ववर्तियों ने पेश किया था। उसकी प्रतिभा केवल इस चीज़ में व्यक्त होती है कि वह समस्याओं को नये ढंग से पेश करता है और उत्तर कम महत्वपूर्ण तथा ग़ैर-दार्शनिक व्यक्तियों से आते हैं।

स्पष्टतः दर्शन के विकास में समस्या को सही रूप में पेश करना बड़ा महत्व रखता है। सुविदित है कि विश्व की एकता, मूलतत्व, भूतद्रव्य की स्वगति, सत्य की कसौटी आदि के बारे में प्रश्नों को पेश करना कितना महत्वपूर्ण है। एक बड़ी हद तक दर्शन का विशिष्ट स्वरूप इस चीज़ से उत्पन्न होता है कि यह ऐसी नयी समस्याओं को पेश करता है, जिनपर पहले कोई ध्यान नहीं दिया गया था और जिनके समाधान के लिए हमेशा आवश्यक वैज्ञानिक आंकड़े उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः यह साफ़ है कि दार्शनिक समस्याएं पेश करने के तरीक़े में ही संज्ञान का विकास निहित है और यहां अगर स्वयं उत्तर महत्वपूर्ण नहीं है, तो बहरहाल यह उसपर पहुंचने के संभव मार्गों की ओर संकेत है। लेकिन दर्शन न केवल प्रश्नों को पेश करता है, बल्कि यह उनका उत्तर भी देता है। यह और बात है कि ये उत्तर, जैसा कि दर्शन का इतिहास प्रमाणित करता है, अक्सर बहुत अवैज्ञानिक थे। फिर भी, यह चीज़ इसके लिए आधार नहीं प्रस्तुत करती कि उनके महत्व को कम करके आंका जाये। अगर इन उत्तरों में सत्य का एक अंश भी है, तो भी यह प्रगति है। दार्शनिक समस्याएं किसी भी विज्ञान-विशेष के विशिष्ट प्रश्नों से मूलतः भिन्न होती हैं, क्योंकि उनका हल विज्ञान, व्यवहार तथा ऐतिहासिक अनुभव द्वारा प्रस्तुत बहुविध आंकड़ों की मांग करता है और अतः यह किसी विशिष्ट प्रयोग पर, सीमित आंकड़ों तथा सैद्धांतिक पूर्वाधारों पर आधारित नहीं हो सकता।

"दर्शन के इतिहास का दर्शन" केवल वैज्ञानिक दर्शन की संभावना तथा आवश्यकता से ही इन्कार नहीं करता। यह वस्तुओं की प्रकृति में सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि के उच्चतम रूप की शक्ल में अवैज्ञानिक दृष्टिकोण की (स्पष्टत: अवैज्ञानिक प्रत्ययवादी दर्शन की) प्रशंसा करता है। वस्तुत: अवैज्ञानिकता की यह पूजा, जिसे सैद्धांतिक विवेक की एक प्रामाणिक अभिव्यक्ति के रूप में पेश किया जाता है, सैद्धांतिक संज्ञान के उच्चतम रूप, विज्ञान को नीचा दिखाने का प्रत्ययवादी प्रयास है।

गेरू कांट पर इस बात का आरोप लगाते हैं कि उन्होंने अधिभूतवाद (दर्शन) के महत्व को विज्ञान होने की उसकी क्षमता से आंकने की कोशिश की। पर गेरू की धारणा के अनुसार, अपने अवैज्ञानिक स्वरूप के बावजूद सभी अधिभूतवादी प्रणालियां शाश्वत मूल्य से संपन्न हैं। गेरू शिक्षा देते हैं कि वह चीज़, जो एक दर्शन को शाश्वत बौद्धिक महत्व प्रदान करती है, इसके सही निर्णयों में नहीं, बल्कि उस "सत्ता की पूर्णता" में निहित होती है, जिसने इसमें अपनी वैयक्तिक अभिव्यक्ति पायी।

"जीवन-दर्शन" के एक जर्मन संस्थापक विल्हेल्म दिल्ते के अनुसार, दर्शन का इतिहास मानव-जीवन की तात्विकता और असंगति को व्यक्त करता है। इसकी आवेगशील, संवेदनशील और स्वत:स्फूर्त प्रकृति सुव्यवस्थित अनुक्रम तथा नियमितता से लेशमात्र मेल नहीं खाती, जो निर्जीव पदार्थों की विशेषता हैं। अत: दिल्ते की राय में, दर्शन के इतिहास को केवल दर्शनों की अराजकता के रूप में ही समझा जा सकता है; प्रत्येक दर्शन किसी ऐतिहासिक युग-विशेष के लिए अनिवार्य जीवन-आत्मा को बौद्धिक रूप से पुनरुत्पादित करता है; उसे सही या ग़लत नहीं कहा जा सकता: उसका स्वयं जीवन की भांति ही अस्तित्व है। यद्यपि "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के प्रतिनिधि दिल्ते के विश्व-दृष्टिकोणों की ऐतिहासिकता और विशिष्टता का खंडन करते हैं, वे भी वैसे ही दर्शन के इतिहास की बहुवादी धारणा को पुष्ट करने की कोशिश करते हैं, जो यह दावा करते हुए ब्रुन्नेर की प्रगति की खोखली कल्पना को अस्वीकार करती है कि विकास की धारणा को सामान्यत: दर्शन के इतिहास पर नहीं लागू किया जा सकता।

दर्शन के इतिहास के अधिक गहन विश्लेषण का समर्थन करने का

दम भरते हुए और संज्ञान तथा मानवजाति के आत्मिक जीवन के एक रूप की हैसियत से दर्शन की विशिष्टता का विशदीकरण करते हुए गेरू और उनके अनुयायी दर्शन के महत्व को विवादास्पद बनाते हैं व वैज्ञानिक दार्शनिक ज्ञान के आदर्श से इन्कार करते हैं, जिसे दर्शन के संपूर्ण इतिहास ने जन्म दिया। लेकिन स्वयं "दर्शन के इतिहास के दर्शन" को दर्शनों के ऐसे निर्माताओं के पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण से ऊपर उठनेवाले एक सच्चे विज्ञान के रूप में देखा जाता है, जो सभी अन्य दर्शनों का वस्तुगत रूप से मूल्यांकन करने में असमर्थ हैं। ब्रुन्नेर के अनुसार, "ऐतिहासिक अध्ययन के विषय को एक विषय ही रहना चाहिए और यह गुण इतिहासकार की निष्पक्षता द्वारा प्रत्याभूत होना चाहिए। विधि की यथातथ्यता मांग करती है कि दर्शनों की जांच ऐसी बाह्य वस्तुओं के रूप में की जानी चाहिए, जिनपर इतिहासकार द्वारा शांतिपूर्वक मनन किया गया हो" (40,184-85)। इस तरह, "दर्शन के इतिहास के दर्शन" को दार्शनिक ज्ञान के इतिहास में एक अद्वितीय स्थान दिया जाता है। यह कथित रूप में एक निष्पक्ष, तटस्थ निर्णयकर्ता है। ब्रुन्नेर के अनुसार, दर्शन के इतिहासकार को न तो उस विचार-प्रणाली का समर्थक, न ही विरोधी होना चाहिए, जिसका वह अध्ययन करता है। किसी दर्शन-विशेष से लगाव दर्शन के इतिहासकार को उन कठिनाइयों की उपेक्षा करने को विवश करता है, जिनपर यह दर्शन क़ाबू पाने में असमर्थ है तथा उसे अध्ययन के विषय के प्रति आलोचनात्मक रुख से वंचित करता है, जो अध्येता के लिए इतना महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टिकोण से, किसी दार्शनिक सिद्धांत के प्रति अनुरक्ति का अर्थ है उस सिद्धांत के प्रति अनालोचनात्मक दृष्टिकोण तथा सभी दूसरे सिद्धांतों के प्रति भी पूर्वाग्रहपूर्ण रुख अपनाना। इस संबंध में, ब्रुन्नेर १९वीं सदी के मध्य के दर्शन के इतिहासकार एदमोंद शेरेर का हवाला देते हैं, जिन्होंने लिखा: "दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे लिए वह पराया हो ताकि हम उसपर बाहर से विचार कर सकें" (40,185)।

यह चीज़ स्वतःस्पष्ट है कि वैज्ञानिक वस्तुगतता के बजाय अपनी व्यक्तिगत मांगों, रुचियों और दिलचस्पियों से निर्दिष्ट होनेवाला अनुसंधानकर्ता सच्चा अनुसंधानकर्ता नहीं हो सकता। वैज्ञानिक सद्विश्वास,

जिसकी यहां चर्चा हो रही है, दर्शन में पक्षधरता से एकदम इन्कार नहीं करता। दार्शनिक (या दर्शन का इतिहासकार) स्वेच्छया पक्षधर या अपक्षधर नहीं हो सकता। दर्शन सहित विज्ञान में पक्षधरता अध्येता की व्यक्तिगत नहीं बल्कि **सामाजिक** स्थिति है और किसी भी तरह की आत्मगत वरीयताओं से स्वभावतः स्वतंत्र होनी चाहिए।

दर्शन में पक्षधरता का अर्थ सर्वोपरि सिद्धांत की एक निश्चित तथा सुसंगत दार्शनिक स्थिति है। अतः प्रमुख दर्शनों का सुसंगत विभेदीकरण और वैषम्य प्रदर्शन दार्शनिक पक्षधरता की आवश्यक अभिव्यक्ति है। लेनिन इसका वर्णन एक ऐसी सैद्धांतिक स्थिति के रूप में करते हैं, जो सारसंग्रहवाद से लेशमात्र मेल नहीं खाती और ज़ोर देते हैं कि "भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद में मेल बैठाने की संकर योजनाओं को मानने से इन्कार करना मार्क्स की महान सेवा है, जो एक स्पष्ट दार्शनिक मार्ग पर **आगे** बढ़े" (10, *14*, 337-38)। यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी पक्षधरता न केवल वैज्ञानिक वस्तुगतता की मांगों का विरोध नहीं करती, बल्कि मूलतः उनसे मेल भी खाती है।

"दर्शन के इतिहास के दर्शन" के प्रतिपादक ठीक ही ज़ोर देते हैं कि दर्शन के इतिहासकार को शब्द के सही वैज्ञानिक अर्थ में इतिहासकार होना चाहिए। पर दर्शन का इतिहासकार दार्शनिक होने से बच नहीं सकता। तब ऐसी स्थिति में "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के मौलिक अभ्युपगम की कैसे व्याख्या की जाये, जिसके अनुसार दर्शन के इतिहासकार का स्थान विगत और वर्तमान में अस्तित्वमान दर्शनों से परे है? दर्शन के इतिहासकारों से अपने को इन सभी दर्शनों से ऊपर रखने की आशा की जाती है, चाहे वे कितने ही सारगर्भित और महत्वपूर्ण क्यों न हों। लेकिन दर्शन का इतिहासकार इसी वजह से दर्शन का इतिहासकार है कि वह दर्शन से परे नहीं होता। इस सुस्पष्ट तथ्य को अंगीकार करते हुए "दर्शन के इतिहास के दर्शन" के समर्थक दर्शन के ऐतिहासिक अध्ययन के अनिवार्य विप्रतिषेध के बारे में बात करते हैं और अंत में अंतर्विरोधों में उलझ जाते हैं।

इन अंतर्विरोधों को हल करने का प्रयास करते हुए "दर्शन के इतिहास का दर्शन" दावा करता है कि अध्ययनाधीन दर्शनों के प्रति आस्था की अस्वीकृति दर्शन के इतिहासकार के लिए दार्शनिक स्थिति की संभाव-

ना की अस्वीकृति नहीं है। वह उतना दार्शनिक नहीं है जितना कि अधि-दार्शनिक। उसकी दार्शनिक स्थिति "दर्शन के इतिहास का दर्शन" या दर्शन का दर्शन यानी दर्शन के इतिहास का दार्शनिक सिद्धांत है।

इस प्रकार, "दर्शन के इतिहास के दर्शन" का आलोचनात्मक विश्लेषण यह निष्कर्ष निकालने की अनुमति देता है कि यह दर्शन के इतिहास की एक प्रत्ययवादी व्याख्या है। जिस अपक्षधरता की इतने ज़ोर-शोर से घोषणा की जाती है, वह अपेक्षित ढंग से छद्म-अपक्षधरता अर्थात प्रच्छन्न बुर्जुआ पक्षधरता निकलती है। इस तरह की पक्षधरता का वास्तव में वैज्ञानिक वस्तुगतता से लेशमात्र मेल नहीं है। हम देख चुके हैं कि "दर्शन के इतिहास के दर्शन" का एक निश्चित विचार-धारात्मक कार्य है। दर्शन के इतिहास की बहुवादी व्याख्या आम तौर से सामाजिक विकास के बहुवादी स्वरूप को पुष्ट करने का प्रयास भी है। पूंजीवाद से समाजवाद में अनिवार्य संक्रमण के बारे में सिद्धांत के मुक़ाबले में यह विचारधारात्मक निष्कर्ष "दर्शन के इतिहास के दर्शन" में केवल अव्यक्त रूप से ही नहीं विद्यमान है। मार्तियल गेरू ने १९६८ में १४वीं विश्व दर्शन कांग्रेस में इसके बारे में प्रत्यक्ष चर्चा की।*

अपने सभी अति-ऐतिहासिक दावों के बावजूद आधुनिक बुर्जुआ "दर्शन के इतिहास का दर्शन" अतर्कबुद्धिवाद की ओर खिंचनेवाले आधुनिक प्रत्ययवादी दर्शन में प्रचलित वास्तविक स्थिति की ऐति-हासिक रूप से निश्चित आत्मगतवादी अभिव्यक्ति है। दर्शनों की अ-राजकता को उचित ठहराना आधुनिक बुर्जुआ दर्शन की एक मुख्य विशेषता है। अतः आश्चर्य नहीं कि विचाराधीन स्कूल के प्रतिनिधि दर्शन के बहुवाद के साथ-साथ "दर्शन के इतिहास के दर्शनों" की किसी भी बहुलता के अस्तित्व को पूर्णतः उचित मानते हैं।

बुर्जुआ दर्शन का संकट, विचारधारात्मक संभ्रांति, सत्य के लिए भावावेग का अभाव, जिससे विगत के महान दार्शनिक ओत-प्रोत

---

*दर्शन के अतर्कबुद्धिवादी इतिहास के अभ्युपगम' शीर्षक लेख में उनकी रिपोर्ट का आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषण किया गया है (31)।

थे, दर्शन के "एकीकरण" के ख़िलाफ़ छद्म-जनवादी प्रतिवाद, जिसे मानो द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कार्यान्वित करता हो, दर्शन को वैज्ञानिक ज्ञान के मुक़ाबले में रखना, दर्शनों के विशिष्ट शाश्वत मूल्य की अतर्क-बुद्धिवादी अवधारणा, जो सत्यता या वैज्ञानिकता से स्वतंत्र है – यह सब बुर्जुआ दर्शन के पतन को पुष्ट करता है। हालांकि "दर्शन के इतिहास का दर्शन" महत्वपूर्ण तथा वास्तविक प्रश्न उठाता है, फिर भी इसका दृष्टिकोण और उत्तर केवल बुर्जुआ दर्शन के संकट पर पर्दा ही डालते हैं, जिसकी प्रशंसा दार्शनिक ज्ञान की प्रकृति से पूरी तरह मेल खानेवाली सामान्य स्थिति के रूप में की जाती है।

दार्शनिक प्रणाली का द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी विचार

मार्क्सवाद मार्क्स के विचारों और शिक्षाओं की प्रणाली है।

ब्ला० इ० लेनिन

मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूं कि मार्क्सवाद का वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण शब्द के पुराने, परंपरागत अर्थ में दर्शन का निषेध है यानी यह दार्शनिक ज्ञान की एक ऐसी पूर्ण **प्रणाली** का निर्माण करने के किसी भी प्रयास का निषेध है, जिसने अपने विषय का सांगोपांग अध्ययन कर दिया हो और जो संज्ञान और सामाजिक जीवन के सभी अनुवर्ती विकास से स्वतंत्र हो। यह एक ठोस, द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी निषेध है, जो दर्शन में उस क्रांति की विशिष्टता को प्रकट करता है, जिसे मार्क्स और एंगेल्स ने द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद यानी **दर्शन की** एक ऐसी **प्रणाली** का निर्माण करते हुए संपन्न किया, जो विगत के सभी दर्शनों से मौलिक रूप से भिन्न है।

मार्क्सवाद के एक सिद्धांत अथवा संघटक अंग को दूसरे के मुक़ाबले में रखने के बुर्जुआ और संशोधनवादी प्रयासों की अपनी आलोचना में लेनिन ने हमेशा ज़ोर दिया कि मार्क्सवाद अखंड वैज्ञानिक प्रणाली है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात मार्क्सवादी दर्शन के बारे में भी सही है, लेकिन न तो इसके बुर्जुआ आलोचक, न ही कुछ (सचमुच बहुत असंगत) मार्क्सवादी इसे समझते हैं। यह बता देना ही काफ़ी है कि २०वीं सदी के प्रारंभ में दर्शन के प्रति मार्क्सवादी रुख़ की प्रायः नकारात्मक रुख़ के रूप में व्याख्या की जाती थी। मिसाल के लिए, कार्ल काउत्स्की ने लिखा : "मैं मार्क्सवाद को एक दर्शन के रूप में नहीं, बल्कि एक इंद्रियानुभविक विज्ञान, समाज के एक विशिष्ट विचार के रूप में देखता हूं" (47,*2*,452)* । मार्क्सवाद के दार्शनिक मूल

---

* कार्ल काउत्स्की की यह अस्वीकृति कि मार्क्सवादी दर्शन का अस्तित्व है, एक इंद्रियानुभविक "वक्तव्य" के रूप में प्रस्तुत होती

सिद्धांतों की इस असंगत "समझ" को याद रखना महत्वपूर्ण है, क्योंकि आज इसे फ़्रैंकफ़ुर्ट सामाजिक अध्ययन स्कूल के सिद्धांतकारों द्वारा पुनरुज्जीवित किया गया है, जो मार्क्स के सिद्धांत की प्रामाणिक व्याख्या (या उनके ही शब्दों में, "पुनर्निर्माण") पेश करने का दावा करते हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक टुटपुंजिया-बुर्ज़ुआ बुद्धिजीवियों के बीच बहुत प्रभावशाली हर्बर्ट मार्कुज़े काउत्स्की की भावना में घोषणा करते हैं कि "मार्क्सवाद एक आर्थिक न कि दार्शनिक प्रणाली है" (82,103)। मार्क्स की उन कृतियों के बारे में, जिन्हें उन्होंने उस काल में लिखा था, जब कि वह अभी अपने सिद्धांत का निर्माण शुरू ही कर रहे थे, जब कि मार्क्सवाद की दार्शनिक समस्याएं सर्वोपरि महत्वपूर्ण थीं, मार्कुज़े का विचार इस प्रकार है: "यहां तक कि मार्क्स की प्रारंभिक रचनाएं भी दार्शनिक नहीं हैं। वे दर्शन के निषेध को व्यक्त करती हैं, हालांकि वे अब भी उसे दार्शनिक भाषा में करती हैं" (83,258)।

मार्क्सवाद के कुछ आलोचक (उदाहरणार्थ, जां हिप्पोलित और जान यवेज़ काल्वेज़) मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा वैज्ञानिक समाजवाद की दर्शन से मूलत: भिन्न सिद्धांतों के रूप में उपेक्षा करते हुए मार्क्सवाद की व्याख्या केवल एक दर्शन के रूप में करते हैं। इसके विपरीत, दूसरे इस बात का हवाला देते हुए कि मार्क्सवाद परंपरागत दर्शनों, शब्द के पुराने अर्थ में सामान्यत: दर्शन का निषेध करता है, मार्क्सवादी दर्शन के अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हैं। लेकिन

है। अत: बुर्ज़ुआ दर्शनों के साथ मार्क्सवाद के "एकीकरण" के ख़िलाफ़ उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। वह स्वयं इतिहास के भौतिकवादी विचार की व्याख्या प्रत्यक्षवाद की भावना में करने की कोशिश करते हैं। एक सामाजिक-जनवादी के इस प्रश्न का कि क्या मार्क्सवाद को माख़वाद के साथ "एकीकृत" किया जा सकता है, काउत्स्की ने उत्तर दिया: "स्पष्टत: यह सिद्धांत प्रत्ययवादी दर्शन से लेशमात्र मेल नहीं खाता, लेकिन यह माख़ के संज्ञान-सिद्धांत का विरोध नहीं करता' (74, 2,452)। यह सिद्ध करता है कि काउत्स्की ने इस तथ्य की उपेक्षा की कि माख़ का दर्शन प्रत्ययवादी था।

मार्क्सवाद के विरोधी इस निषेध के **द्वंद्ववादी** स्वरूप को नज़रअंदाज़ करते हैं। मार्क्सवाद की इस विज्ञान-विरोधी व्याख्या की आलोचना तथा पूर्ववर्ती दर्शनों के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता निम्नलिखित प्रश्न पेश करती है: परंपरागत दर्शनों के मार्क्सवादी निषेध का क्या अर्थ है? एक प्रणाली के रूप में दर्शन का मार्क्सवादी विचार क्या है?

जब मार्क्सवाद परंपरागत दर्शनों का निषेध करता है तो इसका अर्थ यह है कि वह दर्शन को ग़ैर-दार्शनिक (और विशेष रूप से व्यावहारिक) कार्यकलाप तथा ग़ैर-दार्शनिक अध्ययन के **मुक़ाबले में रखने** के तथ्य का निषेध करता है, जो इन सभी दर्शनों के लिए **सामान्य** है। अतिसरलीकरण की ग़लती से बचने के लिए हमें ध्यान में रखना चाहिए कि यह मुक़ाबला, जो सबसे पहले तर्कबुद्धिवादी दर्शनों की विशिष्टता है और जिसकी पूर्व-मार्क्सवादी भौतिकवादियों तथा इंद्रियानुभववादी दार्शनिकों द्वारा कुछ आलोचना भी की गयी, दार्शनिक और ग़ैर-दार्शनिक के बीच स्पष्ट भिन्नताओं को दर्ज करता है। निस्संदेह, ये भिन्नताएं खासी बड़ी हैं, पर दार्शनिक प्रणालियों के प्रणेताओं ने उन्हें निरपेक्ष बना दिया तथा **मूर्त** भिन्नता में निहित तादात्म्य के घटक को निकाल दिया। लेकिन भिन्नता और तादात्म्य द्वंद्वात्मक एकता बनाती हैं और इस वजह से ये दोनों ही इस सहसंबंध के महत्वपूर्ण पहलू हैं। कोनराड श्मिड्ट को एंगेल्स के पत्र में उद्धृत उदाहरण का उपयोग करते हुए कहा जा सकता है कि पुरुष और स्त्री के बीच भिन्नता की वास्तविकता का निहितार्थ उनका वास्तविक तादात्म्य है। लेकिन चंद्रमा से सेब के वृक्ष की भिन्नता सुस्पष्ट और बहुविध होने के बावजूद, अर्थहीन कथन प्रतीत होती है, क्योंकि यह उनमें किसी ठोस तादात्म्य को नहीं दर्शाती। इसका अर्थ यह है कि शब्द "मुक़ाबला" को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से नहीं निकाला जा सकता। इसके विपरीत, बात इसे द्वंद्वात्मक ढंग से समझने तथा इसकी अद्वंद्वात्मक व्याख्या को नामंज़ूर करने की है, जो प्रायः पूर्णतः नकारात्मक है। मूलतः यह **मूर्त** निषेध और **अमूर्त** निषेध के बीच भिन्नता की अधिक सामान्य समस्या की ठोस अभिव्यक्ति है।

पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन में ग़ैर-दार्शनिक और दार्शनिक का मुक़ाबला।

अपनी अतिरंजना के बावजूद निश्चित ऐतिहासिक सीमाओं में उचित था। लेकिन १९वीं सदी में यह कालदोष बन चुका था। एक ओर, दर्शन ने महसूस किया कि अब यह सामाजिक उथल-पुथलों का निष्क्रिय प्रेक्षक बिल्कुल नहीं रह सकता। दूसरी ओर, महान वैज्ञानिक खोजों ने प्रामाणिक ढंग से सिद्ध कर दिया कि दर्शन के लिए ग़ैर-दार्शनिक अध्ययन बड़े महत्वपूर्ण हैं। दार्शनिक बुद्धि ने महसूस करना शुरू किया कि यह शुद्ध, परम तथा आत्ममूल्यांकनकारी चिंतन के रूप में असंगत इंद्रियानुभविक यथार्थ से ऊपर नहीं है। हर ग़ैर-दार्शनिक चीज़ से दर्शन की स्वतंत्रता का भ्रम टूट गया। युवा मार्क्स ने अपनी प्रारंभिक कृतियों में लिखा, "दार्शनिक खुंबियों की भांति ज़मीन से नहीं निकलते, वे अपने समय, अपनी जाति की उपज होते हैं, जिनका अतिसूक्ष्म, मूल्यवान और अदृश्य अमृत दर्शन के विचारों में संकेंद्रित होता है। वही भावना, जो मज़दूरों के हाथों से रेलवे का निर्माण करती है, दार्शनिकों के मस्तिष्कों में दार्शनिक प्रणालियों का निर्माण करती है" (1,*1*,195)।

अत: ग़ैर-दार्शनिक यथार्थ के प्रति दार्शनिक उपेक्षा का विरोध करते हुए मार्क्सवाद ग़ैर-दार्शनिक सिद्धांत तथा उन सभी चीज़ों के विरुद्ध व्यावहारिक राजनीतिक संघर्ष के साथ दर्शन की एकता के ज़रिये इसके रचनात्मक विकास की ऐतिहासिक संभावनाओं को प्रकट करता है, जिनकी दर्शन ने अधिक से अधिक सिर्फ़ कल्पनात्मक ढंग से निंदा की। मार्क्स ने व्यंग्यात्मक ढंग से लिखा : "अब तक दार्शनिकों के पास अपनी मेज़ों में सभी पहेलियों का हल था और बुद्धिहीन दुनिया को केवल अपना मुंह भर खोलना था ताकि पूर्ण ज्ञान के भुने हुए तीतरों को गड़प सके" (1,*3*,142)। मार्क्स मानवजाति की वास्तविक समस्याओं के प्रति अपने आप में बंद और आत्म-संतुष्ट दर्शन के कल्पनात्मक दृष्टि-कोण की निंदा करते हैं। वह मानवजाति के भविष्य के बारे में काल्पनिक विचारणा से इन्कार करते हैं तथा पूंजीवादी यथार्थ की अपनी आलोचना का उपयोग नियमसंगत ऐतिहासिक विकास के अनुसार भविष्य के मार्ग की खोज के लिए करते हैं। मार्क्स यथार्थ की अपनी आलोचना को यथार्थ से स्वतंत्र शक्ति के रूप में नहीं मानते। उल्टे, वह इस आलोचना को बुर्जुआ समाज में सर्वहारा के उभरते मुक्ति-संघर्ष से

जोड़ते है। इस **पक्षधरता** की स्थिति के **वैज्ञानिक** महत्व को परिभाषित करते हुए **मार्क्स** कहते है "हम संसार के सामने मतान्धों की तरह कोई बना-बनाया नया सिद्धांत नहीं रखते : ये रहा सत्य, बस इसके सामने नतमस्तक हो जाइये! हम स्वयं संसार के ही सिद्धांतों के आधार पर नये सिद्धांतो को विकसित करते है" (1.3.144)।

मार्क्स के ये सिद्धांत फ़ायरबाख पर उनकी अंतिम स्थापना के सही अर्थ को अधिक स्पष्ट बना देते है : दार्शनिकों ने केवल दुनिया को विभिन्न रूपों में स्पष्ट करने की कोशिश की, जब कि कार्य इसे बदलने का है। इस स्थापना की नाना ग़ैर-मार्क्सवादी व्याख्याओं का विरोध करने के लिए निम्नलिखित बात पर जोर देना आवश्यक है : मार्क्स ससार की दार्शनिक व्याख्या की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करते। वह दर्शन के कार्य को केवल अस्तित्वमान चीजों की व्याख्या तक **सीमित करने** के विरोधी हैं, क्योंकि ऐसा आत्म-प्रतिबंध दर्शन को यथार्थ के आमूल रूपांतरण के लिए संघर्ष के मुक़ाबले में रखता है। अतः इस स्थापना का सही अर्थ एक निरपेक्ष आदेश है कि दर्शन को दुनिया के क्रांतिकारी रूपांतरण की आवश्यकता की सैद्धांतिक पुष्टि का आधार बनाया जाये।

परंपरागत दर्शनों के मार्क्सवादी निषेध का दूसरा मौलिक पहलू, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, दर्शन को यथार्थ के ग़ैर-दार्शनिक अध्ययन के मुक़ाबले में रखने की अस्वीकृति है। विज्ञान के इतिहास से स्पष्ट है कि ऐसा अध्ययन हमेशा अपूर्ण ही बना रहता है, इसके परिणाम यथार्थ को सिर्फ़ मोटे तौर पर ही प्रकट करते हैं। इस बीच में, पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन ने अपना लक्ष्य संज्ञान के **अनुवर्ती** विकास से स्वतंत्र **अंतिम** ज्ञान की **प्रणाली** के निर्माण में देखा। यह पूर्णतः साफ़ है कि दर्शन ने प्राकृतिक विज्ञानों और इतिहास के विरोधी निरपेक्ष ज्ञान के इस आदर्श को, चाहे यह कितना ही विरोधाभासी क्यों न हो, स्वयं विज्ञान से लिया, बेशक सामान्य विज्ञान से नहीं, बल्कि उसके इतिहास-निर्धारित रूप से। डेढ़ हज़ार से अधिक सालों की अवधि में न केवल दार्शनिक बल्कि ग़ैर-दार्शनिक वैज्ञानिक भी यूक्लिड की ज्यामिति को सर्वथा पूर्ण, अनुभव से सर्वथा स्वतंत्र तथा और आगे विकास की आवश्यकता से सर्वथा रहित स्वयंसिद्धियों की प्रणाली के

रूप में मानते रहे। किसी के भी दिमाग़ में यह बात नहीं आयी कि ज्यामिति की स्वयंसिद्धियां वास्तविक संबंधों को केवल मोटे तौर पर ही प्रकट करती हैं। किसी ने यह कल्पना करने तक का भी साहस नहीं किया कि एक भिन्न ज्यामिति का अस्तित्व हो सकता है। इस बात पर भी ज़ोर दिया जाना चाहिए कि प्राप्त संज्ञान के स्तर को आकारगत तर्कशास्त्र में भी निरपेक्ष बताया गया, जिसे अपने अध्ययन के विषय को मूलतः समाप्त कर चुके एक विज्ञान के रूप में माना जाता था। लेकिन आकारगत तर्कशास्त्र दर्शन का एक अंग था और सो भी एक ऐसा अंग, जिसपर दूसरे अंगों के विपरीत सामान्यतः कभी संदेह नहीं किया जाता था। अतः आश्चर्य नहीं कि दार्शनिकों ने बेहिचक सारे दार्शनिक ज्ञान को उसके उस अंग के अनुरूप प्रमाणित करने की कोशिश की, जो पहले ही पूर्ण हो चुका प्रतीत होता था।

इस तरह, दार्शनिक प्रणालियां दर्शन के मुक़ाबले में ग़ैर-दार्शनिक अध्ययन को खड़ा करने की अभिव्यक्ति थीं। देकार्त ने cogito* से **संभव दार्शनिक ज्ञान** की संपूर्ण प्रणाली निगमित करने की कोशिश की। स्पिनोज़ा ने अपनी प्रणाली को more geometrico** बनाया। कांट ने ठीक ही दिखाया कि cogito पूर्वाधारों से रहित मूल सिद्धांत नहीं है क्योंकि इसने अप्रत्यक्ष रूप से "मेरे बाहर दूसरी चीज़ों के अस्तित्व की चेतना" (73,*3*,201) की पूर्वकल्पना की। कांट ने स्पिनोज़ा की स्वयंसिद्धियों की पद्धति के मुक़ाबले में अपनी पद्धति को रखा: स्वयंसिद्धियां और शब्द के गणितीय अर्थ में परिभाषाएं दर्शन में असंभव है। फिर भी, कांट ने पूर्ण तथा परम ज्ञान की प्रणाली के रूप में शुद्ध बुद्धि की एक प्रणाली बनाने की कोशिश की। अपने पूर्ववर्तियों की भ्रांतियों का भागी होते हुए उन्होंने अपने दर्शन के बारे में लिखा: "यह प्रणाली अपरिवर्तनीय है और मैं आशा करता हूं कि यह हमेशा ऐसी ही बनी रहेगी" (73,*3*,29)। उन्होंने अपनी प्रणाली को "और आगे न बढ़ायी जानेवाली पूंजी के रूप में" (73,*3*,22) भावी पीढ़ियों को सौंपा।

---

* (मैं) चिंतन करता हूं। – **अनु०**

** ज्यामितीय नियमों के अनुरूप। – **अनु०**

फ़िख़्ते ने कांट के द्वैतवाद को अस्वीकार कर दिया और cogito पर लौटे। लेकिन उन्होंने इसे मात्र एक स्वयंसिद्धि के रूप में नहीं, बल्कि **कार्यकलाप** के रूप में देखा, जिसके द्वारा "अहम्" स्वयं अपना और अपने कार्यकलाप के विषय – "अनहम्" की कल्पना करता है। अतः फ़िख़्ते ने प्रणाली के मूल प्रवर्गों के निगमन को भी परम "अहम्" के रचनात्मक कार्यकलाप के रूप में, उसके आत्म-विकास के रूप में देखा।

कांट की भांति फ़िख़्ते ने माना कि उनकी प्रणाली दार्शनिक अध्ययन के विषय को पूर्णतः समाप्त कर देती है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने सोचा कि उनकी प्रणाली सभी संभव दार्शनिक सत्यों की प्रणाली है। शेलिंग भी इसी भ्रांति के भागी थे, पर स्पष्टतः सिर्फ़ अपनी ही प्रणाली के संबंध में। शेलिंग के अनुसार, निरपेक्ष स्वायत्तता सही दार्शनिक प्रणाली की गुणपरक विशिष्टता है, जो "स्वयं ही अपने लिए उत्तरदायी है और स्वयं ही अपने में अनुरूप होती है" (95,25)।

हेगेल ने **विकास की द्वंद्वात्मक अवधारणा** के आधार पर द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद की प्रणाली निर्मित करने का मेधावी प्रयास किया। उन्होंने ठीक ही इस बात पर ज़ोर दिया कि विगत के दर्शनों में प्रणालियां ही अनित्य थीं, क्योंकि वे केवल निश्चित सीमाओं के भीतर सही सिद्धांतों को निरपेक्ष बनाकर निर्मित की गयी थीं, जिनके बाहर वे द्वंद्वात्मक निषेध के अधीन होते हैं। हेगेल के अनुसार, दर्शन निश्चित ऐतिहासिक युग की आत्म-चेतना है, जो "परम आत्मा" के आत्म-विकास में आवश्यक क़दम है। इस दृष्टिकोण से, नये ऐतिहासिक युग में संक्रमण का अर्थ एक नये दर्शन का आविर्भाव भी है। लेकिन पूर्ववर्ती युग के दर्शन को भुला नहीं दिया जाता। अपनी ऐतिहासिक सीमाओं से मुक्त पहले अस्तित्व में आये दर्शनों के सिद्धांत दर्शन के संपूर्ण अनुवर्ती विकास के लिए अपना महत्व बनाये रखते हैं। अतः दार्शनिक विकास में पूर्ववर्ती अवस्था का निषेध (बेशक, हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हेगेल अधिकांशतः प्रत्ययवाद के विकास की ओर इशारा करते हैं) प्राप्त उपलब्धियों का आत्मसात्करण तथा दार्शनिक संज्ञान की नयी और उच्चतर अवस्था की ओर प्रगति भी है। सत्य एक प्रक्रिया यानी विकासमान ज्ञान है, जो एक परिभाषा से दूसरी और अधिक

ठोस परिभाषा की ओर अग्रसर होता है और इस तरह प्रवर्गीय परिभाषाओं की विकासमान प्रणाली बनाता है। हेगेल के अनुसार, "वह सही रूप, जिसमें सत्य अस्तित्वमान है, केवल उसकी वैज्ञानिक प्रणाली ही हो सकता है" (64,*2*,6)। इस प्रकार, हेगेल दार्शनिक प्रणाली की एक नयी अवधारणा पर पहुंचते हैं; वह इस अवधारणा की उन विशिष्टताओं से इन्कार करते हैं, जिन्हें उनके पूर्ववर्नियों ने संघटक अंगों के रूप में स्वीकार किया था।

हेगेल इस धारणा पर भी क़ाबू पा लेने का प्रयास करते हैं, जिसके अनुसार दार्शनिक प्रणाली एक प्रारंभिक अभ्युपगम से निगमित की जाती है। हेगेल के 'तर्कशास्त्र' में प्रवर्गों की प्रणाली मात्र निगमन का परिणाम नहीं है, बल्कि निगमन को विकास की वस्तुगत प्रक्रिया के पुनरुत्पादन की विधि के रूप में देखा जाता है, जिसकी व्याख्या तात्विक प्रत्यय के आत्म-विकास के रूप में की जाती है, जो विषयी-तत्व बन जाता है। अतः हेगेल के अनुसार, एक दार्शनिक प्रणाली का अंतिम परिणाम इसका आरंभ है, पर जिसने अपना विकास, फैलाव और कार्यान्वयन पूरा कर लिया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी पूर्ववर्ती दर्शनों को ऐतिहासिक रूप से साकार हो रहे सच्चे दर्शन की प्रणाली के चरणों के रूप में माना जाना चाहिए। हेगेल के शब्दों में, "अतः दर्शन विकासमान प्रणाली है और वैसे ही दर्शन का इतिहास भी" (64,*13*,42)। **विकासमान प्रणाली** के रूप में दर्शन (और दर्शन के इतिहास) की यह अवधारणा दार्शनिक ज्ञान के विकास में हेगेल का असाधारण योगदान है।

तो भी, विकासमान प्रणाली की अवधारणा को अपने दर्शन पर लागू करने से इन्कार करते हुए हेगेल उस परंपरा से अपना नाता नहीं तोड़ते, जिसकी उन्होंने ठीक ही आलोचना की थी। हेगेल ने यह दावा करके कि उनका ऐतिहासिक युग मानवजाति के दार्शनिक विकास में अंतिम अवस्था है, अपने सिद्धांतों के साथ इस अंतर्विरोध को ही उचित ठहराया। हेगेल के प्रत्ययवाद ने उनकी **द्वंद्वात्मक** विधि और **अधिभूतवादी** प्रणाली के बीच अंतर्विरोध को पूर्वनिर्धारित किया, जिसका परिणाम दर्शन के विकास की सीमित अतीतदर्शी व्याख्या था। हेगेल के अनुसार, दर्शन दिव्य परम की आत्म-चेतना है और इसका

कालगत विकास मात्र उस चीज को ही प्रतिबिंबित करता है, जो हमेशा उसके अन्दर विद्यमान रहती है। "परम प्रत्यय" विश्व-इतिहास के दौरान मानवजाति के बौद्धिक कार्यकलाप के माध्यम से अपने को पूर्ण बनाता है, जिसके परिणामस्वरूप विकास बंद हो जाता है। अतः इतिहास के दर्शन की भांति दर्शन का इतिहास मनुष्यों के साथ ईश्वर का वह खेल है, जिसे हेगेल विश्व-बुद्धि का छल कहते हैं।

दार्शनिक विज्ञानों के विश्वकोश के रूप में अपनी प्रणाली को विकसित करते हुए हेगेल अनिवार्यतः प्रकृति के दर्शन को प्राकृतिक विज्ञानों के, इतिहास के दर्शन को इतिहास के विज्ञान के, विधि दर्शन को विधि विज्ञान के मुक़ाबले में रखते हैं। हेगेल की मीमांसात्मक प्रणाली वैज्ञानिक ज्ञान के प्राप्त स्तर को निरपेक्ष बनाकर साकार की गयी, जिसके कारण प्रणाली में अनिवार्यतः कई रिक्त स्थल छूट गये। लेकिन दर्शन संसार के मानचित्र पर "रिक्त स्थलों" को स्वीकार करने से इन्कार करता है, यह उन्हें प्राकृतिक-दार्शनिक या दार्शनिक-ऐतिहासिक परिकल्पनाओं से भर देता है।

हेगेल की अपेक्षाओं के विपरीत, उनका सिद्धांत किसी अधिभूत-वादी प्रणाली के निर्माण अर्थात पूर्ण दार्शनिक ज्ञान की प्रणाली के किसी भी दावे के दोष को सिद्ध कर देता है। एंगेल्स के शब्दों में, "हेगेल के बाद प्रणाली-सर्जन असंभव है। संसार स्पष्टतया एक एकीभूत प्रणाली अर्थात् एक सुसंगत समष्टि है, परंतु इस प्रणाली का संज्ञान प्राप्त करने से पहले **समस्त** प्रकृति तथा इतिहास का पूर्ण संज्ञान आवश्यक है, जो आदमी को **कभी** प्राप्त **नहीं** होगा। अतः, जो कोई प्रणालियों की रचना करता है, उसे रिक्त स्थलों को **स्वयं अपनी कल्पना की सृष्टि** से भर देना पड़ता है..." (8,400-01)। इस विशेष सूरत में, प्रणाली का अर्थ एक अधिभूतवादी दार्शनिक प्रणाली है, जो समष्टि के रूप में संसार का सर्वांगपूर्ण ज्ञान रखने का दावा करती है। ऐसी प्रणालियों को काल्पनिक मान कर अस्वीकार करते हुए एंगेल्स इस बात पर ज़ोर देते हैं कि "संसार स्पष्टतया एक एकीभूत प्रणाली है" और इस तरह दर्शन में एक प्रणाली की अवधारणा की वास्तविक सत्तामीमांसीय अंतर्वस्तु को प्रकट करते हैं। इस दृष्टिकोण से, प्रणाली की अवधारणा को ज्ञान के समूहीकरण, वर्गीकरण

और व्यवस्थापन में रूपांतरित नहीं किया जा सकता। यह प्रस्थापना कि संसार एक एकीभूत अखंड समष्टि, एक प्रणाली है, मात्र एक वक्तव्य नहीं है, बल्कि यह संसार के गुणात्मक रूप से विभिन्न अंगों के संज्ञान पर आधारित दार्शनिक सामान्यीकरण है। यह सामान्यीकरण केवल तभी संगत होता है, जब यह नूतन ज्ञान का खंडन न करे।

एक प्रणाली के रूप में संसार की अवधारणा विकसित होती, बदलती रहती है, उसमें संशोधन होते रहते हैं; इसमें कोई जड़सूत्र-वादी सिद्धांत नहीं निहित होते। दूसरे शब्दों में, एक एकीभूत प्रणाली के रूप में संसार को स्वीकार करने का अर्थ इस तथ्य को स्वीकार करना है कि विश्व-प्रणाली का संज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता। यह संज्ञान की अपूर्णता परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों होती है, क्योंकि यह अलग-अलग अंशों पर भी लागू होती है। वस्तुतः इसी वजह से न केवल अधिभूतवाद और प्राकृतिक दर्शन में, बल्कि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में भी प्राप्त (ऐतिहासिक रूप से सीमित) ज्ञान को अंतिम सत्यों की एक पूरी प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करने के सभी प्रयास असंगत हैं। उल्लेखनीय है कि १८वीं सदी में ही प्रगतिशील वैज्ञानिकों ने अपनी समकालीन दार्शनिक प्रणालियों के निरपेक्ष स्वरूप के मुक़ाबले में **सुव्यवस्थित** प्रायोगिक अध्ययन को रखा था। मसलन १८वीं सदी के फ़्रांसीसी भौतिकवादियों के असाधारण समर्थक द' अलाम्बेर की राय में एक भौतिकविज्ञानी को "प्रणाली की आत्मा" (l'ésprit de systéme) को आत्मसात् करना चाहिए, लेकिन उसे ऐसी दार्शनिक प्रणालियों का निर्माण करने के लोभ में नहीं पड़ना चाहिए, जो तथ्यों को नज़रअंदाज़ करती हैं, जो उनसे मेल नहीं खातीं और ऐसे निष्कर्षों पर ले जाती हैं, जो तथ्यों के सैद्धांतिक विश्लेषण के परिणाम कदापि नहीं होते। लावोइज़िए प्राकृतिक विज्ञानों में सुव्यवस्थित प्रणाली के महत्व के प्रति पूर्णतः सचेत थे और वह ख़ुद तत्वों की प्रणाली पर काम कर रहे थे। तो भी, उन्होंने दावा किया कि "प्रणाली की आत्मा" भौतिक विज्ञानों के लिए ख़तरनाक है, क्योंकि यह अध्ययन के विषयों पर रोशनी डालने के बजाय उसे धुंधला बनाती है (54,708)।

परस्पर-संबद्ध दार्शनिक उसूलों की किसी प्रणाली की जड़सूत्र-वादी निरपेक्षता का निषेध दार्शनिक ज्ञान की सुव्यवस्थित एकता की

संभावना और आवश्यकता को संदेहास्पद नहीं बनाता। दार्शनिक प्रणालियां असाधारण दार्शनिकों के दावों से नहीं पैदा होतीं। वे संज्ञान की प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम होती हैं। किसी भी सामान्य ज्ञान की भांति दार्शनिक ज्ञान कम से कम अपने विकास के स्तर द्वारा सीमित होता है। लेकिन यह सीमितता बाद के विकास द्वारा समाप्त हो जाती है, जो बेशक स्वयं भी अपनी सीमितता से मुक्त नहीं होता। एंगेल्स के अनुसार, दार्शनिक प्रणालियां "मानव-आत्मा की अनश्वर इच्छा – सभी अंतर्विरोधों पर क़ाबू पाने की इच्छा – से उत्पन्न होती हैं" (3,*III*,342) । पर सभी अंतर्विरोधों को हल करना वैसे ही असंभव है, जैसे कि असंख्य की गिनती। फिर भी, यह चीज़ दार्शनिक ज्ञान के प्रणालीगत विकास को सीमाबद्ध नहीं करती। ज्यों ही यह नियम स्वीकार कर लिया जाता है, त्यों ही शब्द के पुराने, परंपरागत अर्थ में दर्शन का अंत हो जाता है। हेगेल की प्रणाली चाहे अचेत ढंग से ही सही, उस मार्ग को इंगित करती है, जो, एंगेल्स के शब्दों में, "प्रणालियों की भूलभुलैया से संसार के वास्तविक सकारात्मक ज्ञान" का (3,*III*,342) मार्ग है।

इस तरह, एंगेल्स दार्शनिक (और वैज्ञानिक) प्रणाली की अधिभूतवादी अवधारणा के मुक़ाबले **प्रणाली के रूप में संज्ञान** की अवधारणा को रखते हैं। इसका आशय प्राप्त ज्ञान के मात्र बुद्धिसंगत, क्रमबद्ध वर्गीकरण से नहीं है, बल्कि प्रकृतिवैज्ञानिक तथा दार्शनिक संज्ञान दोनों ही के सभी विषयों में अंतर्निहित प्रणालीबद्धता के संज्ञान से भी है। स्पष्टतया सुव्यवस्थित संज्ञान और एक प्रणाली का निर्माण (न केवल दर्शन में, बल्कि किसी विशिष्ट विज्ञान में भी) मूलतः भिन्न चीज़ें हैं। लेकिन यदि संज्ञान का विषय गुणात्मक रूप से निश्चित प्रणाली है, तो अध्ययन का उद्देश्य इस प्रणाली का संज्ञान हो जाता है। इस स्थिति में ज्ञान की प्रणाली का विकास परिघटनाओं की निश्चित प्रणाली का प्रगतिशील संज्ञान है। ज्ञान की यह प्रणाली शब्द के आधुनिक अर्थ में विज्ञान का पर्याय है।

हेगेल के अनुसार, विज्ञान सूचना-संग्रह नहीं है। उनकी अवधारणा के लिए वैज्ञानिकता, सत्य और प्रणालीबद्धता एक ही प्रवर्ग की धारणाएं थीं। उन्होंने लिखा : "प्रणाली से रहित तत्व-निरूपण में कोई भी

वैज्ञानिकता नहीं हो सकती है ... (64,*6*,22) । अतः, यहां परंपरागत "बुद्धि-प्रेम" के मुक़ाबले में विज्ञान के रूप में दर्शन की हेगेलीय समझ द्वंद्वात्मक रूप से समझी गयी दार्शनिक प्रणाली की अवधारणा से मेल खाती है। यह दार्शनिक प्रणाली, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, दार्शनिक ज्ञान की विकासमान प्रणाली है।

हेगेल के अनुसार, सही दार्शनिक प्रणाली की दूसरी मूल विशेषता **उसके संघटक सिद्धांतों की एकता** है। यह एकता वहीं तक संभव है, जहां तक विशिष्ट, पृथक् सिद्धांत निरपेक्ष न माने जायें तथा इस वजह से वे एक दूसरे के मुक़ाबले में रखे न जा सकें। स्पष्टतः निम्नलिखित स्थापना से उनका यही आशय है: "अन्य सिद्धांतों से भिन्न एक सीमित **सिद्धांत** पर आधारित दर्शन को ग़लत ढंग से एक **प्रणाली** के रूप में समझा जाता है; वास्तव में, सच्चे दर्शन का सिद्धांत यह है कि यह अपने में सभी विशिष्ट सिद्धांतों को शामिल करता है" (64,*6*, 22-23)। इसके कुछ आलोचकों के दावे के विपरीत यह स्थापना दार्शनिक सारसंग्रहवाद को उचित नहीं ठहराती। इसका इशारा उस सार्विक सिद्धांत की दृष्टि से सभी विशिष्ट सिद्धांतों के द्वंद्वात्मक निषेध की ओर है, जिसे हेगेल ने अपनी एकत्ववादी प्रणाली का मुख्य प्रत्ययवादी सिद्धांत माना। एक प्रत्ययवादी प्रणाली पर काम करते हुए हेगेल सिद्ध करते हैं कि विभिन्न प्रत्ययवादी सिद्धांतों का बेमेलपन विशिष्ट, पृथक् प्रत्ययवादी सिद्धांतों का निरपेक्ष सिद्धांतों के रूप में विवेचन से उत्पन्न होता है। हेगेल ने इस विश्वास से प्रत्ययवादी सिद्धांतों को संश्लेषित करने की कोशिश की कि उनके विशिष्ट सिद्धांतों का द्वंद्वात्मक निषेध उन्हें सही दार्शनिक प्रणाली के सामंजस्यपूर्ण तत्वों में बदल देता है।

हेगेल ने प्रत्ययवादी दर्शन के इतिहास का सार प्रस्तुत किया। लेकिन अपनी प्रत्ययवादी अंतर्वस्तु की वजह से उनकी प्रणाली विकास की द्वंद्वात्मक अवधारणा का खंडन करती है। "परम प्रत्यय" मांग करता है कि दार्शनिक विकास अंतिम रूप से पूर्ण हो। सभी द्वंद्वात्मक शर्तों के बावजूद सत्ता और चिंतन के तादात्म्य का सिद्धांत सत्ता को सत्तामीमांसीय ढंग से विवेचित चिंतन में बदल देता है और इस तरह चिंतन के ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत को बहिष्कृत कर देता है। ज्ञान सत्ता से तद्रूप प्रतीत होता है; ज्ञान की प्रणाली की व्याख्या सत्ता की एक

ऐसी प्रणाली के रूप में की जाती है, जो स्वयं ही फैलनी और अपनी परिभाषाओं को अनुभव करती है। हेगेल वस्तुतः संज्ञान के **आत्मगत मानव स्वरूप** को और परिणामतः ज्ञान की प्रत्येक प्रणाली तथा संज्ञान से स्वतंत्र प्रणाली के रूप में उसके विषय के बीच अंतर्विरोधों को नज़र-अंदाज़ करते हैं। इन अंतर्विरोधों का हल तथा नये अंतर्विरोधों का आविर्भाव संज्ञान के **विकास** का बहुत महत्वपूर्ण पहलू है और यह चीज़ भी हेगेल की दृष्टि से ओझल रहती है। लेकिन यथार्थ का प्रतिबिंबन, इसके रूप की विकृति तथा इस विकृति पर क़ाबू पाना (बेशक, निश्चित सीमाओं के भीतर) संज्ञान की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में, सत्य और भ्रांति के द्वंद्ववाद में महत्वपूर्ण चीज़ें हैं।

लेनिन ज़ोर देते हैं कि **संज्ञान किये जानेवाले** यथार्थ का रूप केवल निर्णयों, निष्कर्षों और सिद्धांतों में ही विकृत नहीं किया जाता। अध्ययन के विषय की विकृति संज्ञान के सबसे प्राथमिक कार्यों में, संज्ञान करने की स्वयं उस क्षमता में ही निहित है, जो भूल करने की भी क्षमता है, क्योंकि वास्तव में भूल करने की कोई **विशेष** क्षमता नहीं होती (10,*38*,260) । यथार्थ के इस विकृत प्रतिबिंबन पर क़ाबू पाना तथा विषय के ठीक प्रतिबिंबन पर पहुंचना एक जटिल द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है। हेगेल की प्रणाली में वस्तुतः इस वजह से इसका कोई स्थान नहीं है कि संज्ञानात्मक चिंतन की व्याख्या प्रत्ययवादी ढंग से विषयी बन चुके तत्व के रूप में, सभी संभव ज्ञान से पूर्ण परम के रूप में की जाती है।

चूंकि हेगेल का दर्शन प्रतिबिंबन के ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत को अस्वीकार करता है, इसलिए इसमें अध्ययन के उन वास्तविक विषयों के प्रति ज्ञान की प्रणालियों के रुख़ से संबद्ध प्रश्न की स्पष्ट परिभाषा का अभाव है, जो स्वयं भी प्रणालीमूलक स्वरूप के हैं। एक अखंड समुच्चय के रूप में, जो अपने संघटकों को निर्धारित करता है और स्वयं भी उनकी अन्योन्यक्रिया द्वारा निर्धारित होता है, प्रणाली की अवधारणा को सबसे पहले मार्क्स ने उत्पादन संबंधों की पूंजीवादी प्रणाली के अपने अध्ययन में सूत्रित किया। प्रणाली की पूर्व-मार्क्सवादी अवधारणाओं का महत्व बहुत ही सीमित तथा अन्वेषणात्मक था, क्योंकि वे इस कल्पना से आगे बढ़ीं कि **अपरिवर्तनीय** (डेमोक्रिटस

के परमाणुओं से मिलते-जुलते) तत्वों का अस्तित्व है। प्रणाली अध्ययन को अपरिवर्तनीय संघटकों के संभव संयोजनों के विश्लेषण के रूप में समझा गया। माना जाता था कि समष्टि को इसके संघटक अंग निर्धारित करते हैं। लेकिन संघटक अंगों की स्थिति में परिवर्तनों अर्थात् संरचनात्मक परिवर्तनों ने उन्हें कोई नया गुण नहीं प्रदान किया।

प्रत्येक प्रणाली-विशेष (अधिक ठीक-ठीक समष्टि) के तत्वों की संख्या को भी सदा-सदा के लिए अपरिवर्तनीय तथा स्थापित मान लिया गया। अतः स्वयं प्रणाली को भी संतुलित मान लिया गया ; **प्रणाली** के विकास के बारे में अवधारणा प्रणाली की अवधारणा से बेमेल प्रतीत हुई। प्रणाली की उत्पत्ति के सवाल को यदा-कदा ही, उदाहरणार्थ, कांट द्वारा (सौर प्रणाली के संबंध में) उठाया गया।

मार्क्स पूंजीवादी प्रणाली के विकास के नियमों का अध्ययन एक बिल्कुल भिन्न ढंग से करते हैं। वह बुर्जुआ समाज के संरचनात्मक तत्वों की जांच उत्पादन की सामंती प्रणाली के आर्थिक तत्वों से मूलतः भिन्न तत्वों के रूप में करते हैं, बावजूद इसके कि बाज़ार अर्थव्यवस्था, मौद्रिक, वाणिज्यिक पूंजी, मुनाफ़ों, ब्याज-दरों, किराये, आदि का अस्तित्व सामंतवाद के अंतर्गत भी था। मिसाल के लिए, मार्क्स माल को पूंजीवादी प्रणाली की एक आर्थिक कोशिका ही कहते हैं।

मार्क्स ने ख़ास तौर से पूंजीवादी प्रणाली के विस्तारित पुनरुत्पादन, इसके संघटकों के रूपांतरण, परिवर्तन और विकास की इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप पूंजीवादी प्रणाली की नयी गुणात्मक विशिष्टताओं, नयी प्रवृत्तियों और अंतर्विरोधों, पूंजी के संकेंद्रण तथा केंद्रीयकरण – दूसरे शब्दों में, उन सभी प्रक्रियाओं का अध्ययन किया, जिन्होंने , जैसा कि बाद में लेनिन ने सिद्ध किया, मुक्त पूंजीवादी प्रतियोगिता की प्रणाली के इजारेदार पूंजीवाद और बाद में राजकीय इजारेदार पूंजीवाद की प्रणाली में क्रमविकास को निर्धारित किया। मार्क्स के आर्थिक अन्वेषणों को आगे जारी रखते हुए लेनिन का इजारेदार पूंजीवाद का सिद्धांत पूंजीवादी समाजीकरण की प्रणाली से समाजवादी सामाजिक प्रणाली में संक्रमण की ऐतिहासिक अनिवार्यता के आधार को पूरा करता है। लेनिन के शब्दों में, "...समाजवाद राज-

कीय पूंजीवादी इजारेदारी से अगले क़दम के अलावा और कुछ नहीं है। या दूसरे शब्दों में, समाजवाद उस राजकीय पूंजीवादी इजारेदारी के अलावा और कुछ नहीं है, जिसे **संपूर्ण जनगण के हितों की पूर्ति के लिए लगाया जाता है** और जो उस सीमा तक पूंजीवादी इजारेदारी **नहीं रह जाती**" (10,*25*,362)। समाजवादी प्रणाली के आविर्भाव और विकास के ऐतिहासिक मार्ग ने इस मेधावी लेनिनीय निष्कर्ष को पूर्णतः सिद्ध कर दिया है, जिसके पूर्वानुमान-विषयक महत्व का अतिमूल्यांकन करना कठिन है।

पूंजीवाद का मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण प्रणाली-दृष्टिकोण का एक ऐसा उदाहरण है, जो **विकास** के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी **सिद्धांत** का मूर्तीकरण, गहनीकरण और प्रमाणीकरण करता है। वस्तुतः यही चीज़ इसे प्रणालियों की उन अवधारणाओं से अलग करती है, जो आधुनिक बुर्जुआ समाजविज्ञान पर हावी हैं और सामान्यतः विकास के सिद्धांत का निषेध हैं।

वर्तमान समय में प्रणाली की अवधारणा ने सार्विक महत्व प्राप्त कर लिया है। प्रणाली-दृष्टिकोण को भाषाविज्ञान, जीवविज्ञान, गणितशास्त्र, खनिजविज्ञान, तर्कशास्त्र, आदि पर फलप्रद ढंग से लागू किया जाता है। मूलतः भिन्न प्रणालियों की बहुलता प्रणाली की अवधारणा की एक ही व्यापक परिभाषा प्रस्तुत करना अधिकाधिक कठिन बनाती है। स्पष्टतः यहां भी हमें मार्क्स के निर्देशों का अनुसरण करना चाहिए और प्रणाली की एक मूर्त परिभाषा को भिन्न, कमोबेश अमूर्त परिभाषाओं की एकता के रूप में मानना चाहिए। इस तरह, स्वयं प्रणाली की परिभाषा ही एक प्रणाली बन जाती है। दार्शनिक प्रणालियों की समस्या पर विचार-विमर्श में भी हमें अध्ययन-विधि की इसी स्थिति से ही आगे बढ़ना चाहिए।

अगर प्रणाली की अवधारणा का सार्विक महत्व है, तो इसे सभी दर्शनों पर लागू किया जाना चाहिए। वे सभी प्रणालियां हैं, चाहे उनके निर्माताओं के इरादे अथवा वर्णन की विधियां कुछ भी क्यों न हों। इस दृष्टिकोण से किएर्केगार, नीत्शे, गाब्रिएल मार्सेल द्वारा दार्शनिक प्रणालियों की अस्वीकृति केवल समस्या का आत्मगत पहलू प्रतीत होती है, जिसे उनके सिद्धांतों की वस्तुगत, **प्रणालीगत अंतर्वस्तु**

८*

से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए, चाहे उन्हें किसी भी रूप में (सूक्तियों, डायरी विवरणों, आदि के रूप में) पेश क्यों न किया गया हो।

मार्क्सवादी दर्शन का सर्जन अधिभूतवादी प्रणाली-निर्माण के विरुद्ध संघर्ष में हुआ, जो विकास के सिद्धांत से असंबद्ध परम ज्ञान के आदर्श द्वारा प्रेरित होता है। एंगेल्स की कृति 'ड्यूहरिंग मत-खडन' पूर्ववर्ती दर्शन में हावी अधिभूतवादी परंपरा के विरुद्ध मार्क्सवादी संघर्ष का एक जीता-जागता उदाहरण है। लेकिन अपने बाद के विकास के दौरान मार्क्सवाद ने दर्शन के प्रणालीगत स्वरूप के द्वंद्ववाद-विरोधी निषेध का भी विरोध किया। यह निषेध न केवल अतर्कबुद्धिवादियों, बल्कि नव-प्रत्यक्षवाद के अधिकांश समर्थकों की भी विशेषता है, जो दर्शन को एक **सिद्धांत** के रूप में नहीं, बल्कि सिर्फ़ वक्तव्यों के विश्लेषण की एक विधि के रूप में देखते हैं। लेनिन ने लिखा: "**मार्क्सवाद** मार्क्स के विचारों और शिक्षाओं की **प्रणाली** है" (10,*21*,50)। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, समग्र रूप में मार्क्सवाद तथा इसका प्रत्येक संघटक अंग दोनों ही प्रणाली हैं। मार्क्सवाद का विकास एक **विकासमान** प्रणाली का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार, परंपरागत दार्शनिक प्रणालियों तथा शब्द के पुराने अर्थ में सामान्य दर्शन का मार्क्सवादी निषेध एक नयी क़िस्म की दार्शनिक प्रणाली का आधार है। मार्क्स और एंगेल्स ने **द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी** दार्शनिक प्रणाली का निर्माण किया। जैसा कि सोवियत दार्शनिक फ़० व० कोंस्तांतीनोव ठीक ही उल्लेख करते हैं, "उनका सिद्धांत उन दार्शनिक तथा समाजवैज्ञानिक प्रणालियों से असीम रूप से दूर है, जो अंतिम और निरपेक्ष सत्यों की प्रणालियों के रूप में निर्मित की गयी थीं यानी जिन्होंने सभी प्रश्नों को अंतिम रूप से हल कर देने का दावा किया, चाहे इसके लिए आवश्यक तथ्य हों या न हों" (26,45)। गुणात्मक और परिमाणात्मक रूप से अपरिवर्तनीय प्रवर्गों की प्रणाली के रूप में एक दार्शनिक प्रणाली की धारणा ने कांट की प्रवर्ग-सारणी में अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पायी। उन्होंने प्रवर्गों की व्याख्या चिंतन के शाश्वत और अपरिवर्तनीय संरचनात्मक रूपों के तौर पर की। इस बात ने उन्हें ज्ञान के विकास से पृथक कर दिया और इस तरह उन्हें वस्तुगत अंतर्वस्तु से रहित ज्ञान के शुद्धतः आत्मगत रूपों में बदल दिया। कांट

का प्रागनुभविक दृष्टिकोण प्रवर्गों की इस द्वंद्ववाद-विरोधी, आकारमूलक धारणा का एक अनिवार्य तर्कसंगत निष्कर्ष था। लेकिन तर्क के प्रवर्ग, जिनके बारे में उन्होंने उल्लेख किया, दार्शनिक तथा सामान्य वैज्ञानिक प्रवर्गों की भांति ही ज्ञान के **अर्थपूर्ण** रूप हैं यानी उनमें यथार्थ के बारे में निश्चित **ज्ञान** निहित होता है, जो ऐतिहासिक रूप से विकसित होता है, अधिक व्यापक बनता है तथा वस्तुगत यथार्थ को अधिक पर्याप्त रूप से प्रकट करता है। कार्य-कारण संबंध के प्रवर्ग के विकास की ओर इशारा करना ही काफ़ी होगा, जिसने उसका अर्थपूर्ण स्वरूप स्पष्टतः प्रकट कर दिया है। स्वभावतया, अर्थपूर्ण दार्शनिक प्रवर्ग वे अवधारणाएं हैं, जो न तो कृत्रिम, न ही पांडित्यपूर्ण हैं।

हेगेल का 'तर्कशास्त्र' ठीक ही विकासमान प्रवर्गों की प्रणाली के बारे में प्रश्न उठाता है। लेकिन उनका सर्वबुद्धिवाद प्रवर्गों के विकास को संपूर्ण ग़ैर-दार्शनिक विकास से पृथक करते हुए इसे अतिसरल बनाता और तोड़ता-मरोड़ता है। दार्शनिक प्रवर्गों में व्यक्त वस्तुगत सत्य तथ्यों की संपूर्ण विविधता के अध्ययन द्वारा प्राप्त किये जाते हैं न कि धारणा के अंतर्वर्ती आत्म-विकास द्वारा। दार्शनिक प्रवर्ग संज्ञान के विकास में ऐतिहासिक अवस्थाएं हैं, वे अपने ही ढंग से संज्ञान के इतिहास का सार प्रस्तुत करते हैं। विशेष विज्ञानों के प्रवर्गों की भांति (उदाहरणार्थ, यांत्रिकी में द्रव्यमान या रासायनिक विज्ञान में तत्व की धारणा) दार्शनिक प्रवर्ग वस्तुगत यथार्थ को मोटे तौर पर व्यक्त करते हैं।

हेगेल ने ठीक ही १७वीं सदी की अधिभूतवादी प्रणालियों के निर्माताओं की इस बात के लिए आलोचना की कि उन्होंने स्वेच्छया सत्ता पर इसकी मौलिक सत्तामीमांसीय परिभाषाएं आरोपित कीं। हेगेल ने सिद्ध किया कि इन परिभाषाओं को अंतर्वर्ती ढंग से विकासमान सत्ता की परिभाषाओं के रूप में तर्कसंगततः निगमित किया जाना चाहिए। अपने द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण के बावजूद यह स्थिति हेगेल को सत्तामीमांसा की ऐतिहासिक समझ पर ले जाने में असमर्थ रही। परंतु संज्ञान के विषय तथा संज्ञान के पूर्ववर्ती स्तर के प्रति द्वैत दृष्टिकोण रखनेवाले किसी ज्ञान (सत्ता की परिभाषाओं के ज्ञान सहित) की सही समझ के लिए ऐतिहासिक ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण आवश्यक है। दूसरे शब्दों

में, विषय का संज्ञान न केवल संज्ञान के विकास में एक निश्चित स्तर को व्यक्त करता है, बल्कि कुछ सीमा तक संज्ञान के विकास द्वारा निर्धारित भी होता है। जिस चीज़ का संज्ञान, संज्ञान के एक स्तर पर नहीं किया जा सकता, वह दूसरी ऐतिहासिक अवस्था में संज्ञेय बन जाती है। अतः वस्तुगत यथार्थ की सभी सत्तामीमांसीय परिभाषाओं को प्राप्त ज्ञान के स्तर द्वारा सीमित रूप में और अतएव परिवर्तन, संशोधन आदि के अधीन भी देखा जाना चाहिए। इस तरह, मार्क्स-वादी दर्शन सत्तामीमांसा तथा किसी भी ज्ञान की व्याख्या ज्ञानमी-मांसीय ढंग से करता है और इसके ज़रिये उसे जड़सूत्र नहीं बनने देता तथा इसके और आगे विकास को प्रोत्साहित करता है।

मार्क्सवादी दर्शन ज्ञानमीमांसीय संशयवाद के साथ ही साथ इस भ्रम को भी अस्वीकार करता है कि विशेष विज्ञानों के विपरीत दर्शन यथार्थ का अधिक प्रामाणिक ज्ञान प्रस्तुत करता है। चूंकि वैज्ञा-निक दर्शन वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होता है, इसलिए यह स्व-भावतः ऐसा विशेष ज्ञान रखने का दावा नहीं कर सकता, जो वैज्ञा-निक ज्ञान से मूलतः भिन्न हो। अतः वैज्ञानिक दर्शन सामान्य विज्ञान की तरह ही एक ऐसा अध्ययन है, जिसके परिणाम वस्तुगत यथार्थ को मोटे तौर पर व्यक्त करते हैं। बेशक, यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि दार्शनिक अध्ययन सार्विकता, अखंडता और एकता के उन रूपों का अध्ययन है, जिन्हें विशेष विज्ञान विभिन्न अंगों, अध्ययन के सीमित क्षेत्रों में विभाजित करते हैं, जिससे वे संज्ञान के लिए अधिक सुगम बन जाते हैं। लेकिन विशेष विज्ञानों द्वारा विभाजित और दर्शन द्वारा एकीकृत सार्विकता, अखंडता और एकता, जो दर्शन का विषय बनाती हैं, अमूर्त नहीं बल्कि **मूर्त** होती हैं। इसका अर्थ यह है कि दर्शन उन प्रणाली-यथार्थों (प्रकृति, समाज, मनुष्य, संज्ञान, आदि) के गुणात्मक रूप से निश्चित अंशों की एकता को समझने का प्रयास करता है, जिनका विभिन्न विज्ञानों द्वारा विभाजन तथा अध्ययन किया जाता है।

एक प्रणाली के रूप में दर्शन की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी समझ के बारे में इन सभी विचारों को एंगेल्स के एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। 'प्रकृति की द्वंद्वात्मक गति' में एंगेल्स ने अपरिमित और इसके संज्ञान से सम्बन्धित तर्क-वितर्कों का समाहार पेश करते

हुए लिखा : "अपरिमित उतना ही ज्ञेय है जितना कि अज्ञेय" (9, 235)। क्या इसका अर्थ यह है कि दर्शन के भाग्य में सत्य के मार्ग पर आधी दूरी ही तय करना बदा है? जैसा कि विदित है, निकोलाई हार्तमान्न की "नयी सत्तामीमांसा" के समर्थक तथा कई अन्य बुर्जुआ दार्शनिक ऐसा ही निष्कर्ष निकालते हैं। लेकिन एंगेल्स के उपर्युक्त उद्धरण का अर्थ मूलतः भिन्न है। पहले, यह अपरिमित की असीमता की ओर इशारा करता है अर्थात् इसमें अज्ञात रहनेवाली हर चीज़ भी अपरिमित है। दूसरे, एंगेल्स परिमित और अपरिमित दोनों ही के संज्ञान को एक मूलतः एकीभूत प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार, "...हर वास्तविक, सर्वांगपूर्ण ज्ञान केवल विचार में वैयक्तिक चीज़ को वैयक्तिकता से विशिष्टता और विशिष्टता से सार्विकता में उठाने में, अपरिमित को परिमित में, नित्य को अनित्य में खोजने तथा स्थापित करने में निहित है" (9,234)।

विशेष, अनित्य और परिमित के संज्ञान तथा सार्विक, नित्य और अपरिमित के संज्ञान के बीच एकता एक ओर, प्रत्येक विशेष विज्ञान में व दूसरी ओर, दर्शन में पायी जा सकती है, क्योंकि दर्शन ज्ञान के सैद्धांतिक एकीकरण का अत्यंत सामान्य रूप, संज्ञान के इतिहास का विशिष्ट मूल्यांकन है। यह ज्ञान की वैज्ञानिक-दार्शनिक प्रणाली की ऐतिहासिक सीमाएं निर्धारित करता है। चूंकि नये वैज्ञानिक आंकड़ों तथा नये ऐतिहासिक अनुभव के सामान्यीकरण के ज़रिये इन सीमाओं का बोध होता है तथा उन्हें पार किया जाता है, इसलिए दर्शन विकसित होता और ज्ञान के नये, उच्चतर स्तर पर उठता है। इस अग्रगामी विकास का आत्मसंतोष से कोई वास्ता नहीं है; दर्शन हमेशा अपने मार्ग पर आगे बढ़ता है।

अतः मार्क्सवादी दर्शन निरपेक्ष ज्ञान को अस्वीकार करता है, पर यह निरपेक्ष ज्ञान तथा निरपेक्ष सत्य यानी मूर्त ज्ञान के बीच भेद करता है, जिसका विषय न केवल विशेष, बल्कि सार्विक भी हो सकता है। मूर्त विभिन्न परिभाषाओं की एकता है। निरपेक्ष सत्य मूर्त सत्य अथवा सापेक्ष सत्यों की एकता है। लेनिन के शब्दों में, "विज्ञान के विकास में प्रत्येक क़दम निरपेक्ष सत्य की राशि में नये कण बढ़ाता है, लेकिन प्रत्येक वैज्ञानिक प्रस्थापना की सत्यता की सीमाएं सापेक्ष

होती है, जो ज्ञान के विकास के साथ कभी विस्तारित, कभी संकुचित होती है (10,*14*,135)।

सापेक्ष सत्य वस्तुगत है, अतः कुछ हद तक यह निरपेक्ष सत्य भी है। वस्तुतः इसी वजह से, सभी भ्रांतियों के बावजूद संज्ञान का इतिहास निरपेक्ष का संज्ञान भी है। लेकिन एंगेल्स के अनुसार, "निरपेक्ष का संज्ञान करनेवाली चिंतन की अपरिमितता परिमित मानव-मस्तिष्कों की अपरिमित संख्या से बनी है, जो इस अपरिमित संज्ञान पर साथ-साथ और सिलसिलेवार ढंग से काम करते हैं, व्यावहारिक और सैद्धांतिक गलतियां करते हैं, असफल, एकांगी तथा गलत प्रस्थापनाओं से आगे बढ़ते हैं, गलत, कष्टपूर्ण और अनिश्चित मार्गों का अनुसरण करते हैं तथा अक्सर सही हल से जा टकराने के बावजूद उसे नहीं पाते" (9,234)। फिर भी, किसी ज्ञान के सापेक्ष, अंतर्विरोधी और अपूर्ण स्वरूप के बावजूद निरपेक्ष का संज्ञान एक वास्तविक प्रक्रिया है। एंगेल्स ज़ोर देते हैं, "प्रकृति का हर सही ज्ञान शाश्वत, अपरिमित का ज्ञान है और इस वजह से यह मूलतः निरपेक्ष है" (9,234)।

विश्व-दृष्टिकोण की वैज्ञानिक-दार्शनिक प्रणाली के रूप में दर्शन को विकसित करते हुए मार्क्सवाद वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली में दर्शन के स्थान में गुणात्मक परिवर्तन को स्वीकार करता है। इस संबंध में, बुर्जुआ दार्शनिक यह दावा करते हुए दर्शन के भाग्य पर आंसू बहाते हैं कि इसकी दशा लगातार खराब होती जा रही है। लेकिन वास्तव में तो प्रत्ययवादी दर्शन की दशा बिगड़ती जा रही है। जहां तक मार्क्सवादी दर्शन का सवाल है, यह विकसित वैज्ञानिक ज्ञान की प्रणाली में बढ़ती भूमिका अदा कर रहा है और यह समान विचारों वाले दार्शनिकों के संयुक्त अनुसंधान कार्य पर भरोसा करता है। दर्शन में वैज्ञानिक सहयोग के रूप आधुनिक विज्ञान में अनुसंधान के रूपों से सिद्धांततः मिलते-जुलते हैं। ऐसा दर्शन एक **खुली प्रणाली** है – स्वभावतः केवल वास्तविक न कि तथाकथित दार्शनिक उपलब्धियों के लिए **खुली**।

विश्व-दृष्टिकोण तथा अध्ययन-विधि के दार्शनिक सामान्यीकरण विज्ञानों के जनवादी साझे कोष में वैज्ञानिक ज्ञान के एकीकरण को प्रोत्साहित करते हैं। दर्शन प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों की उपलब्धियों को आत्मसात् करता है। विशेष विज्ञान दार्शनिक विकास के

परिणामों को आत्मसात् करते हैं। दार्शनिक समस्याएं बुनियादी वैज्ञानिक अनुसंधान के प्रायः हर क्षेत्र में उठती हैं। दर्शन और विशेष विज्ञानों की सीमाओं पर विशिष्ट वैज्ञानिक तथा दार्शनिक और विश्व-दृष्टिकोण संबंधी गुणात्मक रूप से नयी समस्याएं पैदा हो रही हैं। वैज्ञानिक दर्शन न केवल अपनी अंतर्वस्तु में, बल्कि कार्य-विधि में भी सामाजिक चेतना बनता है। क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि भविष्य विज्ञान के रूप में, विज्ञान तथा विश्व-दृष्टिकोण के बारे में ज्ञान की एक विकासमान प्रणाली के रूप में दर्शन की और बड़ी मान्यता का आश्वासन देता है?

दर्शन और सामान्य चेतना

दर्शन की परंपरागत, सदियों पुरानी अवधारणा दार्शनिक चिंतन को "अचिंतनशील" सामान्य चेतना से भिन्न मानती है। सामान्य चेतना अज्ञानी लोगों सहित सबमें विद्यमान बतायी जाती है। स्पष्टतया, सामान्य चेतना तथा इसके आधार दैनंदिन अनुभव के प्रति आलोचनात्मक रुख़ आवश्यक और उचित है। लेकिन दर्शन का इतिहास सिद्ध करता है कि सामान्य चेतना और दैनंदिन अनुभव की परंपरागत दार्शनिक आलोचना सामान्यतया दैनंदिन सामाजिक जीवन की इन परिघटनाओं के साथ दर्शन (और विज्ञान) के आवश्यक सहज संबंध को समझने में असमर्थ है। "दर्शन और दैनंदिन अनुभव" के सह-संबंध को केवल विलोमों की एकता के रूप में ही सही ढंग से समझा जा सकता है, जिनमें अंतर्विरोध ही नहीं तादात्म्य के अंश भी निहित होते हैं।

परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी दर्शन द्वारा संसार की भौतिकवादी समझ के बारे में फ़ैसला आम तौर से निम्नलिखित है: भौतिकवाद दर्शन नहीं, बल्कि सामान्य चेतना है, जो बौद्धिक सभ्यता से रहित अपने पूर्वाधारों के प्रति अनालोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाता है और इंद्रिय-अनुभूतियों तथा उनकी सत्यता में अपने विश्वास के आलोचनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता पर तनिक भी संदेह नहीं करता। चूंकि सामान्य चेतना परिकल्पनात्मक मिथक नहीं, बल्कि वास्तव में अस्तित्वमान चीज़ है, हमें वस्तुगत संसार के प्रतिबिंबन के इस रूप के प्रति भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के सही रुख़ की जांच करनी चाहिए। सामान्य चेतना का अध्ययन समाजविज्ञान, इतिहास, सामाजिक मनोविज्ञान, नृजातिविज्ञान और दूसरे विज्ञान कर सकते हैं। पर यहां हम समस्या के ज्ञानमीमांसीय और ऐतिहासिक-दार्शनिक पहलुओं पर विचार-विमर्श करेंगे।

ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक तथा वैयक्तिक चेतना के बीच भेद करता है। बेशक, वैयक्तिक चेतना भी सामाजिक है। लेकिन कला, नैतिकता, धर्म तथा सामाजिक चेतना के अन्य रूपों के विपरीत यह व्यक्तियों की प्रत्यक्ष चेतना है। एंगेल्स के अनुसार, चिंतन "विगत, वर्तमान और भविष्य काल के अरबों मनुष्यों के केवल वैयक्तिक चिंतन के रूप में ही" (8,105) पाया जाता है। यही बात सामान्य चेतना पर भी लागू होती है: सामाजिक चेतना का यह रूप मनुष्यों के उद्देश्यपूर्ण और योजनाबद्ध संज्ञानात्मक कार्यकलाप पर सीधे नहीं निर्भर करता। सामान्य चेतना (तथा उसके आधार दैनंदिन अनुभव) का विकास प्रायः एक स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया है और इसके तत्वों में अनैच्छिक स्मृति शामिल है। दैनंदिन अनुभव का एक बड़ा हिस्सा अलक्षित रूप से प्राप्त होता है, सिर्फ़ इस वजह से कि मनुष्य रहता, दूसरे लोगों के संपर्क में जीता है, अपने वातावरण का बोध, निजी और सामाजिक जीवन की घटनाओं की अनुभूति प्राप्त करता है, जिसके दौरान वह इस बात पर ध्यान नहीं देता कि **किस चीज़** ने उसकी चेतना पर अपनी छाप छोड़ी है तथा उसके निजी अनुभव का अंग बन गयी है।

सामान्य चेतना बहुस्तरीय, जटिल और अंतर्विरोधी सत्व है, जो ऐसी बहुविध अनुभूतियों, मनोभावों और धारणाओं के समुच्चय से बनता है, जो मनुष्यों के जीवन की अपेक्षाकृत निरंतर और सुस्थिर परिस्थितियों के प्रभावांतर्गत उत्पन्न होती हैं तथा सतत पुनरुत्पादित होती हैं। ऐतिहासिक रूप से विकसित हो रहा दैनंदिन अनुभव तथा इसकी सहवर्ती सामान्य चेतना जीवन की इन विविध परिस्थितियों तथा उनमें होनेवाले ऐतिहासिक परिवर्तन और विकास के अनुरूप होते हैं। यह अनुभव सामान्य चेतना के ज़रिये समझा जाता है तथा संज्ञान और व्यावहारिक कार्यकलापों में लागू किया जाता है। सामान्य चेतना की धारणाओं के साथ हमारा सर्वत्र सामना होता है। यह सबसे पहले इंद्रियानुभविक धारणाएं हैं, जो अंशतः सापेक्ष सत्यों और अंशतः भ्रमों तथा भ्रांतियों से बनती हैं: पानी १००° सें० तापमान पर खौलने लगता है, सोना ज़ंग नहीं खाता, सूर्योदय सुबह को और सूर्यास्त शाम को होता है, बचत बैंकों में जमा पैसा ब्याज देता है। युग-युगों के दौरान परिष्कृत सूक्तियां सामान्य चेतना की उत्कृष्ट अभिव्यक्तियां हैं, उनमें

लोक-बुद्धिमत्ता, दलित तथा उत्पीड़ित लोगों की वर्गीय सहजबुद्धि, लोगों की आशाएं और आशंकाएं भरी होती हैं।

मार्क्स ने अपने आर्थिक तथा ऐतिहासिक अध्ययनों में दिखाया कि सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र बुर्जुआ वर्ग की उन सामान्य धारणाओं को दर्ज करता और सैद्धांतिक रूप से पुष्ट करता है, जिनके अनुसार भूमि किराया पैदा करती है, पूंजी – मुनाफ़ा और श्रम – केवल मज़दूरी। मार्क्स ने इन धारणाओं के अवैज्ञानिक सार को प्रकट किया, जिन्हें सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र ने ऊंचा उठाकर सैद्धांतिक जड़सूत्र बना दिया और सिद्ध किया कि केवल जीवित श्रम ही मूल्य, बेशी मूल्य तथा इसके रूपांतर पैदा करता है। इसके साथ ही, उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि सतही राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का ग़लत फ़ार्मूला निश्चित यथार्थ को प्रकट करता है, क्योंकि पूंजी का मालिक वास्तव में मुनाफ़ा पाता है, भूस्वामी किराया पाता है और श्रमिक अपने श्रम की मज़दूरी पाता है। इस सूरत में सामान्य बुर्जुआ चेतना पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को सतही रूप से प्रकट करती है। यह सर्वहारा द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य के पूंजीपतियों के विभिन्न समूहों के बीच पुनर्वितरण की विशिष्ट पूंजीवादी विधियों को प्रकट करता है।

मार्क्स ने दिखाया कि टुटपुंजिया-बुर्जुआ विचारधारा सैद्धांतिक रूप से टुटपुंजिया-बुर्जुआ वर्ग की दैनंदिन धारणाओं का सार पेश करती है यानी अपने सैद्धांतिक रूप के बावजूद यह वर्ग पूर्वाग्रहों से ऊपर नहीं उठता। हालांकि इसके सिद्धांतकारों की शिक्षा और वैयक्तिक स्थिति टुटपुंजिया-बुर्जुआ वर्ग से काफ़ी भिन्न हो सकती है, फिर भी वे इसी वर्ग के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं, क्योंकि "उनके विचार उन सीमाओं से आगे नहीं बढ़ते, जिनसे टुटपुंजिया-बुर्जुआ वर्ग जीवन में आगे नहीं बढ़ता, और फलतः सैद्धांतिक रूप से वे उन्हीं समस्याओं तथा हलों पर पहुंचते हैं, जिनपर भौतिक हित और सामाजिक स्थिति टुटपुंजिया-बुर्जुआ वर्ग को व्यवहार में लाती है" (1,*11*,130-131)। टुटपुंजिया-बुर्जुआ विचारधारा के विपरीत वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा मज़दूरों की स्वतःस्फूर्त ट्रेडयूनियनवादी चेतना पर क़ाबू पाती है, इसे बुर्जुआ वर्ग के ख़िलाफ़ क्रांतिकारी संघर्ष तथा उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के उन्मूलन की आवश्यकता की समझ तक ऊंचा

उठाती है। एंगेल्स इसी तरीके में दैनंदिन धारणाओं तथा वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं के बीच गुणात्मक अंतर पर ज़ोर देते हैं "जहां तक सामान्य जीवन का संबंध है, हम, उदाहरणार्थ, जानते हैं और बता सकते हैं कि अमुक पशु का अस्तित्व है या नहीं। लेकिन अधिक गहराई में जाने पर हमें पता चलता है कि बहुधा यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न होता है" (8,32)। यथार्थता की वैज्ञानिक समझ तथा दैनंदिन अनुभव की धारणाओं में इसके प्रतिबिंबन के बीच अंतर्विरोध अनिवार्यतः विरोधाभास के रूप में होता है, बशर्ते कि सामान्य चेतना की दृष्टि से देखा जाये। मार्क्स के शब्दों में, "वैज्ञानिक सत्य हमेशा विरोधाभासी होते हैं, बशर्ते कि सामान्य अनुभव के आधार पर आंका जाये जो केवल वस्तुओं के भ्रामक बाह्य रूपों को ही पकड़ता है" (1,2, 54)। आधुनिक सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक गास्तों बाशल्यार २०वीं सदी के प्राकृतिक विज्ञानों की मूल विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए उसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, जिसे मार्क्स ने १०० साल से अधिक समय पहले अपने सामाजिक-आर्थिक अध्ययनों में निकाला था। बाशल्यार के अनुसार, "कोई भी नया सत्य सुस्पष्टता के बावजूद पैदा होता है, कोई भी नया अनुभव प्रत्यक्ष अनुभव के बावजूद उत्पन्न होता है" (36,7)।

अपनी इंद्रियानुभविक और विचारधारात्मक अंतर्वस्तु के अलावा सामान्य चेतना की एक दूसरी मुख्य विशेषता इसका धार्मिक पहलू है। धर्मशास्त्र के विपरीत धार्मिक चेतना भी सामान्य चेतना है, हालांकि धर्मशास्त्री तथा प्रत्ययवादी दार्शनिक यह नहीं मानते। आत्म-अन्य-संक्रामण, संसार के काल्पनिक और वास्तविक में विभाजन धार्मिक चिंतन की विशेषताएं हैं। ये विशेषताएं सामान्य चेतना के अंतर्विरोधी स्वरूप में प्रकट होती हैं, जिसमें इंद्रिय-अनुभव तथा काल्पनिक-धार्मिक विचार गड्डमड्ड हो जाते हैं। अपने व्यावहारिक दैनंदिन कार्यकलापों में ईश्वर को माननेवाले लोग प्रायः अनीश्वरवादियों की भांति ही बरताव करते हैं: वे किसी भी अस्तित्वमान चीज़ के इंद्रियातीत कारण की धार्मिक व्याख्या की उपेक्षा करते हैं, इंद्रियानुभविक रूप से सिद्ध कारणों, प्रमाणों द्वारा निदेशित होते हैं, आदि। लेकिन यह स्वतःस्फूर्त अधार्मिक प्रवृत्ति (सचेत कार्यकलापों और ज्ञान द्वारा जनित) निरंतर उन परंपरा-

गत धार्मिक विचारों के साथ टकराती है, जो मनुष्य की चेतना में न केवल विरोधी सामाजिक संबंधों, बल्कि पालन-पोषण और शिक्षा के ज़रिये भी अंकित होते हैं। यह द्विभाजन ईश्वर को माननेवाले व्यक्ति को वस्तुओं तथा स्वयं अपने जीवन को दो बिल्कुल विरोधी, मूलतः एक दूसरे का अपवर्जन करनेवाले दृष्टिकोणों से आंकने के लिए विवश करता है। स्वभावतया वह न तो अपनी धार्मिकता और अधार्मिकता के बीच तालमेल बिठाना स्वीकार कर पाता है, न ही अपने उन संदेहों को दूर कर पाता है, जिनकी गहरी, सामाजिक जड़ें उसकी समझ में नहीं आतीं।

अतः सामान्य चेतना को सिर्फ़ इसके वास्तविक आधार दैनंदिन अनुभव तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। यह वास्तविक इहलोक और अनस्तित्वमान परलोक दोनों के अभिमुख है। इसलिए सामान्य चेतना तथा सहजबुद्धि को गड्डमड्ड करना ग़लत है, हालांकि इसमें संदेह नहीं कि सहजबुद्धि सामान्य चेतना की अनिवार्य, जीवंत रूप से महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु है।

चूंकि सामान्य चेतना निजरूप बनी रहती है यानी संसार की वैज्ञानिक व्याख्या तक ऊपर नहीं उठती, इसलिए यह अपनी अंतर्वस्तु का आलोचनात्मक रूप से विश्लेषण करने में असमर्थ है – इसमें वास्तविक और अविवेकपूर्ण विचार टकराते, एक दूसरे में व्याप्त होते और घुल-मिल जाते हैं। अविवेकपूर्ण विचार न केवल धार्मिक, बल्कि अवैज्ञानिक और विज्ञान-विरोधी भी हो सकते हैं। यही वजह है कि विवेकपूर्ण सहजबुद्धि अक्सर वास्तविक विवेक से बहुत दूर होती है।

'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' में हेगेल दीत्रिख़ तिदेमान्न के इस दावे ('परिकल्पनात्मक दर्शन की आत्मा' में) का व्यंग्यात्मक ढंग से उल्लेख करते हैं कि गोर्गी सहजबुद्धि के मनुष्य से बहुत आगे जाता है। इस संबंध में हेगेल ज़ोर देते हैं कि प्रत्येक दार्शनिक मनुष्य की "सहजबुद्धि से आगे जाता है, क्योंकि जिस चीज़ को आम तौर से **सहजबुद्धि** कहा जाता है, वह दर्शन नहीं है और अक्सर दर्शन से बहुत कम विवेकपूर्ण होती है। सहजबुद्धि में समकालीन चिंतन का रूप, सूक्तियां और पूर्वाग्रह शामिल हैं... और यह अपने समय की उन बौद्धिक परिभाषाओं से अनभिज्ञ रहती है, जो इसे निदेशित करती

हैं" (64,*14*,36)। लेनिन 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' संबंधी अपनी टिप्पणियों में हेगेल के इस उद्धरण का हवाला देते हैं और इसके आगे यह लिखते हैं: "सहजबुद्धि = समकालीन पूर्वग्रह" (10,*38*, 273)। इस सूत्र को हेगेल की प्रस्थापना के सार तथा इसकी सापेक्ष सत्यता की स्वीकृति के रूप में देखा जाना चाहिए न कि सहजबुद्धि के लेनिन के मूल्यांकन के रूप में। लेनिन की अनेक टिप्पणियों से साफ़ है कि उन्होंने सामान्य चेतना के एकतरफ़ा मूल्यांकनों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार किया। मसलन, इस बात का ज़िक्र करते हुए कि "सहज-बुद्धि" भौतिकविज्ञान में नवीनतम उपलब्धियों को अजूबा मानती है (10,*14*,261), लेनिन दैनंदिन अनुभव पर आधारित विचारों में बुद्धिसंगत अंतर्वस्तु को हटाने के हेगेल के प्रयासों की निंदा करते हैं, जो न केवल इन विचारों को जन्म देता है, बल्कि उन्हें दिन-प्रतिदिन जांचता, सुधारता और प्रमाणित भी करता है। जब हेगेल घोषणा करते हैं कि "अनुभूत सत्ता" की सत्यता की एपिक्यूरस की स्वीकृति "सामान्य सहजबुद्धि के दृष्टिकोण से ऊपर नहीं उठती," तो लेनिन ज़ोर देते हैं कि यह आलोचनात्मक टिप्पणी भौतिकवाद के सार को विकृत करती है: "सहजबुद्धि के साथ असहमति प्रत्ययवादी की दूषित सनक है" (10,*38*,291)।

वैज्ञानिक, दार्शनिक और सामान्य विचारों के बीच भेद करने की आवश्यकता प्राचीन काल में ही महसूस कर ली गयी थी: डेमोक्रिटस ने मांग की कि जो सत्य है तथा जो सिर्फ़ मतों में अस्तित्वमान है, उनके बीच भेद किया जाना चाहिए। फ़्रांसिस बेकन के व्यामोहों के सिद्धांत में भी सामान्य चेतना और, जो कम महत्वपूर्ण नहीं है, सामान्य भाषा की आलोचना है। लेकिन उनकी आलोचना सामान्य चेतना के संज्ञानात्मक मूल्य का निषेध नहीं, बल्कि इसे परिष्कृत बनाने, इसके विचारों को संशोधित करने, इसमें विद्यमान सत्य को ध्यान में रखने तथा आगे बढ़ने की कोशिश है। भौतिकवादी परंपरा को रचनात्मक ढंग से विकसित करते हुए द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ने सिद्ध किया कि सैद्धांतिक ज्ञान और प्रत्यक्ष इंद्रियगत अनुभूतियों के बीच अंतर्विरोध इंद्रियगत अनुभूतियों के महत्व को ज़रा भी कम नहीं करता। फलस्वरूप, यह अमूर्त विचारों के इंद्रियगत उद्गमों के बारे में संवेदनवादी स्थापना

का खंडन नहीं करता। सामान्यतः बौद्धिक तथा इंद्रियगत के बीच यह द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध सामान्य चेतना के लिए अबोधगम्य है, क्योंकि यह केवल उसी चीज़ की अपनी मान्यता पर दृढ़ रहता है, जिसकी इंद्रियों द्वारा पुष्टि की जा सके। इसी वजह से सहजबुद्धि के विचार और मानक, जो यथार्थता के निश्चित पहलुओं को कमोबेश पर्याप्त रूप से प्रतिबिंबित करते हैं, वैज्ञानिक अध्ययन का मार्गदर्शन नहीं कर सकते: वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र असीम रूप से बड़ा और उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसका सामान्य चेतना अध्ययन करती है और यह अनिवार्यतः इसकी क्षमता को सीमित करता है। वैज्ञानिक धारणाओं और सहजबुद्धि के बीच टकराव वैज्ञानिक धारणाओं का खंडन नहीं करता: केवल विज्ञान या व्यवहार ही उनका खंडन या पुष्टि कर सकते हैं। एंगेल्स ने लिखा: "विवेकपूर्ण सहजबुद्धि रोज़मर्रा के साधारण जीवन के सीमित क्षेत्र के भीतर तो अवश्य आदर की पात्र है, किन्तु जब वह वहां से बाहर निकलकर अनुसंधान के व्यापक क्षेत्र में पैर रखती है, तो बस उसी क्षण से चमत्कारपूर्ण घटनाएं घटने लगती हैं" (8,31)।

यह सर्वविदित है कि कैसे सामान्य सहजबुद्धि ने सूर्यकेंद्रीय प्रणाली, अयूक्लिडीय ज्यामिति तथा सापेक्षता-सिद्धांत के विरुद्ध तर्क पेश किया। लेकिन सामान्य चेतना ने ही नहीं, बल्कि विज्ञान-जगत में कोपर्निकस के दकियानूसी समकालीनों ने भी सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की परिक्रमाओं या लोबाचेव्स्की के ज्यामितीय प्रमेयों और आइंस्टीन के सिद्धांतों को, जैसा कि तब वे विरोधाभासी प्रतीत होते थे, मानने से इन्कार कर दिया। दकियानूसी वैज्ञानिक सहजबुद्धि से ऊपर नहीं उठे, जिसने दावा किया कि "यह बिल्कुल असंभव है क्योंकि यह नहीं हो सकता"।

लेकिन सामान्य चेतना और वैज्ञानिक चेतना के वैषम्य को दिखलाते हुए हमें सामान्य चेतना की विविधता को नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए, जो न केवल मनुष्यों के इर्दगिर्द वातावरण के भीतर सामान्य अनुभूतियों, बल्कि खास तौर से उत्पादन-कार्यों में प्राप्त बहुविध अनुभव को भी संचित करती है। यह अनुभव वैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए भी आधार प्रस्तुत करता है। मिसाल के लिए, सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो-

फ़ेसर अ० न० कोल्मोगोरोव के अनुसार, यूक्लिड की ज्यामितीय स्वयंसिद्धियां सामान्य अनुभव से निगमित तथ्यों को प्रकट करती हैं: "अंतिम विश्लेषण में स्वयंसिद्धियों की सत्यता में विश्वास हमेशा प्रायोगिक मूल का होता है। अगर अनुभव, जिसपर यह विश्वास आधारित है, आम तौर से संपूर्ण मानवजाति का पूर्व-वैज्ञानिक अनुभव है और एक ऐसे स्वतःस्फूर्त विश्वास में परिवर्तित हो चुका है, जो प्रमाण के रूप में कोई विशेष अवलोकन पेश नहीं करता, तो हम एक सुस्पष्ट सत्य का अध्ययन कर रहे हैं। प्रारंभिक ज्यामिति की स्वयंसिद्धियों के साथ यही बात है" (25,394)। जैसा कि विदित है, प्रारंभिक ज्यामिति के संस्थापक यूक्लिड ने स्वयंसिद्धियों को सामान्य विचार कहा।

विज्ञान द्वारा उत्पादन प्रक्रियाओं का अध्ययन शुरू करने से बहुत पहले ही मनुष्य ने फ़सलें पैदा करना, घर बनाना और धातुओं को गलाना सीख लिया था। कृषिविज्ञान, निर्माण-इंजीनियरी और धातुविज्ञान ने दैनंदिन उत्पादन अनुभव यानी उन विचारों का पूरा-पूरा अध्ययन किया, जिन्होंने मनुष्यों को उनके उत्पादन कार्यों में मार्गदर्शन किया। जहां तक पूर्वाग्रहों का संबंध है, ये सिर्फ़ सामान्य चेतना तक ही सीमित नहीं हैं: विज्ञान का इतिहास दिखलाता है कि वैज्ञानिक (या छद्म-वैज्ञानिक) सिद्धांतों में भी पूर्वाग्रहों की कोई कमी नहीं हैं।

हेगेल ने, जिन्होंने द्वंद्वात्मक और अधिभूतवादी चिंतन प्रणालियों की भली-भांति जांच की, संसार के अधिभूतवादी विचार को सामान्य चेतना के तद्रूप माना। "सहजबुद्धि का विलाप, जो अपनी सहायता का और कोई तरीक़ा नहीं जानती" (64,*14*,7) के रूप में प्राचीन यूनानी हेत्वाभासवादियों के सिद्धांतों के ख़िलाफ़ सामान्य चेतना के प्रतिवादों का वर्णन करते हुए हेगेल ने दावा किया कि सहज बुद्धि अनिवार्यतः हेत्वाभासी तर्क-वितर्कों में फंस जाती है, क्योंकि यह उन सत्यों तथा उक्तियों को निरपेक्ष बनाती है, जिनसे यह निदेशित हुई थी।

हेगेल ने सामान्य चेतना के एक निश्चित ऐतिहासिक रूप की अभिलाक्षणिक विशेषताओं को सही ढंग से निरूपित किया, लेकिन उन्होंने यह मानते हुए वही ग़लती (जिसे उन्होंने स्वयं प्रकट किया था) की कि सामान्य चेतना की अधिभूतवादी सीमाएं इतिहासेतर

और अलंघ्य हैं। सामान्य चेतना का यह नकारात्मक मूल्यांकन हेगेल के दर्शन के तर्कबुद्धिवादी-प्रत्ययवादी स्वरूप से उत्पन्न हुआ, जिसने दावा किया कि इंद्रियों के ज़रिये अनुभूत बाह्य जगत् मात्र एक आभास (भले ही वस्तुगत) है और कि यह केवल सामान्य चेतना का एक क्षेत्र है। हेगेल ने दावा किया कि दर्शन सामान्य चेतना से इस अर्थ में भिन्न है कि यह उस चीज़ को सिर्फ़ एक आभास के रूप में देखता है, जिसे सामान्य चेतना अस्तित्वमान सत्ता के रूप में पेश करती है।

सामान्य चेतना का ठोस ऐतिहासिक विश्लेषण एक ऐसे निष्कर्ष पर ले जाता है, जो हेगेल के दर्शन से उसकी ऐतिहासिकता के बावजूद बिल्कुल पराया था: सामान्य चेतना की अधिभूतवादी विशेषताएं उसी युग की उपज हैं, जिसने विज्ञान में अधिभूतवादी चिंतन को जन्म दिया।* सामान्य तथा असामान्य (वैज्ञानिक, दार्शनिक) चेतना के बीच पूर्ण विरोध नहीं है । सामान्य चेतना का अलग-थलग ढंग से अस्तित्व नहीं है और वर्तमान समय में यह उतनी सामान्य नहीं है, जितनी कि यह १०० साल पहले थी। संक्षेप में, यह विकसित होती है। लेकिन यह लुप्त नहीं होती, यह अधिक बौद्धिक बन जाती है, क्योंकि इसपर संस्कृति तथा शिक्षा का प्रभाव पड़ता है और यह वैज्ञानिक विचारों से प्रेरित होती है। लेकिन फिर भी, यह सामान्य तथा साधारण बनी रहती है। यही बात साधारण, दैनंदिन अनुभव पर भी लागू होती है, जो विज्ञान के विशेष अनुभव की तुलना में सीमित होता है। सामान्य चेतना अनुभव और ज्ञान प्राप्त करती है, वैज्ञानिक विचारों और धारणाओं को आत्मसात् करती है, पर यह उनके संज्ञानात्मक मूल्य को आंकने में स्वतंत्र नहीं है। लोग प्राप्त ज्ञान का उपयोग

---

* एंगेल्स ने सामान्य बुर्जुआ सहजबुद्धि की अधिभूतवादी सीमाओं को इंगित किया: "बेशक साधारण बुर्जुआ मस्तिष्क का मरियल घोड़ा सारतत्व को आभास से और कारण को कार्य से अलग करनेवाले गड्ढे के सामने किंकर्तव्यविमूढ़ होकर लड़खड़ाने लगता है, परंतु अगर किसी का इरादा अमूर्त तर्क की ऊबड़-खाबड़ भूमि पर दौड़ते हुए जाने का हो तो उसे मरियल घोड़ों की सवारी नहीं करनी चाहिए" (6,223)।

अपने दैनंदिन, अव्यावसायिक कार्यों और दिलचस्पियों के क्षेत्रों में अपना मार्ग चुनने के लिए बंधे-बंधाये सांचों के रूप में करते हैं।

आधुनिक समाज में मनुष्य टेलीफ़ोन, रेडियो, टेलीविज़न, कार, सिनेमा तथा विज्ञान और टेक्नोलाजी की बहुत-सी उपलब्धियों का उपयोग करता है, लेकिन अक्सर उसे उन वैज्ञानिक नियमों का धुंधला ज्ञान ही होता है, जिनके आधार पर ये उपकरण काम करते हैं। व्यक्ति इस चीज़ से ही संतुष्ट रहता है कि उसे इन उपकरणों का काम मालूम है, कि वह इनके इस्तेमाल से लाभ उठा रहा है और आनंद प्राप्त कर रहा है, कि जानता है कि यदि वे ख़राब हो जायें तो कहां से सहायता मांगनी चाहिए। बेशक उसके लिए वह हर चीज़ समझना असंभव तथा बेकार है, जो भौतिकविज्ञानियों, मेकैनिकों, विद्युत और रेडियो इंजीनियरों तथा दूसरे विशेषज्ञों के लिए सुस्पष्ट है। बल्कि विशेषीकरण की वजह से स्वयं वैज्ञानिकों का विज्ञान तथा टेक्नोलाजी की उन उपलब्धियों के बारे में धुंधला ज्ञान ही होता है, जिन्हें वे इस्तेमाल करते हैं, पर जो कमोबेश उनके अपने क्षेत्रों से सीधे नहीं जुड़ी होतीं। अतः इस स्थिति में भी सामान्य और वैज्ञानिक चेतना के बीच कोई बहुत बड़ा विरोध नहीं है। आजकल ऐसा कोई भी आदमी नहीं है, जिसकी चेतना या तो शुद्धतः वैज्ञानिक या शुद्धतः सामान्य हो। मानव-चेतना के दोनों ही रूप अविच्छेद्य हैं।

इस तरह, सामान्य चेतना की मार्क्सवादी समझ प्राकृतिक और सामाजिक वस्तुगत यथार्थता के साथ मनुष्य के संबंधों में विविधता की स्वीकृति पर आधारित है। ब्रह्मांड की असीमता की खोज करनेवाले, इसके नियमों की जानकारी और उनमें पारंगत होनेवाले, "दूसरे वातावरण" का निर्माण करनेवाले और इसके ज़रिये स्वयं अपना निर्माण करनेवाले एक सक्रिय प्राणी के रूप में मनुष्य अपनी वैज्ञानिक चेतना का निर्माण तथा विकास करता है। लेकिन अपने आस-पास के वातावरण में मात्र अपना रास्ता खोजनेवाले तथा अपने को जांचे-परखे तरीक़ों से उसके अनुकूल ढालनेवाले प्राणी के रूप में मनुष्य सामान्य चेतना का वाहक है, जिसमें विवेक और पूर्वाग्रह, वास्तविक ज्ञान और भ्रम अत्यंत विचित्र तथा अंतर्विरोधी ढंग से सम्मिलित होते हैं।

चूंकि सामान्य चेतना दैनंदिन अनुभव पर आधारित होती है,

इसलिए यह इंद्रियानुभविक और निस्संदेह रूप से प्रत्ययवाद की विरोधी है। यह तथ्य सामान्य चेतना की परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी आलोचना में अपनी अभिव्यक्ति पाता है। फिर भी, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, सामान्य चेतना हमेशा अनुभव तथा व्यवहार पर आधारित नहीं होती। जैसा कि प्राचीन दर्शन (जिसका आविर्भाव विज्ञान से पहले हुआ और जिसने लोगों के दैनंदिन अनुभव की व्याख्या की) से स्पष्ट है, सामान्य चेतना में भौतिकवादी और प्रत्ययवादी विचारों के आद्यरूप शामिल हैं। इस अर्थ में प्रत्ययवाद तथा भौतिकवाद दोनों ही सामान्य चेतना पर आधारित हैं। और प्रत्ययवादी तथा भौतिकवादी दोनों ही इसके साथ वाद-विवाद करते हैं।

भौतिकवाद सामान्य चेतना के "भोले-भाले यथार्थवाद" पर भरोसा करता है, जब कि प्रत्ययवाद आत्मगतवादी विचारों पर। भौतिकवाद सामान्य चेतना की वाम पक्ष से आलोचना करता है, प्रत्ययवाद दक्षिण पक्ष से। भौतिकवाद सामान्य चेतना के पूर्वाग्रहों के ख़िलाफ़ तर्क करता है ; प्रत्ययवाद (आम तौर से, पर हमेशा नहीं) सहजबुद्धि के ख़िलाफ़। सहजबुद्धि की आलोचना का प्रामाणिक उदाहरण तेर्तुलियन का यह दावा है कि धार्मिक विश्वास को उस विसंगति से नहीं डरना चाहिए, जो सहजबुद्धि के लिए अमान्य है। पर ईसाई धर्म और उससे संबद्ध दर्शनों का इतिहास सिद्ध करता है कि ईसाई धर्मशास्त्र तथा इसका समर्थक प्रत्ययवादी दर्शन सहजबुद्धि की आलोचना (प्रोटेस्टैंट धर्म, प्रोटेस्टैंट नव-रूढ़िवादिता) और सहजबुद्धि से अपील (कैथोलिक धर्म, नव-थोमसवाद) के द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त करना चाहते हैं।

थोमस एक्विनस ने, जिन्होंने धर्म और बुद्धि के सामंजस्य की घोषणा की, सिद्ध करने की कोशिश की कि बुद्धि दैनंदिन अनुभव के तथ्यों से आगे बढ़ते हुए तर्कसंगत और अनिवार्य रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि ईश्वर का अस्तित्व है। मसलन, एक पिंड इस वजह से गतिमान होता है कि उसे गति दी गयी होती है। अतः, थोमस एक्विनस के अनुसार, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चालक के बिना चलाया जाने वाला पिंड असंभव है। लेकिन यदि चालक स्वयं ही गतिमान होता है, तो वह स्वयं भी चलाया जाने वाला पिंड होता है यानी उसका अपना चालक होता है। यह शृंखला अंतहीन नहीं हो

सकती, क्योंकि इस सूरत में किसी भी गति का कालसापेक्ष आरंभ नहीं होता। अत: किसी ऐसी चालक चीज़ का अवश्य अस्तित्व होना चाहिए, जो स्वयं गतिहीन होते हुए गति प्रदान करती है अर्थात प्रथम कारण।

थोमस एक्विनस तथा उनके मध्यकालीन अनुयायियों ने सहजबुद्धि के रहस्यमयीकरण के ज़रिये इस मानव-योग्यता से अपील का समर्थन एक निर्विवाद चीज़ के रूप में किया, जो, उन्होंने दावा किया, सभी मनुष्यों के लिए बिल्कुल एक-जैसी होती है, चाहे उनके जीवन की परिस्थितियां कैसी भी हों और प्राप्त ज्ञान कुछ भी हो, यानी यह सहजात, मानव-आत्मा को ऊपर से मिली एक चीज़ है। मिसाल के लिए, १६वीं सदी में प्रकाशित थोमसवादी 'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश' ने दावा किया कि सहजबुद्धि "सभी लोगों और सभी युगों में बिल्कुल एक-जैसी ही होती है, यह न आगे बढ़ती है, न पीछे हटती है। यह, अगर ऐसा कह सकें तो, अपनी आद्य स्थिति (l'état brut) में बुद्धि है, चिंतन से रहित, विज्ञान से रहित बुद्धि" (75,971)। स्पष्टत: चिंतन या शिक्षा से अदूषित ऐसी l'état brut बुद्धि सहज ही स्वीकार कर लेती है कि ईश्वर का अस्तित्व तर्कसंगत ढंग से प्रमाण्य है। इससे यह भी साफ़ है कि क्यों आधुनिक थोमसवादी दैनंदिन अनुभव (मानो यह मानव-प्रकृति की अपरिवर्तनीयता से उत्पन्न होता हो) की अपरिवर्तनीयता के बारे में अपने मध्यकालीन पूर्ववर्तियों के विचारों से पूरी सहमति प्रकट करते हैं। इस दृष्टिकोण से, दर्शन केवल तभी अपनी धारणा से मेल खाता है (यानी प्रामाणिक दार्शनिक ज्ञान के रूप में काम करता है), जब यह मात्र उस दैनंदिन अनुभव से जुड़ा हुआ हो, जिसकी अंतर्वस्तु की यह व्याख्या करता है। इस सूरत में, दर्शन विज्ञान से स्वतंत्र है, जो न तो दर्शन के मूलतत्वों का खंडन, न ही पुष्टि कर सकता है, क्योंकि विज्ञान विशेष यानी वैज्ञानिक अनुभव का अध्ययन करता है।

नव-थोमसवाद के अनुसार, सभी दार्शनिक समकालीन होते हैं, क्योंकि वे सभी उसी, मानो हमेशा अपरिवर्तनीय और एक-जैसे दैनंदिन अनुभव का अध्ययन करते हैं। इस अनुभव में न पुष्टि, न खंडन होता है, यह न सही है, न ग़लत, बल्कि यथार्थता तथा अपने निजी

जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों का एक समुच्चय है। सामान्य चेतना तथा अनुभव की नव-थोमसवादी सफ़ाई का उद्देश्य देश और काल से, विज्ञान और विशेष वैज्ञानिक अनुभव से उनकी मौलिक अंतर्वस्तु की स्वतंत्रता सिद्ध करने के प्रयास की भांति ही थोमस एक्विनस के धर्मशास्त्रीय दर्शन का औचित्य सिद्ध करना है: उन्हें इस वजह से हमारा समकालीन घोषित किया जाता है कि दैनंदिन अनुभव कालातीत नहीं हो सकता। नव-थोमसवादियों के अनुसार, थोमसवाद परिकल्पना से अदूषित सहज-बुद्धि के शुद्ध स्रोत से उत्पन्न होता है, जिसे अपनी मौलिक अपरिवर्तनीय-ता की वजह से एक ऐसे इतिहासेतर आत्मिक मानवीय गुण के रूप में समझा जाना चाहिए, जो हमें ऊपर से वरदानस्वरूप मिला हो। मनुष्यों के तटस्थ, मूक दैनंदिन अनुभव के थोमसवादी विचार को अस्वीकार करते हुए, मानो दर्शन एकमात्र इसी चीज़ का अध्ययन करता हो, गास्तों बाशल्यार ठीक ही टिप्पणी करते हैं: "संसार और आत्मा के बीच युग-युगों पुरानी बहस के बाद कोई मूक अनुभव के बारे में अब बिल्कुल बात नहीं कर सकता" (36,8)।

१८वीं शताब्दी में फ़ांसीसी भौतिकवादियों ने अपने काल्पनिक धार्मिक विचारों को उचित ठहराने के लिए सहजबुद्धि के प्रमाण का उपयोग करनेवाले कैथोलिक धर्मशास्त्रियों और दार्शनिकों के प्रयासों को बेनक़ाब करने में कोई कोर-कसर न उठा रखी। होलबाख़ ने दावा किया कि सहजबुद्धि मनुष्य में "केवल तभी" विद्यमान हो सकती है, "जब वह पूर्णतः स्वस्थ हो, जब उसकी आत्मा न तो भय से उत्तेजित, न रोग से बहुत थकी हुई, न मनोवेगों से आंदोलित हो" (77,138)। विवेकपूर्ण सहजबुद्धि, होलबाख़ ने दावा किया, धर्म के साथ अपना मेल नहीं बिठा सकती, जो "मांग करता है कि हम अप्रमाण्य और अस्पष्ट चीज़ों में, ऐसी प्रस्थापनाओं में दृढ़तापूर्वक विश्वास करें, जो असंभव तथा एकदम तर्कविरुद्ध हैं" (76,142)।

यदि फ़ांसीसी भौतिकवादियों ने सहजबुद्धि के साथ धर्म के असामं-जस्य को सिद्ध किया, तो स्काटिश "सहजबुद्धि के दर्शन" ने अपना मुख्य लक्ष्य इसके बिल्कुल विपरीत बात सिद्ध करने में देखा। इस स्कूल के प्रमुख प्रतिनिधि थामस रीड ने 'सहजबुद्धि के आधार पर मानव-आत्मा का अन्वेषण' (१७६४) में दावा किया कि बाह्य जगत् की

यथार्थता की स्वीकृति को इंद्रियों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों पर आधारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये प्रमाण केवल वहीं तक मूल्यवान हैं, जहां तक उनमें विश्वास किया जाता है। सहजबुद्धि विश्वास की वह मूल योग्यता है, जो इंद्रिय-अनुभूति तथा चिंतन से पहले होती है तथा बाह्य जगत् और ईश्वर दोनों की स्वीकृति पर ले जाती है। इस दृष्टिकोण से, ईश्वर में अविश्वास सहजबुद्धि के वैसे ही विपरीत है, जैसे कि इंद्रियों द्वारा अनुभूत वस्तुओं की वास्तविकता पर अविश्वास करना। अतः रीड के अनुसार, धार्मिक विश्वास की अस्वीकृति का अर्थ बाह्य जगत् की यथार्थता की अस्वीकृति के समान है।

अतः भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद दोनों ही ने अक्सर सहजबुद्धि का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया। और हालांकि अपने मूलभूत अंतर्विरोधों की वजह से सामान्य चेतना स्पष्टतः विपरीत दर्शनों का पोषण करती है फिर भी कहा जाना चाहिए कि इस चेतना में प्रतिबिंबित दैनंदिन अनुभव – संपूर्ण मानवजाति का अनुभव, जो सामाजिक व्यवहार द्वारा समृद्ध बनता और पुष्ट होता है – प्रत्ययवाद का खंडन करता तथा भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के एक प्रस्थान-बिंदु का काम करता है। लेनिन ने दैनंदिन चेतना और दर्शन के बीच संबंध के प्रश्न के इस बहुत महत्वपूर्ण पहलू पर बार-बार ज़ोर दिया। उन्होंने उन प्रत्ययवादियों की आलोचना की, जिन्होंने सामान्य चेतना के "भोले-भाले यथार्थ" का उपयोग अपनी भौतिकवाद-विरोधी अवधारणाओं को पुष्ट करने के लिए किया। उनमें से एक आत्मगतवादी प्रत्ययवादी दार्शनिक जार्ज बर्कले थे, जिन्होंने कहा: "मैं सहजबुद्धि की सफ़ाई पेश करने का प्रयास करता हूं" (37,102)। आत्मगतवादी-प्रत्ययवादी प्रणाली के ढांचे में पहली नज़र में बिलकुल विरोधाभासपूर्ण लगने वाला यह दावा स्पष्ट हो जाता है, यदि हम यह याद करें कि बर्कले ने दैनंदिन अनुभव पर आधारित इंद्रियानुभववाद की व्याख्या प्रत्ययवादी ढंग से की। वर्तमान समय में, प्रत्ययवादी इंद्रियानुभववाद अक्सर सामान्य सहजबुद्धि के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करता है। उदाहरण के लिए, अपनी आत्मगतवादी-अज्ञेयवादी ज्ञानमीमांसा की पुष्टि करते हुए कार्ल पोप्पेर घोषणा करते हैं: "मैं हमेशा ही सहजबुद्धि का दार्शनिक और सहजबुद्धि का यथार्थवादी था ... मैं दर्शन में किसी भी प्रत्ययवाद,

प्रत्यक्षवाद या तटस्थवाद का विरोधी था" (90,322-23)। यह अभिलाक्षणिक है कि आधुनिक बुर्जुआ प्रत्ययवादी दार्शनिक प्रत्ययवाद के छद्मनिषेध को दैनंदिन अनुभव के साथ सहमति के रूप में पेश करते हैं। यह इस बात का अप्रत्यक्ष प्रमाण है कि दैनंदिन अनुभव की मूल अंतर्वस्तु भौतिकवाद के पक्ष में है। चार्ल्स पियर्स पर अपने निबंध में सोवियत दार्शनिक यू० क० मेल्विल ज़ोर देते हैं कि अमरीकी व्यावहारिकतावाद के संस्थापक ने अपने सिद्धांत का वर्णन "आलोचनात्मक सहजबुद्धि" के दर्शन के रूप में किया। इस दृष्टिकोण से, सहजबुद्धि ऐसे विचारों तथा विश्वासों का समुच्चय है, जो "पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित मानव-अनुभव के परिणाम होते हैं" (29,382)।

लेनिन ने आत्मगतवादी-प्रत्ययवादी इंद्रियानुभववाद को ऐसी पूर्वाग्रह-रहित सामान्य चेतना के दृष्टिकोण के रूप में चित्रित करने के माख़वादी प्रयासों की आलोचना की, जो कथित रूप में केवल अनुभूतियों और उनके समुच्चयों को ही जानती है और किसी ऐसी दूसरी चीज़ को स्वीकार करने से इन्कार करती है, जिसकी अनुभूति नहीं की जा सकती। लेनिन ने लिखा: "'भोले-भाले यथार्थवाद' का हवाला, जिसकी मानो इस दर्शन द्वारा रक्षा की जाती है, सबसे सस्ती क़िस्म का हेत्वाभास है। किसी भी ऐसे स्वस्थ व्यक्ति का 'भोला-भाला यथार्थवाद', जो पागलख़ाने का निवासी या प्रत्ययवादी दार्शनिकों का शिष्य नहीं रहा है, इस विचार में है कि चीज़ें, वातावरण, संसार हमारी अनुभूति से, हमारी चेतना से, हमारे अहम् से और सामान्यतया मनुष्य से **स्वतंत्र** अस्तित्व रखते हैं... भौतिकवाद मानवजाति के 'भोले-भाले' विश्वास को सचेत ढंग से संज्ञान के अपने सिद्धांत का आधार बनाता है" (10,*14*,69-70)।*

---

*'दार्शनिक टिप्पणियां' में लेनिन ज़ोर देते हैं कि तर्क के रूप दैनंदिन व्यवहार से अटूट रूप से जुड़े हुए हैं: "...मनुष्य का व्यवहार अरबों बार पुनरावृत्त होकर तर्क के आकारों द्वारा मनुष्य की चेतना में घर कर लेता है। वस्तुतः (और केवल) इस अरबों बार की पुनरावृत्ति की वजह से ही ये आकार पूर्वाग्रह की स्थिरता, स्वयंसिद्धिमूलक स्वरूप रखते हैं" (10,*38*,217)।

यहां तक कि अपने अविकसित रूप में भी भौतिकवाद भोले-भाले यथार्थवाद से काफ़ी आगे जाता है और दैनंदिन चेतना के पूर्वाग्रहों तथा इंद्रियानुभविक अंतर्वस्तु का आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषण करता है। अपने अधिक विकसित आधुनिक रूप में भौतिकवाद वस्तुगत यथार्थता के सक्रिय प्रतिबिंबन-संज्ञान, प्रतिबिंबन-अध्ययन के द्वंद्ववाद की जांच करता है, इंद्रिय-अनुभूति द्वारा बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष प्रतिबिंबन के बारे में, विषय के साथ उसके प्रतिबिंबित रूप के तादात्म्य के बारे में भोले-भाले विचार को संशोधित करता है। यह दृष्टिकोण भोले-भाले यथार्थवाद का द्वंद्वात्मक निषेध है, पर इसमें निहित सत्य को बनाये रखते हुए तथा विकसित करते हुए ही। स्पष्ट है कि भौतिकवादी और ख़ास तौर से द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दर्शन के सिद्धांत केवल सामान्य चेतना और इसके लिए लाक्षणिक इंद्रियानुभविक विचारों की सीमाओं से आगे ही नहीं जाते, बल्कि इंद्रियानुभविक विचारों का खंडन भी करते हैं। सामान्य चेतना, जहां तक यह संगत वैज्ञानिक अवधारणाओं से प्रभावित न हो, भूतद्रव्य की स्वगति, परस्पर-निर्धारक तथा परस्पर-अपवर्जक विलोमों, आदि को समझने में असमर्थ है। और यह सामान्य चेतना के अधिभूतवादी (जैसा कि हेगेल ने दावा किया) स्वरूप का नहीं, बल्कि इस चीज़ का परिणाम है कि द्वंद्वात्मक चिंतन की अंतर्वस्तु इतनी विविध है कि वह व्यक्तियों के सीमित दैनंदिन अनुभव के ढांचे में नहीं आ सकती।

आधुनिक प्रत्यक्षवाद, जो माख़वाद से गणितीय और तार्किक प्रस्थापनाओं के इंद्रियानुभविक मूल की अपनी अस्वीकृति में भिन्न है, "भोले-भाले यथार्थवाद" के साथ एकजुट नहीं होता, बल्कि उल्टे, इसे संसार के एक अवैज्ञानिक अवबोधन के रूप में अस्वीकार करता है। सहजबुद्धि के स्वतःस्फूर्त भौतिकवादी विचारों पर क़ाबू पाने का प्रयास करते हुए, नव-प्रत्यक्षवादी प्रायः सदा इसपर धर्मशास्त्रीय पूर्वाग्रह का आरोप लगाते हैं। वे सिद्धांत रूप में तर्कबुद्धि और पूर्वाग्रह के बीच भेद करने, सामान्य चेतना के अंतर्विरोधों का विश्लेषण करने से इन्कार करते हैं। उदाहरणार्थ फ़िलिप फ़्रांक भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच भेद करनेवाले दार्शनिक शब्दों को दार्शनिक शब्दकोश से इस वजह से निकाल देने का सुझाव देते हैं कि वे जिन धारणाओं को

सूचित करते हैं, वे ऐतिहासिक रूप से सामान्य चेतना के विचारों में जड़ जमायी होती हैं। 'विज्ञान का दर्शन' में वह लिखते हैं: " 'भूत-द्रव्य', 'चेतना', 'कार्य-कारण संबंध' जैसी अभिव्यक्तियां आज केवल सहजबुद्धि के शब्द हैं और इनका यथातथ्य वैज्ञानिक वाद-विवाद में कोई स्थान नहीं है" (55,45-46)। अपनी इस पुस्तक में दूसरे स्थान पर वह लिखते हैं: "विज्ञान के दर्शन में मुख्य समस्या इस प्रश्न के बारे में है कि हम सहजबुद्धि के वक्तव्यों से सामान्य वैज्ञानिक सिद्धांतों पर कैसे पहुंचें" (55,2)। यह प्रस्थापना एक महत्वपूर्ण ज्ञानमीमांसीय समस्या को सही ढंग से पेश करती है, जिसे नव-प्रत्यक्षवाद हल करने में असमर्थ है, क्योंकि यह विज्ञान और दैनंदिन अनुभव को पूरी तरह से विरोधी स्थितियों में रखता है। नव-प्रत्यक्षवाद के अनुसार, विज्ञान चूंकि भूतद्रव्य, चेतना तथा नियतत्ववाद के अस्तित्व को स्वीकार करता है, इसलिए यह सामान्य चेतना और इसकी भाषा के स्तर पर बना रहता है। यह दावा विज्ञान की उपलब्धियों को आत्मगत ढंग से विकृत करता है, जिसने भूतद्रव्य के अमूर्त रूपों की खोज की है, मानसिक कार्यकलापों के जटिल शरीरक्रियावैज्ञानिक क्रियाविधि को प्रकट किया है तथा नियतत्ववाद की यंत्रवादी धारणाओं को त्याग दिया है। लेकिन इन खोजों तथा संबद्ध सैद्धांतिक निष्कर्षों का अर्थ यह नहीं है कि "भूत-द्रव्य" की धारणा के साथ काम करनेवाला वैज्ञानिक एक गृहिणी के दृष्टिकोण से ऊपर नहीं उठता।

वैज्ञानिक और सामान्य भाषा के तादात्म्य के ख़िलाफ़ संघर्ष के झंडे के नीचे फ़िलिप फ़्रांक मूलतः उस कार्यभार को हल करने – भूतद्रव्य से मुक्त होने – की कोशिश करते हैं, जिसे जान बर्कले ने पेश किया था। बर्कले ने लिखा कि "एकमात्र चीज़, जिसके अस्तित्व से हम इन्कार करते हैं, वह है, जिसे **दार्शनिक** भूतद्रव्य या दैहिक तत्व कहते हैं" (37,*2*,55)। लेकिन फ़्रांक संभवतः बर्कले से अधिक संगत हैं, क्योंकि वह चेतना (जिसे वह भूतद्रव्य के मुक़ाबले में रखते हैं) तथा कार्य-कारण संबंध यानी उन प्रवर्गों की यथार्थता को अस्वीकार करते हैं, जो भूतद्रव्य और चेतना के कार्य-कारण संबंध के बारे में मुख्य दार्शनिक प्रश्न से जुड़े हुए हैं।

अंतिम विश्लेषण में, "दर्शन में" नव-प्रत्यक्षवादी "क्रांति"

युग-युगों पुराने प्रश्नों के साथ सभी पूर्ववर्ती दर्शनों को अस्वीकार करती है। इन प्रश्नों को ऐसे असत्यापनीय और अप्रमाण्य विचारों के अव्यवस्थित ढेर के रूप में पेश किया जाता है, जो सामान्य चेतना से ऊपर उठने में असमर्थ हैं तथा ऐसे प्रश्नों की भोले-भाले ढंग से जांच करते हैं, जिनके उत्तर नहीं दिये जा सकते, क्योंकि वे वास्तविक अंतर्वस्तु से रहित काल्पनिक प्रश्न हैं। वस्तुतः यही अर्थ वितगेंश्तेइन के इस दावे का है कि जिस चीज़ पर बात नहीं की जा सकती, उसके बारे में चुप ही रहना चाहिए।* इसका अर्थ यह है कि उचित (शब्द के "आधुनिक" यानी नव-प्रत्यक्षवादी अर्थ में) दार्शनिक शिक्षा से रहित लोग ही इस बात पर तर्क-वितर्क करते हैं कि संसार परिमित है या अपरिमित, ज्ञेय है या अज्ञेय, आदि। लेकिन दार्शनिक (नव-प्रत्यक्ष-वादी) चुप ही रहता है: इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि ये छद्म प्रश्न हैं। पर युग-युगों पुरानी दार्शनिक चेतना को सामान्य चेतना के रूप में पेश करते हुए नव-प्रत्यक्षवादी इस चीज़ को ध्यान में नहीं रखते कि तथाकथित अधिभूतवाद – यानी दर्शन की वास्तविक समस्याओं – का उनका परित्याग सामान्य सहजबुद्धि की स्थिति से मिलता-जुलता है, जो दार्शनिक प्रश्नों से मुंह फेर लेती है और उनपर विचार-विमर्श को गंभीर लोगों के लिए सारहीन बुद्धिविलासिता मानती है।

सामान्य चेतना रमणीय, शांत और संभवतः निश्चिंत प्रतीत होती है, बशर्ते कि उसपर ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से देखा जाये यानी इंद्रियानुभविक आत्म-चेतना, बाह्य वातावरण की समझ के रूप में, बुद्धिसंगत ढंग से तर्क करते हुए कि अहम् अहम् है, अतः अहम् बादल, चट्टान, गधा, आदि नहीं है। लेकिन अगर दूसरे दृष्टिकोण से, वस्तुतः दैनंदिन अनुभवों – यानी सभी खुशियों, दुखों, आशाओं और निराशाओं,

---

*वितगेंश्तेइन यहां स्पष्टतः नीत्शे के इस दृष्टिकोण को दुहराते हैं: "कुछ परिस्थितियों में, जैसा कि सूक्ति इशारा करती है, केवल तभी दार्शनिक **बना रहा** जा सकता है, यदि चुप्पी साधे रखी जाये" (89.2.14)। यह प्रत्यक्षवादी विज्ञानवाद द्वारा अतर्कबुद्धिवादी स्थापनाओं पर अपना सिद्धांत गढ़ने का एकमात्र मामला नहीं है।

जिनसे सामान्य जीवन बनता है – के समुच्चय के रूप में देखा जाये, तो सामान्य चेतना निरंतर अशांत रहती है। उसकी तुलना में वैज्ञानिक और दार्शनिक चेतना प्राचीन यूनानी चिंतकों की पूर्ण विरक्ति जैसी किसी चीज़ की भांति है। सामान्य चेतना के इस पहलू को, जो विगत में अनुभावों से संबंधित उन दार्शनिक सिद्धांतों का विषय था, जिन्हें भौतिकवादियों तथा प्रत्ययवादियों दोनों ही ने प्रतिपादित किया, अब अस्तित्ववाद ने अपने में लगभग पूरी तरह मिला लिया है। अस्तित्ववाद अपने ही ढंग से तथाकथित वास्तविक विज्ञानों और दर्शन के बीच अन्तर्विरोध को पुनरुज्जीवित करता है और उन विज्ञानों को व्यावहारिक, उपयोगी, सिर्फ़ लाभदायक चीज़ों के बारे में जाननेवाले विज्ञानों के रूप में और इसीलिए अस्तित्वमान सत्ता की गहरी जांच करने में असमर्थ मानता है, जो सामान्य चेतना से ऊपर नहीं उठते।

अस्तित्ववाद चिंता, भय, दुनिया-में-अस्तित्व, स्वतंत्रता, आदि के रूप में परिभाषित मनुष्य के अस्तित्व के व्याख्यात्मक विवरण के साथ वस्तुगत यथार्थता के प्राकृतिक वैज्ञानिक वर्णनों का विरोध करता है। वस्तुतः ये मनोभाव ही हैं, जो व्यक्तियों के सहज अस्तित्व को भरते हैं। अस्तित्ववाद इन मनोभावों की व्याख्या हुस्सेर्ल की फ़िनोमेनोलॉजी के रूप में करता है, उन्हें इंद्रियानुभविक मूल से पृथक् करता है और अस्तित्वपरक यानी मनुष्य के स्वार्थ में प्रागनुभविक रूप से निहित घोषित करता है। इस संबंध में, हाइडेगर और सार्त्र किएर्केगार का अनुसरण करते हुए बाह्य इंद्रियानुभविक कारणों द्वारा उत्पन्न तथा "अस्तित्व" के लिए मानो महत्वहीन भय (Furcht – जर्मन; la peur – फ़्रांसीसी) और स्वयं "अस्तित्व" द्वारा उत्पन्न और अतः अलंघनीय संताप (Angst – जर्मन; l'angoisse – फ़्रांसीसी) के बीच विभाजक-रेखा खींचते हैं। अस्तित्ववादी अस्तित्वपरक चेतना को इसके दैनंदिन पहलू से, कूपमंडूकीय अनुरूपतावाद से परिष्कृत मानता है, क्योंकि यह निश्चित, वास्तविक ख़तरे का नहीं, बल्कि ख़तरनाक, भंगुर, अस्थिर के रूप में अनुभूत स्वयं अस्तित्व का भय अनुभव करती है, दूसरे शब्दों में, क्योंकि अस्तित्व स्वयं से भयभीत है।

अस्तित्ववादी मृत्यु के "थोथे" (साधारण) भय – पूर्णतः वास्तविक

इंद्रियानुभविक कारणों पर आधारित भय – को फटकारते हैं तथा इसके मुक़ाबले में अंतिम संभावना, अस्तित्वहीन होने की संभावना के अस्तित्व-परक भय को रखते हैं, जो उनके विचार में, जीने और मरनेवाले दूसरे लोगों के बीच व्यक्तियों के सहज अस्तित्व से कोई संबंध नहीं रखती। वे लोग, जो अस्थायी रूप से जीवित रहते हैं, पहले दूसरों की नश्वरता और फिर अपनी नश्वरता के बारे में पूर्णतः इंद्रियानुभविक विचार प्राप्त करते हैं।

संपूर्ण अस्तित्ववाद सहज अस्तित्व के ख़िलाफ़ आक्रोशपूर्वक तर्क करता है, जिसे सामान्य, स्वतःस्फूर्त ढंग से भौतिकवादी चेतना के विरुद्ध व्यक्तित्वहीन, भ्रामक और सारहीन के रूप में पेश किया जाता है। सामान्य चेतना, उनके विचार में, यथार्थता नहीं, बल्कि छद्म यथार्थता को प्रतिबिंबित करती है। अस्तित्ववादी सामान्य चेतना का वर्णन अन्यसंक्रामित के रूप में करता है (हालांकि यह सिर्फ़ इसके कुछ पहलुओं के बारे में ही सही हो सकता है), वह दावा करता है कि केवल अस्तित्व की अस्तित्ववादी चेतना ही सभी सांसारिक चीज़ों का परित्याग करते हुए अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाती है। लेकिन अस्तित्ववादी आत्म-चेतना का "सत्तामीमांसीय एकाकीपन" बुर्जुआ समाज में व्यक्तित्व के वास्तविक अन्यसंक्रामण को प्रतिबिंबित करता है; मूलतः अस्तित्वपरक चेतना परिमार्जित सामान्य चेतना है।

अस्तित्ववाद सामान्य चेतना की आलोचना ऐसे करता है जैसे कि यह सत्ता के सारतत्व की समझ से लेशमात्र मेल नहीं खाती हो। हाइडेगर के अनुसार, दर्शन अपना ही उल्लंघन करता है, जब यह महजबुद्धि द्वारा की गयी आपत्तियों को ध्यान में रखता है, क्योंकि महजबुद्धि उस चीज़ को नहीं देखती, जिसके विरुद्ध यह आपत्ति करती है। हाइडेगर लिखते हैं, "दर्शन सामान्य सहजबुद्धि का खंडन नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसकी भाषा के प्रति बहरी है" (65,6)। लेकिन स्वयं अस्तित्ववाद सांसारिक से लड़ते हुए (और कुछ हद तक वास्तव में बुर्जुआ संबंधों के व्यक्तित्वहीनकारी प्रभाव का पर्दाफ़ाश करते हुए) दार्शनिक समस्याओं को सामान्य चेतना, मनोभावों और विचारों तक सीमित करता है। यह सच है कि हुस्सेर्ल की आत्मगतवादी-प्रत्ययवादी फ़िनोमेनोलॉजी उन्हें आसवित करती, ठोस बनाती है, फिर भी, अपनी

सभी आलोचनाओं के बावजूद, अस्तित्ववाद उन सब चीज़ों में कम ही दिलचस्पी लेता है, जो सामान्य चेतना और सामान्य (तथा न-कारात्मक ढंग से विवेचित) मनोभावों की सीमाओं से परे हैं, जिनकी यह इतनी कठोरतापूर्वक आलोचना करता है। यह सामान्य जीवन, विशेष रूप से लोगों के सामाजिक संसर्ग में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं देखता, क्योंकि अस्तित्व की इसकी मानवद्वेषी व्याख्या में कार्य, प्रेम और ज्ञान जैसी चीज़ों का कोई स्थान नहीं है।* अस्तित्ववादी दर्शन मनुष्य को दैनंदिन जीवन से ऊपर उठानेवाली "अतिवादी" संकटापन्न परिस्थितियों का अपना सिद्धांत भी आसन्न मृत्यु, अमोचनीय पापों, आदि के बारे में सामान्य विचारों से निगमित करता है। यह विरोधाभासपूर्ण है कि हर सामान्य चीज़ का अडिग ढंग से विरोध करने का दावा करनेवाला दर्शन अपनी अत्यंत व्यक्तिवादी सीमाओं की वजह से दैनंदिन बुर्जुआ चर्चा की दलदल से अपने को निकालने में असमर्थ है।

अस्तित्ववाद के विपरीत, मार्क्सवादी दर्शन सहज अस्तित्व और संबद्ध सामान्य धारणाओं और मनोभावों का ऐतिहासिक रूप से निश्चित सामाजिक परिघटनाओं के रूप में आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषण करता है, जो इतिहास के दौरान अपरिवर्तित नहीं बनी रहतीं, बल्कि समाज के कम्युनिस्ट रूपांतरण की प्रक्रिया में परिवर्तित होती हैं। मध्यकालीन वितंडावादियों ने दावा किया कि सहजबुद्धि कुछ मूलभूत सिद्धांतों की सत्यता के प्रति समय और स्थान से स्वतंत्र और सभी

---

* यहां हम अस्तित्ववाद के "आशावादी" रूप (अब्बान्यानो, बोल्नोव, आदि) का उल्लेख नहीं करते, जो "क्लासिकीय" अस्तित्ववाद के लिए अभिलाक्षणिक सकारात्मक मनोभावों (पारिवारिक जीवन, उत्सवों, प्रथाओं, आदि के सुख) की निराशावादी व्याख्या पर क़ाबू पाने का असफलतापूर्वक प्रयास करता है, क्योंकि जीवन की वास्तविक सकारात्मक, महत्वपूर्ण और सच्ची अंतर्वस्तु आम तौर पर अस्तित्ववादी दृष्टिकोण के साथ मेल नहीं खाती। सोवियत दार्शनिक अ० म० बोगोमोलोव ने अस्तित्ववाद की इस नयी क़िस्म का ठोस वैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

लोगों में एक-सी चेतना है; लेकिन आज यह सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं रह गयी है कि सहजबुद्धि तथा समग्र रूप में सामान्य चेतना सामाजिक वातावरण को प्रतिबिंबित करती है और इसके साथ परिवर्तित होती जाती है।

वास्तव में, सांसारिक सहजबुद्धि और विज्ञान तथा दर्शन (भौतिकवादी दर्शन सहित) की दृष्टि से, उदाहरणार्थ, १८वीं सदी और १९वीं सदी के प्रारंभ में यह विचार कि पदार्थ के एक घन सेंटीमीटर में ऊर्जा की विशाल मात्रा निहित होती है न केवल हास्यास्पद बल्कि अत्यंत रहस्यमय भी था तथा अवास्तविक और वास्तव में अस्तित्वमान या संभव के बीच कोई भेद नहीं करता था।

वर्तमान समय में, विज्ञान और दर्शन "असंभव" की धारणा की व्याख्या बहुत सतर्कतापूर्वक करते हैं। जहां तक सामान्य चेतना का संबंध है, यह मानव-बुद्धि के चमत्कारों की आदी हो चुकी है और वैज्ञानिक तथा टेक्नोलाजिकल सिद्धियों से चकित नहीं होती। हालांकि अभी भी इसने अपना चमत्कार-बोध नहीं खोया है, फिर भी यह दृढ़तापूर्वक विश्वास करती है कि कम से कम विज्ञान और टेक्नोलाजी के क्षेत्र में चमत्कार नहीं होते।

सामान्य धार्मिक चेतना भी, वहां जहां यह क़ायम है, बदल गयी है। मुश्किल से ही कोई विश्वास करता है कि ईश्वर ने छः दिनों में दुनिया की सृष्टि की, क्योंकि यदि अधिक नहीं तो इसी को सभी लोग जानते हैं कि पृथ्वी के अस्तित्व में आने और अपनी धुरी पर घूमने के फलस्वरूप ही रात और दिन बने। न० बेर्द्यायेव की वास्तविक निराशा समझ में आती है, जिन्होंने कहा कि ईसाइयों सहित अधिकांश लोग भौतिकवादी हो गये हैं, क्योंकि वे आत्मा की शक्ति में नहीं, बल्कि केवल भौतिक शक्ति – सैनिक और आर्थिक शक्ति – में विश्वास करते हैं। प्रोटेस्टैंट चर्च ने इस स्थिति को ध्यान में रख लिया है और यह अपने अनुयायियों से सभी जड़सूत्रों को स्वीकार करने की मांग नहीं करता: केवल ईश्वर और उनके पुत्र ईसा मसीह में विश्वास करना ही काफ़ी है।

अपनी कृति 'इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की स्थिति' में एंगेल्स ने औद्योगिक क्रांति की पूर्ववेला में ब्रिटिश मज़दूरों के जीवन और आत्मिक

विकास का वर्णन निम्नलिखित ढंग से किया: "वे बिरले ही पढ़ते थे और इससे भी बिरले लिखते थे, नियमित रूप से चर्च जाते थे, राजनीति पर बात नहीं करते थे, षड्यंत्र नहीं करते थे, चिंतन नहीं करते थे, व्यायामों में आनंद लेते थे, बाइबिल-पाठ को वंशागत श्रद्धा से सुनते थे तथा अपनी अविवादास्पद विनम्रता में 'श्रेष्ठ वर्गों' के साथ बड़े ही अनुकूल ढंग से व्यवहार करते थे... वे अपने शांत, नीरस जीवन में अपने को सुखी महसूस करते थे और यदि औद्योगिक क्रांति न हुई होती, तो वे इस तरह के जीवन से कभी नहीं निकल पाते, जो रोमांटिक और सुखद होते हुए भी मनुष्योचित नहीं था" (1,*4*,309)। यहां मज़दूर वर्ग और संपूर्ण मेहनतकशों में उन विशाल परिवर्तनों का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है, जो अनुवर्ती ऐतिहासिक विकास द्वारा लाये गये, जिसके परिणामस्वरूप पहले सोवियत संघ में और फिर बहुत-से दूसरे देशों में नयी सामाजिक प्रणाली की स्थापना हुई। समाजवाद की विजय ने सामान्य चेतना को मौलिक ढंग से बदल दिया। पूंजीवादी देशों में भी जन-चेतना में बड़ा परिवर्तन आया है। प्रसिद्ध कैथोलिक दार्शनिक जैक मैरिटेन ने लिखा, "अब कोई भी पूंजीवाद के लिए मरना नहीं चाहता – न एशिया में, न अफ़्रीका में और न ही यूरोप में" (84,124)। मार्क्सवाद के एक विरोधी द्वारा यह स्वीकृति दिखाती है कि शोषित वर्गों में यह चेतना अधिकाधिक बढ़ती जा रही है कि केवल पूंजीवाद का उन्मूलन ही उनकी सामाजिक मुक्ति ला सकता है।

हम यहां सामान्य चेतना पर सामाजिक-आर्थिक, वैज्ञानिक और टेक्नोलाजिकल प्रभाव का विश्लेषण करने का इरादा नहीं रखते। हम सिर्फ़ इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के मुख्य पहलुओं का ही उल्लेख करेंगे: सामान्य चेतना में अविवेकपूर्ण और अन्य निराधार विश्वासों का उन्मूलन हो रहा है, तथा सामान्य चेतना और वैज्ञानिक चेतना एक दूसरे के निकट आ रही हैं, पर उनके बीच मूल अंतर समाप्त नहीं हुआ है। सामान्य चेतना अधिकाधिक तर्कसंगत, नैतिक, विवेकी, अपने से अधिकाधिक सौंदर्यबोध का तक़ाज़ा करनेवाली, आत्म-निर्भर, आलोचनात्मक बन जाती है। यह अब अपने को केवल विद्यमान परिस्थितियों के अनुकूल ही नहीं बनाती, बल्कि मनुष्य के रचनात्मक कार्यकलापों

में अधिकाधिक सक्रिय भूमिका अदा करती है। यह सब दर्शन तथा सामान्य चेतना और दैनंदिन अनुभव के बीच संबंधों में मौलिक परिवर्तन लाता है। दैनंदिन अनुभव सामाजिक व्यवहार का अभिन्न अंग है, जो ज्ञान के सभी रूपों का आधार है।

२

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद

इमैनुएल कांट और
१७वीं सदी का दार्शनिक तर्कबुद्धिवाद

क्लासिकीय जर्मन दर्शन के जनक इमैनुएल कांट १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवाद के उत्तराधिकारी और आलोचक दोनों ही थे। दार्शनिक इंद्रियानुभववाद की भांति ही दार्शनिक तर्कबुद्धिवाद उभरती पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के युग की बुर्जुआ आत्म-चेतना है। इसका विशिष्ट सामंतवाद-विरोधी स्वरूप इस बुद्धिसंगत विश्वास में प्रकट होता है कि "बुद्धि का प्राकृतिक प्रकाश" (lumen naturale) प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है, चाहे उसकी बौद्धिक प्रतिभा और शिक्षा कुछ भी हों। देकार्त के अनुसार, "तर्क करने और सत्य तथा मिथ्या में भेद करने की क्षमता – जिसे आम तौर से सहजबुद्धि या विवेक कहा जाता है – प्राकृतिक रूप से सभी लोगों में एक-सी होती है" (45,27)। यह स्थापना मात्र सैद्धांतिक विश्वास नहीं, बल्कि सामंतवाद-विरोधी, बुर्जुआ क्रांतिकारी आंदोलन की विचारधारात्मक घोषणा है।

तर्कबुद्धिवादी पांडित्यवाद के अनम्य विरोधी थे, हालांकि पांडित्यवाद ने मध्यकालीन रहस्यवाद के विपरीत बुद्धि और तर्क के प्रति अपील की। उन्होंने पांडित्यवादी जड़सूत्र के तर्कदोष को सिद्ध किया, जिसने दावा किया कि ज्ञान के सोपानक्रम में धर्मशास्त्र उच्चतम स्थान पर, विज्ञान निचले स्थान पर और दर्शन मध्य स्थान पर हैं। तर्कबुद्धिवाद ने घोषणा की कि विज्ञान सैद्धांतिक ज्ञान का उच्चतम रूप है और बुद्धि उच्चतम वैज्ञानिक प्रमाण। "संसार की महान पुस्तक" यानी प्रकृति पर दृष्टिपात करते हुए देकार्त ने एक ऐसे दर्शन के निर्माण को सर्वोपरि महत्व का माना, जो प्रकृति की मूल शक्तियों का उपयोग करने में सहयोग करेगा।

तर्कबुद्धिवादी उस विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति की सीमाओं से परे पांडित्यवादी तत्वनिरूपण के ख़िलाफ़ संघर्ष करते थे, जिसने

इसे प्रत्यक्षतः उत्पन्न, विकसित और प्रेरित किया। यह उस सब के ख़िलाफ़ संघर्ष था, जो अनालोचनात्मक ढंग से तथ्य रूप में मान लिया गया था यानी जड़सूत्रवादी चिंतन के ख़िलाफ़, जिसने अपने दावों, धारणाओं और पूर्वाधारों का विश्लेषण, जांच और पुष्टि करने की आवश्यकता की उपेक्षा की।*

तर्कबुद्धिवादियों की भांति कांट ने जड़सूत्रवाद की आलोचना को दर्शन का महत्वपूर्ण कार्यभार माना। उनके शब्दों में, "हमारा युग सचमुच आलोचना का युग है, जिसके सामने हर चीज़ नतमस्तक होनी चाहिए। धर्म अपनी पवित्रता की वजह से और क़ानून अपनी महानता की वजह से इस आलोचना के क्षेत्र से बाहर रहना चाहते हैं। लेकिन इस सूरत में वे ठीक ही संदेह पैदा करते हैं और वह सच्चा आदर खो देते हैं, जिसे बुद्धि केवल उसी चीज़ के प्रति प्रकट करती है, जो इसकी स्वतंत्र और खुली कसौटी पर खरी उतर सके" (73,*3*,7)। सुसंगत और व्यापक आलोचनात्मक विश्लेषण की अपनी मांग करने में कांट १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों से बहुत आगे गये, क्योंकि उन्होंने स्वयं बुद्धि के आलोचनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया।

तर्कबुद्धिवादियों ने सामाजिक संस्थाओं को बुद्धिसंगत मानव स्वभाव, सार्विक बुद्धि की मांगों के अनुसार परिवर्तित करने के कार्यभार के रूप में बुर्जुआ रूपांतरणों की आवश्यकता का दावा किया। बुद्धि के आदर्शों के कार्यान्वयन के साथ बुर्जुआ रूपांतरणों का यह एकीकरण बुद्धि की तर्कबुद्धिवादी धारणा का अनालोचनात्मक पहलू था, जिसे समझने, मूल्यांकन करने, निर्णय करने और मानकों को निर्धारित करने की निरपेक्ष और स्वायत्त क्षमता के रूप में, इंद्रिय-अनुभूति तथा

---

*इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि केवल तर्कबुद्धिवाद ही नहीं, बल्कि दार्शनिक इंद्रियानुभववाद सहित १७वीं सदी के प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग की सभी विचारधाराएं बुद्धिपंथ से ओतप्रोत थीं। लॉक ने लिखा, "बुद्धि हर चीज़ में हमारा अंतिम निर्णायक और मार्गदर्शक होनी चाहिए" (78,295)। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि विवेक की तर्कबुद्धिवादी और इंद्रियानुभववादी धारणाएं एक-सी थीं।

सामाजिक परिस्थितियों दोनों ही से स्वतंत्र क्षमता के रूप में चित्रित किया गया। तर्कबुद्धिवादियों के विचार में, बुद्धि कभी ग़लती नहीं करती। देकार्त के अनुसार, ग़लती की जड़ इच्छा में है, जो इच्छा-जनित विश्वास को सत्य मान लेती है। स्पिनोज़ा और लीबनिज़ ने ग़लती का कारण इंद्रिय-अनुभूतियों में खोजा, जो उनकी राय में, स्वभावतः भ्रामक स्वरूप की होती हैं और ग़लत निष्कर्षों पर ले जाती हैं यदि वे विश्लेषण के आधार के रूप में ली जाती हैं।

तर्कबुद्धिवादियों ने **शुद्ध बुद्धि** यानी इंद्रिय-अनुभूतियों से स्वतंत्र और, उनके विचार में, इंद्रियगत तथ्यों की अनिवार्य मीमाओं पर क़ाबू पाने में समर्थ चिंतन की धारणा विकसित की। इंद्रियगत तथ्यों के महत्व को स्पष्टतः कम करके आंका गया। कांट ने शुद्ध बुद्धि की धारणा को स्वीकार करते हुए इसकी तर्कबुद्धिवादी व्याख्या को अस्वीकार किया। उनके विचार में, बुद्धि द्वारा अनुभव से परे ज्ञान का दावा मनुष्य की मूल सैद्धांतिक ग़लतियों में से एक है। कांट ने ग़लतियों के कारणों के तर्कबुद्धिवादी सिद्धांत का फिर से विश्लेषण किया और सिद्ध किया कि इंद्रिय-अनुभूतियां, अनुभाव हमें धोखा नहीं दे सकते, क्योंकि वे निर्णय नहीं हैं। विवेक और बुद्धि ही ग़लती के दोषी हैं और इस वजह से नहीं कि वे अनुभव से आगे बढ़ते हैं, बल्कि इस वजह से कि वे अनुभव से स्वतंत्र निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते हैं और इस तरह अपने को एकमात्र आधार से वंचित कर लेते हैं।

बुद्धि का तर्कबुद्धिवादी पंथ (और इसके सहवर्ती के रूप में **शुद्ध** चिंतन की धारणा) ज्ञान के गणितीय रूप की एकांगी (और अक्सर प्रत्ययवादी निष्कर्षों पर ले जानेवाली) व्याख्या थी, जिसे तर्कबुद्धिवादियों ने स्वयंसिद्धियों से निश्चित स्थापनाओं के शुद्धतः तार्किक निगमन पर आधारित प्रागनुभविक माना। तर्कबुद्धिवादियों को यह पक्का विश्वास था कि दर्शन को निष्कर्षों की गणितीय प्रणाली के रूप में निर्मित किया जा सकता है, कि यह दार्शनिक तर्क-वितर्कों को समाप्त कर देगा और अध्ययन के सभी क्षेत्रों में निरपेक्ष को समझना संभव बना देगा। केवल मूलभूत दार्शनिक स्वयंसिद्धियों और तदनुसार उनकी परिभाषाओं को निर्धारित करना ही आवश्यक है। स्पिनोज़ा ने अपने 'नीतिशास्त्र' में यही प्रयास किया।

तर्कबुद्धिवादियों के विपरीत कांट ने सिद्ध किया कि दर्शन में न तो गणितीय स्वयंसिद्धियां, न ही परिभाषाएं संभव हैं। उनके विचार में, दर्शन में "एक भी ऐसी मूलप्रस्थापना नहीं मिल सकती, जो स्वयंसिद्धि कहलाने के उपयुक्त हो" (73,*3*,496-97)। गणित के विपरीत, दार्शनिक परिभाषाएं अकाट्य रूप से प्रामाणिक नहीं होतीं, बल्कि वे तो उपलब्ध धारणाओं का **प्रतिपादन** हैं, जबकि गणितीय परिभाषाएं धारणाओं के निरूपण द्वारा मूर्त रूप पाती हैं। अतः "दर्शन में सुस्पष्ट निश्चितता के रूप में परिभाषा को काम शुरू करने के बजाय इसे पूरा करना चाहिए। इसके विपरीत, गणित में हम परिभाषा के पहले कोई धारणा नहीं रखते, क्योंकि केवल परिभाषा ही धारणा प्रदान करती है; अतः गणित को हमेशा परिभाषाओं के साथ शुरू करना चाहिए और वह शुरू कर सकता है" (73,*3*,495-96)

स्वयंसिद्धियों को स्वतःप्रमाणित सत्यों के रूप में देखते हुए तर्कबुद्धिवादियों ने निष्कर्ष निकाला कि बौद्धिक (अर्थात इंद्रियगत तथ्यों से स्वतंत्र) अंतःप्रज्ञ सत्य संपूर्ण दार्शनिक विज्ञान के दृढ़ आधार के तौर पर काम करते हुए दर्शन का प्रस्थान-बिंदु हो सकते हैं और होने चाहिए। बौद्धिक अंतःप्रज्ञा का सिद्धांत तर्कबुद्धिवाद की एक मुख्य प्रस्थापना है।* उसपर वह तर्कबुद्धिवादी विश्वास आधारित है कि अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण किया जा सकता है। तर्कबुद्धिवादियों के विचार में, गणित ने इस समस्या को पहले ही हल कर लिया है; अब दर्शन की बारी है।

कांट ने बौद्धिक अंतःप्रज्ञा के तर्कबुद्धिवादी सिद्धांत से इन्कार किया और उसके मुक़ाबले में "स्वयंस्पष्ट" गणितीय प्रस्थापनाओं की नयी

---

* फिर भी, हमें ध्यान में रखना चाहिए कि लॉक तथा कुछ दूसरे इंद्रियानुभववादी दार्शनिकों ने बौद्धिक अंतःप्रज्ञा को संज्ञान का निर्णायक चरण माना। लेकिन तर्कबुद्धिवादियों के विपरीत इंद्रियानुभववादी दार्शनिकों ने बौद्धिक अंतःप्रज्ञा की धारणा को संज्ञान के संवेदनवादी सिद्धांत से जोड़ा और दावा किया कि सारा मानव-ज्ञान, यहां तक कि अधिक से अधिक अमूर्त (गणितीय सहित) ज्ञान भी, प्रायोगिक इंद्रियगत मूल का होता है।

धारणा पेश की, जिन्हें उन्होंने ध्यान की विशिष्ट इंद्रियगत (लेकिन इसके साथ ही प्रागनुभविक भी) क़िस्म के रूप में परिभाषित किया। जहां तक विवेक और बुद्धि का संबंध है, वे प्रत्यक्ष रूप से बोध और ध्यान की क्षमता नहीं रखते और अपने निष्कर्षों पर मीमांसा और विवेचन के माध्यम से पहुंचते हैं। अतः कांट ने बौद्धिक अंतःप्रज्ञा के सिद्धांत के तर्कदोष को इंद्रियानुभविक तथ्यों से चिंतन के अलगाव में, शुद्ध चिंतन द्वारा किसी भी संभव अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करने के प्रयासों में देखा। ऐसे प्रयास अक्सर धर्मशास्त्रीय निष्कर्षों पर ले गये, जिनके सैद्धांतिक दोष को कांट ने विशेष रूप से प्रकट किया।

१७वीं सदी में गणित और यांत्रिकी सबसे अधिक विकसित विज्ञान थे। यांत्रिकी ने पिंडों की गति और उससे संबद्ध प्रक्रियाओं की जांच की और यह मुख्यतः गणित के आधार पर आगे बढ़ी। रसायन-विज्ञान, जीवविज्ञान और अन्य प्राकृतिक विज्ञान वास्तव में अभी केवल जन्म ही ले रहे थे और अधिकांशतः इंद्रियानुभविक स्वरूप के थे यानी वे सामान्यतः प्रेक्षित परिघटनाओं का वर्णन करते थे। यदि तर्कबुद्धि-वादियों ने गणित का सहारा लिया, तो दार्शनिक इंद्रियानुभववादियों ने प्राकृतिक विज्ञानों का सहारा लिया। इस तरह, तर्कबुद्धिवाद और इंद्रियानुभववाद की प्रतिस्थापना ने उस युग के सैद्धांतिक ज्ञान और इंद्रियानुभविक प्राकृतिक विज्ञानों के बीच वास्तविक विरोध को प्रति-बिंबित किया।

कांट का ऐतिहासिक योगदान यह था कि उन्होंने अपने युग के तर्कबुद्धिवाद तथा इंद्रियानुभववाद की सीमितता की आलोचना की और कुछ हद तक उस पर क़ाबू भी पाया। तर्कबुद्धिवादियों के विपरीत, उन्होंने सिद्ध किया कि किसी भी ज्ञान का निश्चित इंद्रियगत प्रेक्षणों का अपना पूर्वाधार होता है। कांट ने दार्शनिक इंद्रियानुभववाद का मुख्य दोष सैद्धांतिक रूप से प्रमाणित निर्णयों की संभावना की उसकी अस्वीकृति में देखा, जो सार्विक तथा आवश्यक होते हैं। लॉक के अनुसार, "सामान्य तथा सार्विक वस्तुओं के वास्तविक अस्तित्व से संबंध नहीं रखते, बल्कि बुद्धि द्वारा अपने उपयोग के लिए आविष्कृत और निर्मित किये जाते हैं" (78,20)। फिर भी, कांट ने इंगित किया, अकाट्य निर्णय गणित तथा यांत्रिकी की अत्यधिक महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु

बनाते हैं। अतः कार्यभार इस तथ्य को समझकर (जिसके बिना, कांट के अनुसार, कोई भी विज्ञान संभव नहीं है) असीमित रूप से सार्विक और आवश्यक सत्यों की संभावना को स्पष्ट करना है। फिर भी, न तो कांट, न ही लॉक ने सार्विक और आवश्यक को ज्ञान से स्वतंत्र यथार्थता के क्षेत्र में रखा।

१७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादी विचार संक्रमणात्मक ऐतिहासिक युग की दार्शनिक अभिव्यक्ति होने के कारण द्वयर्थक तथा समझौताकारी थे। बुर्जुआ वर्ग समझौते की सहायता से सामंती समाज की परिस्थितियों में आर्थिक रूप से प्रमुख वर्ग बन गया। और जब कि इस युग के बुर्जुआ दर्शन ने पांडित्यवाद और कुछ हद तक धर्मशास्त्र का भी विरोध किया, इसने सामंतवाद की प्रमुख विचारधारा – धर्म – के साथ समझौते को श्रेयस्कर समझा। १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों द्वारा निर्मित दार्शनिक प्रणालियों की यही विचारधारात्मक प्रवृत्तियां थीं। देकार्त के दर्शन में इस समझौते ने भौतिकी और अधिभौतिकी के बीच द्वैतवादी विरोध का रूप ग्रहण किया। यदि देकार्त की भौतिकी (प्रकृति का दर्शन) ने इंद्रियों द्वारा अनुभूत की जा सकनेवाली विद्यमान यथार्थता का अध्ययन किया, तो अधिभौतिकी ने अतींद्रिय के संज्ञान का दावा किया। लेकिन चूंकि अनुभव ने ऐसी अधियथार्थता की स्वीकृति के लिए कोई अवसर नहीं दिया, इसलिए देकार्त ने अन्तर्जात विचारों और अन्तर्जात ज्ञान से संपन्न मानव-बुद्धि की विद्यमानता को मान्यता दी, जिनका उपयोग, उनकी राय में, अधिभौतिक यथार्थता की सभी विशेषताओं का तार्किक ढंग से निगमन करना संभव बनाता है।

अधिभूतवाद की संपूर्ण अंतर्वस्तु को धर्मशास्त्रीय (या धर्मशास्त्र से संबद्ध) प्रश्नों की तर्कबुद्धिवादी व्याख्या तक सीमित करना समस्या का अतिसरलीकरण करना होगा। गणित और प्राकृतिक विज्ञानों की समस्याओं की दार्शनिक व्याख्या करने में देकार्त व लीबनिज़ की अधि-भूतवादी प्रणालियों ने काफ़ी योग दिया। स्पिनोज़ा का अधिभूतवाद विचारों की भौतिकवादी प्रणाली था, भले ही यह सर्वेश्वरवादी भावना में, ईश्वर को प्रकृति से अनन्य मानते हुए पेश किया गया हो। अतः मार्क्स और एंगेल्स द्वारा १७वीं सदी के अधिभूतवाद की सकारात्मक, सांसारिक अंतर्वस्तु का मूल्यांकन समझ में आनेवाली बात है। स्थिति

केवल १८वीं सदी में जाकर ही बदली। "अधिभूतवाद की संपूर्ण संपदा अब केवल चिंतन की सत्ताओं और दिव्य वस्तुओं तक ही सीमित थी और यह एक ऐसे समय में, जब कि वास्तविक सत्ताएं और सांसारिक चीज़ें संपूर्ण दिलचस्पी का केंद्र बनने लगीं" (1,*4*,126)।

इस तरह कांट ने तर्कबुद्धिवादी अधिभूतवाद की अपनी आलोचना ऐसे समय में पेश की, जब उसका पतन हो रहा था। संशयवादियों तथा १८वीं सदी के फ़्रांसीसी भौतिकवादियों के विपरीत, जिन्होंने अधिभूतवादी प्रणालियों को बिल्कुल ठुकरा दिया, कांट ने सर्वोपरि उनके ज्ञानमीमांसीय, सैद्धांतिक, मनोवैज्ञानिक स्रोतों का पता लगाने की कोशिश की। यही कारण है कि उन्होंने उतना अधिभूतवादी प्रणालियों का अध्ययन नहीं किया, जितना कि संज्ञान की प्रक्रिया तथा इसके अंतर्विरोधों का, जिन्होंने अधिभूतवादी प्रणालियों के निर्माण में अपनी अभिव्यक्ति पायी।

कांट ने कभी संदेह नहीं किया कि अधिभूतवादी प्रणालियों ने बड़े दार्शनिक, सामान्य वैज्ञानिक और नैतिक महत्व की समस्याएं उठायीं। यदि वैज्ञानिक अनुभव हमेशा अधूरा रहता है, यदि अनुभव पर आधारित आगमनात्मक निष्कर्ष हमेशा अधूरा रहता है, तो अपनी सार्विकता (और आवश्यकता) में असीमित प्रस्थापनाओं को सूत्रित करनेवाले एक वैज्ञानिक सिद्धांत पर पहुंचना कैसे संभव है? यदि संपूर्ण सैद्धांतिक ज्ञान इंद्रियगत तथ्यों से उत्पन्न होता है, तो इस बात को कैसे स्पष्ट किया जाये कि विज्ञान में ऐसे सत्य हैं, जिन्हें इंद्रिय अनुभूतियों की अंतर्वस्तु में परिणत नहीं किया जा सकता? कांट धर्मशास्त्र के उन आलोचकों से सहमत हैं, जो यह दावा करते हैं कि ईश्वर, मृत्योपरांत अनश्वर आत्मा या मृत्यु के बाद जीवन की धारणाएं सैद्धांतिक और इंद्रियानुभविक रूप से निराधार हैं और केवल अलौकिक में विश्वास पर आधारित हैं। तो भी, कांट अनीश्वरवादी निष्कर्षों से इन्कार करते हैं। उनके विचार में, ईश्वरवाद की वैज्ञानिक निराधारिता अनीश्वरवाद के वैज्ञानिक प्रमाण को अभी भी सिद्ध नहीं करती। यदि धर्म सैद्धांतिक बुद्धि (विज्ञान) पर भरोसा नहीं कर सकता, तो क्या इसे व्यावहारिक ज्ञान, नैतिक चेतना पर आधारित किया जा सकता है?

कांट की मान्यता के अनुसार, ईश्वर में विश्वास मानव-अस्तित्व

की ऐसी महत्वपूर्ण और स्थायी विशेषता है कि दर्शन को आत्मिक और बौद्धिक जीवन के इस रूप का किसी अनिवार्य न कि सांयोगिक चीज़ के रूप में अध्ययन करना चाहिए। संकल्प स्वातंत्र्य की समस्या के बारे में भी यही बात और संभवतः और बड़ी सीमा तक सही है, जो कई सदियों तक दर्शन के मार्ग में रोड़ा बनी रही। अगर मनुष्य के पास संकल्प की स्वतंत्रता नहीं है, तो क्या उसके पास संकल्प जैसी कोई चीज़ है भी? अगर वह अपने कार्यकलापों पर नियंत्रण नहीं कर सकता, तो वह जानवर से कैसे भिन्न है? अगर उसके पास चयन की स्वतंत्रता नहीं है और अपने कार्यकलापों पर नियंत्रण नहीं कर सकता, तो वह उनके लिए ज़िम्मेदार भी नहीं है। लेकिन इस सूरत में न ज़िम्मेदारी, न नैतिक मानक, न ही नैतिक व्यवहार है, क्योंकि मनुष्य का सचेत जीवन अपने कार्यकलापों पर नियंत्रण करने की व्यक्ति की क्षमता की पूर्वकल्पना करता है, चाहे यह सीमित रूप में ही क्यों न हो। लेकिन नैतिकता और आम तौर से मानव-जीवन का अस्तित्व दिखाते हैं कि मनुष्य कम से कम "व्यावहारिक" (सापेक्ष) स्वतंत्रता से संपन्न है। इस तथ्य का क्या स्वरूप है और यह किन शर्तों पर संभव है?

सत्ता की समस्या – सभी अधिभूतवादी प्रणालियों की मुख्य समस्या – इसके साथ ही सभी अस्तित्वमान चीज़ों के सार की समस्या और समग्र रूप में संसार की एकता की समस्या भी है। दर्शन अपने को सिर्फ़ खनिजों, धातुओं, नदियों, पर्वतों, पेड़-पौधों, जानवरों, आदि के अस्तित्व के वर्णन तक ही सीमित नहीं कर सकता। इससे इन सभी बहुविध परिघटनाओं के आधार, उनकी कुछ साझी अंतर्वस्तु, उनके परस्पर संबंध और अन्योन्याश्रय को प्रकट करने की अपेक्षा की जाती है। क्या सभी अस्तित्वमान चीज़ों के आद्य तत्व हैं, क्या संसार एक समष्टि के रूप में अस्तित्व रखता है या यह केवल एक संकल्पित सत्व, वास्तविक आधार से रहित अमूर्त है? क्या संसार का आरंभ देश और काल सापेक्ष है या यह दोनों ही आयामों में अपरिमित है? क्या संसार सरल या जटिल तत्वों से बना है? क्या वस्तुओं का कार्य-कारण संबंध निरपेक्ष है या क्या इस संबंध से मुक्त चीज़ें हैं? ये तथा दूसरे ऐसे सवाल न केवल अधिभूतवादी प्रणालियों, बल्कि सामान्यतः दर्शन की

भी मुख्य अंतर्वस्तु हैं। १८वीं सदी के फ़्रांसीसी भौतिकवादियों ने विश्वास किया कि देकार्त, स्पिनोज़ा और लीबनिज की प्रणालियों को अस्वीकार करके उन्होंने सभी अधिभूतवादी प्रणालियों को समाप्त कर दिया। लेकिन क्या होलबाख़ की 'प्रकृति की प्रणाली' उन्हीं समस्याओं के भौतिकवादी समाधान का प्रयास नहीं थी? और क्या हेल्वेटियस तब अंशतः सही नहीं थे, जब उन्होंने कहा: "मैं अधिभूतवाद की इन दो क़िस्मों (भौतिकवाद और प्रत्ययवाद) की तुलना डेमोक्रिटस तथा प्लेटो के दो भिन्न दर्शनों से करता हूं। पहला धीरे-धीरे ज़मीन से आकाश की ओर उठता है, दूसरा धीरे-धीरे आकाश से ज़मीन पर उतरता है" (66,*1*,396)।

अतः १७वीं सदी की अधिभूतवादी प्रणालियां मात्र अनस्तित्वमान अधिभूतवादी यथार्थता का अध्ययन करनेवाली परिकल्पनात्मक व्याख्याएं नहीं थीं। कांट के अनुसार, अधिभूतवादी समस्याएं (यानी प्लेटो, अरस्तू, देकार्त, स्पिनोज़ा, आदि द्वारा पेश की गयी समस्याएं) दर्शन की महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु बनाती हैं, जिसमें अधिभूतवादी प्रवृत्ति के अलावा इसका युग-युगों पुराना विरोधी संशयवाद भी शामिल है, लेकिन जो ठोस दार्शनिक अंतर्वस्तु से रहित है। इसलिए 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' का एक मुख्य सवाल यह है: विज्ञान के रूप में अधिभूतवाद कैसे संभव है? कांट के शब्दों में, **वैज्ञानिक दर्शन** कैसे संभव है? जैसा कि विदित है, यह प्रश्न पहली बार १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों ने ही उठाया था।

कांट के विचार में, दार्शनिक ज्ञान की एक प्रणाली के रूप में अधिभूतवाद दर्शन का अर्थ और सामान्यतः मानव-बुद्धि की संस्कृति का शिखर है। विज्ञान विवेचन का क्षेत्र है, दर्शन बुद्धि का क्षेत्र है। मानव-बुद्धि स्वभावतः अधिभूतवादी है यानी विवेचन के विपरीत यह अनुभव से परे उन्मुख है। और मनुष्य एक बुद्धिसंगत सत्ता के रूप में अधिभूतवादी सत्ता है, जो जानवर से न केवल सोचने, तर्क-वितर्क करने की क्षमता में, बल्कि अधिभूतवादी ढंग से सोचने की क्षमता में भी भिन्न है। लेकिन अब तक सभी अधिभूतवादी सिद्धांत मिथ्या और अवैज्ञानिक रहे हैं। बेशक यह सांयोगिक नहीं था और यह अधिभूतवादी तत्वनिरूपण की मूल प्रस्थापनाओं और स्वयं उसकी विधि के

दोष को प्रमाणित करता है। अतः कांट अपना मुख्य उद्देश्य अधिभूतवाद का मौलिक सुधार करने और इसे एक विज्ञान में परिवर्तित करने में देखते हैं। पर वह नये, इंद्रियातीत अधिभूतवाद के निर्माण के कार्यभार को सभी पूर्ववर्ती अधिभूतवादी प्रणालियों की पूर्ण अस्वीकृति समझते हैं। इसलिए उनका यह वक्तव्य समझ में आनेवाली चीज़ है: "आलोचना ('शुद्ध बुद्धि की आलोचना' – **लेखक**) में मैं जिस चीज़ पर काम कर रहा हूं वह अधिभूतवाद नहीं, बल्कि एक बिल्कुल नया विज्ञान है, जिसे अब तक किसी ने भी निर्मित करने का प्रयास नहीं किया है; यह वस्तुतः प्रागनुभविक ढंग से तर्क-वितर्क करनेवाली बुद्धि की आलोचना है" (72,228)। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कांट ने 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' को इंद्रियातीत अधिभूतवाद की पुष्टि और इसकी प्रस्तावना के रूप में माना।

विज्ञान कांट के लिए सही ज्ञान का मानक है। इसी के अनुसार, कांट द्विपाशक का प्रतिपादन करते हैं: या तो अधिभूतवाद विज्ञान बन जाता है (बेशक sui generis विज्ञान) या इसे अपना अस्तित्व रखने का कोई अधिकार नहीं है। कांट का दर्शन सिद्ध करता है कि परंपरागत अधिभूतवाद विज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि इसकी प्रस्थापनाएं सैद्धांतिक रूप से अप्रमाण्य और प्रायोगिक रूप से असत्यापनीय हैं। एक मूलतः नयी अधिभूतवादी प्रणाली का निर्माण करने का कार्यभार पेश करते हुए कांट **वैज्ञानिक दर्शन** की आवश्यकता सिद्ध करते हैं। विधि से सम्बन्धित यह दृष्टिकोण दर्शन को वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्व-दृष्टिकोण में परिवर्तित करने की कठिनाइयों की गहन समझ द्वारा तर्कबुद्धिवादी स्थिति से मूलतः भिन्न है।

१७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों ने निरपेक्ष ज्ञान की प्रणाली बनाने की कोशिश की और इसके निर्माण की पूर्ववर्ती प्रयासों की असफलता को अलग-अलग दार्शनिकों की गलतियों में देखा। कांट इन भ्रमों से सहमत नहीं हैं, वह अधिभूतवाद और विज्ञान के बीच संघर्ष से पूर्णतः सचेत हैं और इससे निकलने का मार्ग खोजते हैं। फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आधारभूत अधिभूतवादी विचारों की व्याख्या वास्तव में अस्तित्वमान इंद्रियातीत सत्वों की धारणाओं के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के तथ्यों, शुद्ध बुद्धि के विचारों के रूप में की जानी

चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह कि ईश्वर की धारणाओं, व्यक्तिगत अनश्वरता और ऐसी ही चीज़ों को वैज्ञानिक ज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देना चाहिए; उनके लिए केवल विश्वास का क्षेत्र ही रह जाता है। इस संबंध में कांट बुद्धि यानी अपने प्रागनुभविक दावों के साथ शुद्ध बुद्धि को सीमित करने का प्रश्न पेश करते हैं : "हमने बुद्धि की हदबंदी कर दी है, ताकि यह इंद्रियानुभविक परिस्थितियों का सूत्र न खोये और इंद्रियातीत प्रमाणीकरणों के क्षेत्र में न प्रवेश करे" (73,*3*,392) । इस उद्धरण में कांट का अज्ञेयवाद अधिभूतवाद के विरुद्ध लक्षित है। लेकिन असल बात यह है कि कांट के अनुसार चेतना से स्वतंत्र संपूर्ण बाह्य जगत्, "निजरूप-वस्तुओं" का जगत् भी जिसे वैसे ही मूलतः अज्ञेय घोषित किया जाता है, इंद्रियातीत है। यही कांट के अज्ञेयवाद में विश्वासवादी झुकाव का कारण है : "मुझे ज्ञान को सीमित करना (aufheben) था, ताकि विश्वास के वास्ते जगह बनायी जा सके" (73,*3*,25) ।

सो, कांट का अधिभूतवाद का सुधार इसमें निहित है कि इसके मूल विचारों की व्याख्या चेतना के बाहर अस्तित्व रखनेवाली, वस्तुगत अंतर्वस्तु से रहित विचारों के रूप में की जाती है। तर्कबुद्धिवादी दार्शनिकों ने अलौकिक (अधिभौतिक) को सत्ता के एक विशिष्ट, उच्चतम और बहुधा दिव्य क्षेत्र के रूप में माना, कांट इसे केवल शुद्ध बुद्धि के विचारों का एक समुच्चय घोषित करते हैं। उनके अनुसार, ये विचार जीवंत रूप से महत्वपूर्ण, ख़ास तौर से नैतिक अर्थ तो रखते हैं, लेकिन संज्ञान की पूर्ववर्ती तथा उससे स्वतंत्र वस्तुगत यथार्थता से कोई संबंध नहीं रखते। अधिभूतवाद का कार्यभार इन विचारों के स्रोत और महत्व का अध्ययन करने में निहित होना चाहिए न कि पारलौकिक सत्त्वों के अस्तित्व को सिद्ध करने में। इन स्थितियों से कांट भौतिक (वास्तविक) और तार्किक आधारों के तादात्म्य के बारे में तर्कबुद्धिवादी. सिद्धांत और १७वीं सदी के प्रमुख तर्कबुद्धिवादियों द्वारा निर्मित प्रागनुभविक ज्ञान के सिद्धांत का विशद आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं।

अपनी 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' लिखने के पहले भी कांट ने तर्कबुद्धिवादी दर्शन के महत्वपूर्ण आधारों पर हमला किया : यह दावा

कि जो तार्किक रूप से आवश्यक है, वह इसी वजह से भौतिक रूप से भी आवश्यक है। तर्कबुद्धिवादियों ने लगभग निम्नलिखित रूप में तर्क किया: यदि कोई निश्चित तार्किक निष्कर्ष तार्किक नियमों के अनुसार पाया गया है (यानी यदि कोई तार्किक ग़लती नहीं की गयी है), तो इस निष्कर्ष की अंतर्वस्तु को वस्तुगत यथार्थता के रूप में माना जाना चाहिए, भले ही अनुभव इसे पुष्ट न करे। इस स्थापना का अर्थ आसानी से समझ में आ जाता है, यदि हम यह ध्यान में रखें कि अक्सर तार्किक निष्कर्ष, निगमन खोज में परिवर्तित हो जाते हैं, ऐसे अज्ञात भौतिक तथ्यों को प्रमाणित करते हैं, जिनका अस्तित्व लंबी अवधि में प्रेक्षण अथवा प्रयोग से नहीं पुष्ट हुआ था। लेकिन मुख्य बात यह है कि तार्किक विवेचन ऐसे तथ्यों को नहीं प्रकट कर सकता, जो तार्किक निष्कर्ष की आधारस्वरूप प्रस्थापनाओं में विद्यमान नहीं होते। परंतु १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों ने परिकल्पनात्मक पूर्वाधारों से इंद्रियातीत सत्त्वों के अस्तित्व को निगमित करने की कोशिश की। निगमन-क्षमता की इस तिरपेक्ष व्याख्या को अस्वीकार करते हुए कांट ने सिद्ध किया कि तार्किक पूर्वाधार अपने परिणाम से इस ढंग से जुड़ा हुआ है कि परिणाम को उसमें तार्किक ढंग से, तादात्म्य के नियम के अनुसार देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, तार्किक परिणाम केवल इस वजह से संगत होता है कि यह मूलत: अपने पूर्वाधार से अभिन्न होता है; यह पूर्वाधार के तार्किक विभाजन से स्पष्ट हो जाता है: परिणाम इसका अंग प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, "जटिलता" "विभाज्यता" का पूर्वाधार है; यह चीज़ तब स्पष्ट हो जाती है, जब हम जटिलता की धारणा का विभाजन करते हैं। वास्तविक पूर्वाधार एक बिल्कुल दूसरी बात है: यहां परिणाम पूर्वाधार का अंग या विशिष्टता नहीं है। अत: एक वास्तविक पूर्वाधार का विश्लेषण इसके संभव परिणाम को नहीं प्रकट करता, यह वस्तुत: केवल इसी परिणाम की अनिवार्यता को नहीं इंगित करता। मिसाल के लिए, जिस कारण से वर्षा होती है, वह वास्तविक न कि तार्किक पूर्वाधार है, क्योंकि वर्षा के लिए कोई तार्किक कारण नहीं है।

कांट के अनुसार, वास्तविक पूर्वाधार इंद्रियानुभविक रूप से प्रमाणित तथ्यों के बीच संबंधों को प्रकट तो करता है, पर यह अनुभव की

सीमाओं से आगे बढ़ने की संभावना को अस्वीकार करता है। इसी बीच, तर्कबुद्धिवादियों ने वास्तविक और तार्किक पूर्वाधारों के बीच भेद करने के बजाय उनका एकीकरण करके निष्कर्ष निकाला कि उन्होंने अनुभवेतर और अलौकिक के क्षेत्र में रास्ता बना लिया है। कांट ने विश्वासोत्पादक ढंग से इन भ्रमों को प्रकट किया, जिनसे तर्कबुद्धिवादी अधिभूतवाद की मूल ग़लतियां जुड़ी हुई हैं।

प्रागनुभविक या अनुभवेतर **ज्ञान** की धारणा १७वीं सदी की अधिभूतवादी प्रणालियों का केंद्र-बिंदु थी। उदाहरणार्थ, लीबनिज़ ने दावा किया कि तथ्यपरक सत्यों के अलावा ऐसे बुद्धिपरक सत्य भी होते हैं, जिन पर बुद्धि बिना अनुभव और इंद्रियगत तथ्यों की सहायता के पहुंचती है। तर्कशास्त्र के सिद्धांतों, ज्यामिति की स्वयंसिद्धियों और निष्कर्षों को निर्विवाद प्रागनुभविक सत्यों के रूप में माना गया, जिनकी मुख्य विशेषता उनकी सुस्पष्ट सार्विकता और आवश्यकता है। सार्विक और आवश्यक के रूप में प्रागनुभविक की परिभाषा का मतलब यह है कि प्रागनुभविक की समस्या गहन रूप से अर्थपूर्ण है: यह सैद्धांतिक वैज्ञानिक ज्ञान की निश्चित वास्तविक विशेषताओं को प्रकट करती है, विशेष रूप से गणित की विशेषताओं को, जिसकी प्रस्थापनाएं प्रायोगिक आंकड़ों से अपेक्षाकृत स्वतंत्र होती हैं। १७वीं सदी के लिए विशिष्ट गणित और तर्कशास्त्र के विकास के उस स्तर पर इंद्रियानुभविक तथ्यों से तार्किक और गणितीय प्रस्थापनाओं तक का मार्ग अब भी पूर्णतः अनन्वेषित था। तर्कबुद्धिवादियों का विश्वास था कि तार्किक तथा गणितीय नियम अनुभव से बिल्कुल स्वतंत्र होते हैं। उन्होंने अनुभव को मात्र वैयक्तिक इंद्रिय-अनुभूतियों के एक समुच्चय के रूप में माना। स्वभावतः अनुभव की यह सीमित समझदारी तार्किक तथा गणितीय नियमों की सार्विकता और आवश्यकता को स्पष्ट करने में असमर्थ रही। तर्कबुद्धिवादियों ने हमेशा इस प्रश्न का उत्तर उसी ढंग से दिया: तार्किक और गणितीय प्रस्थापनाएं वस्तुतः इस वजह से सार्विक तथा आवश्यक हैं कि वे अनुभव से पूर्णतः स्वतंत्र हैं, क्योंकि वे प्रागनुभविक हैं।

उस समय सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं के विशिष्ट लक्षणों के रूप में सार्विकता और आवश्यकता की धारणाओं को अब भी विशिष्ट वैज्ञानिक

विश्लेषण के अंतर्गत नहीं लाया जा सका। न तो तर्कशास्त्र, न ही गणित के पास ऐसे आंकड़े थे, जो इस चीज़ की पुष्टि कर सकें कि उनकी प्रस्थापनाओं की सार्विकता तथा आवश्यकता निरपेक्ष कदापि नहीं हैं, कि वे पहले, प्राप्त ज्ञान के स्तर और दूसरे, उनके सैद्धांतिक पूर्वाधार द्वारा सीमित हैं। यह सब अयूक्लिडीय ज्यामिति, सापेक्षता-सिद्धांत और क्वांटम भौतिकी के निर्माण के बाद जाकर ही सुस्पष्ट हुआ।

उपर्युक्त वर्णन से यह पूणर्तः साफ़ हो जाता है कि क्यों कांट ने प्रागनुभविक की तर्कबुद्धिवादी धारणा को अस्वीकार नहीं किया, बल्कि उसे मात्र संशोधित किया। तर्कबुद्धिवादियों (और उस काल के सभी दार्शनिकों और प्राकृतिक वैज्ञानिकों) की भांति वह सार्विक और आवश्यक सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं के वस्तुगत आविर्भाव और ऐतिहसिक विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट नहीं कर सके। विज्ञान तथा दर्शन के विकास के उस स्तर पर सैद्धांतिक चिंतन के ऐसे प्रवर्गों की सार्विकता और आवश्यकता को स्पष्ट करना और भी कठिन था, जैसे कि देश, काल, कार्य-कारण संबंध। किसी ने भी – कम से कम प्राकृतिक विज्ञानियों ने – यह संदेह नहीं किया कि सभी प्राकृतिक परिघटनाओं का अस्तित्व देश और काल में है, कि उनके निश्चित कारण हैं, आदि। लेकिन क्या यह सिद्ध किया जा सकता था कि वे प्रवर्ग वास्तव में सार्विक और आवश्यक थे? यही कारण था कि कांट ने शुद्ध (प्रागनुभविक) तथा इंद्रियानुभविक ज्ञान के बीच भेद करने में तर्कबुद्धिवादियों का अनुसरण किया और दावा किया कि तर्कशास्त्र तथा गणित प्रागनुभविक विद्याएं हैं, जब कि यांत्रिकी प्रागनुभविक मूलभूत सिद्धांतों को अनुभव से निगमित ज्ञान के साथ समन्वित करती है।

कांट की प्रागनुभविक की धारणा तर्कबुद्धिवादी धारणा से कैसे भिन्न है? पहली नज़र में प्रतीत हो सकता है कि १७वीं सदी के अधिभूतवादियों के साथ इस नुक्ते पर कांट का विवाद न्यूनतम रूप में फलप्रद है क्योंकि उन्होंने स्वयं प्रागनुभविक दृष्टिकोण का समर्थन किया। लेकिन वास्तव में, कांट की प्रागनुभविक की समझ तर्कबुद्धिवादियों की समझ से मूलतः भिन्न है। तर्कबुद्धिवादियों ने संसार के प्रागनुभविक ज्ञान को स्वीकार किया। फलतः यह माना जा सकता है कि उन्होंने अनुभव पर आधारित ज्ञान के अलावा ज्ञान के किसी अन्य मार्ग के अस्ति-

त्व को स्वीकार किया और इस दूसरे मार्ग को प्रधानता भी दी। वस्तुत: यही वह बिंदु है, जहां कांट तर्कबुद्धिवाद से निश्चित रूप से अलग हो जाते हैं। उनकी राय में, ऐसे विचारों और धारणाओं में कोई वास्तविक अंतर्वस्तु नहीं होती, जो अनुभव से नहीं लिये जाते; वे केवल **सहायक** कार्य ही पूरा करते हैं यानी वे संज्ञान के आवश्यक आकारिक साधन हैं। ज्ञान की अंतर्वस्तु इंद्रियगत तथ्यों से उत्पन्न होती है, लेकिन **ज्ञान के** एक ऐसे **रूप** के तौर पर प्रागनुभविक बेशक आवश्यक है, जिसके माध्यम से इंद्रियगत अनुभूतियां निश्चित रूपों में एकीकृत होती हैं। ज्ञान के ऐसे प्रागनुभविक रूपों में एकता, विभिन्नता, यथार्थता, कारणता, अन्योन्यक्रिया, संभावना, आवश्यकता, आदि के प्रवर्ग शामिल हैं। प्रागनुभविक रूप से चिंतित कोई भी चीज़ ज्ञान से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती। इस सिद्धांत के अनुसार, प्रागनुभविक रूप प्रयोगेतर नहीं, बल्कि **पूर्वप्रायोगिक** हैं, यानी वे ऐसे पूर्वाधारों और शर्तों के रूप में अनुभव के पहले आते हैं, जो अनुभव और ज्ञान को यथार्थता बनने में समर्थ बनाते हैं। केवल इस सीमित अर्थ में ही संज्ञान में प्रागनुभविक की भूमिका और आम तौर से प्रागनुभविक संज्ञान के बारे में बात की जा सकती है और की जानी चाहिए। कांट ज़ोर देते हैं, "हमारे लिए संभव अनुभव की वस्तुओं का प्रागनुभविक संज्ञान ही संभव है" (73,*3*,135)। वह इसी चीज़ को और आगे स्पष्ट करते हैं: "एकमात्र चीज़, जिसे सहजबुद्धि a priori कर सकती है, वह सामान्यत: संभव अनुभव के रूप का पूर्वानुमान करना है और चूंकि वह चीज़, जो परिघटना नहीं है, अनुभव का विषय नहीं हो सकती, इसलिए सहजबुद्धि इंद्रियगत अनुभूति की इन सीमाओं से कभी बाहर नहीं जा सकती, जिनके भीतर ही विषय अस्तित्व रख सकते हैं" (73,*3*,217)।

अत: ज्ञान के प्रागनुभविक रूप अनुभव के ऊपर और काल्पनिक सत्त्वों की दुनिया में उड़ान भरने के लिए नहीं, बल्कि अपूर्ण इंद्रियगत तथ्यों के समुच्चय से अनुभव की एक सुव्यवस्थित प्रणाली निर्मित करने के लिए आवश्यक हैं। अपने पूर्ववर्तियों के विपरीत, कांट इस बात से भली भांति सचेत थे कि प्रायोगिक ज्ञान प्रवर्गों के प्रयोग की अपेक्षा करता है। मिसाल के लिए, यह सरल वक्तव्य कि सूर्य चट्टान को तपा देता

है, इंद्रियानुभूति को कारणता के प्रवर्गीय संबंध से जोड़ता है। कांट अनुभव के निर्णयों और प्रत्यक्ष अनुभूति के निर्णयों के बीच भेद करते हैं; ठीक-ठीक कहें तो प्रत्यक्ष अनुभूति के निर्णय सच्चा ज्ञान, कम से कम परिघटनाओं के बीच संबंधों का ज्ञान, प्रदान नहीं करते। फलतः, प्रवर्ग इंद्रियानुभविक ज्ञान के आवश्यक पूर्वाधार हैं, जो सैद्धांतिक ज्ञान की भांति ही बुद्धिसंगत है। कांट के भ्रम का कारण यही है: प्रवर्ग अनुभव के पहले आते हैं। असल बात यह है कि कांट (तथा उनके समकालीन सभी चिंतक और वैज्ञानिक) अभी भी अनुभव के ऐतिहासिक विकास के बारे में कल्पना नहीं करते, जिसके दौरान प्रवर्ग निर्मित और विकसित होते हैं। उस युग के लिए अनिवार्य इस ग़लती को इस प्रश्न की समझ में कांट के ऐतिहासिक योगदान को धुंधला नहीं करना चाहिए: उन्होंने प्रायोगिक ज्ञान की अंतर्वस्तु के साथ चिंतन के प्रवर्गीय उपकरण की एकता को प्रकट किया। इस वजह से कांट "शुद्ध" (प्रागनुभविक) ज्ञान को इंद्रियानुभविक ज्ञान के मुक़ाबले में रखने तक ही सीमित नहीं रहते, जैसा कि उनके पूर्ववर्तियों ने किया। वह सिद्ध करते हैं कि चूंकि सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञान की प्रस्थापनाएं सार्विक और आवश्यक हैं, इसलिए वे शुद्ध प्रागनुभविक नहीं, बल्कि प्रागनुभविक तथा इंद्रियानुभविक हैं – रूप में प्रागनुभविक और अंतर्वस्तु में इंद्रियानुभविक।

प्रागनुभविक (अर्थात् मूलतः सैद्धांतिक) तथा इंद्रियानुभविक ज्ञान की एकता का तर्कबुद्धिवादी निषेध इस निष्कर्ष पर ले गया कि प्रागनुभविक सूत्र (निर्णय, निष्कर्ष) शुद्धतः विश्लेषणात्मक हैं यानी कोई नया ज्ञान नहीं देते, बल्कि मात्र उस चीज़ को प्रकट करते हैं, जो प्रस्थापना के विषय में पहले ही निहित है। इस तरह, गणितीय ज्ञान की संपूर्ण संपदा को गणित के तार्किक पूर्वाधारों में पूर्वनिर्मित और पूर्वनिर्धारित किसी चीज़ में बदल दिया गया। यह स्थिति गणित, यांत्रिकी तथा सामान्यतः सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों के विकास के साथ टकराव में आये बिना नहीं रह सकी।

प्रागनुभविक तथा इंद्रियानुभविक की एकता के सिद्धांत ने कांट को इस तर्कबुद्धिवादी जड़सूत्र का खंडन करने में भी समर्थ बनाया। विश्लेषणात्मक निर्णयों के अस्तित्व को अस्वीकार किये बिना ही, कांट

प्रागनुभविक **संश्लेषणात्मक** निर्णयों की खोज को अपनी महानतम उपलब्धि मानते हैं। उनके विचार में, ऐसे निर्णयों का स्थान गणित तथा यांत्रिकी में है, क्योंकि वे इंद्रियगत प्रेक्षणों की विशेष क़िस्म मे आगे बढ़ते हैं, जिन्हें उन्होंने प्रागनुभविक प्रेक्षणों के रूप में परिभाषित किया। वे दूसरे विज्ञानों में भी संभव हैं, क्योंकि विज्ञान प्रागनुभविक को इंद्रियगत तथ्यों के अनुरूप बना देते हैं। प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णयों का महत्व यह है कि वे ज्ञान की वास्तविक वृद्धि में महायता करते हैं। कांट के पूर्ववर्तियों की राय में, केवल इंद्रियानुभविक निर्णय ही संश्लेषणात्मक स्वरूप के होते हैं, क्योंकि वे नव-प्रेक्षित आंकड़ों को दर्ज करते हैं। इस दृष्टिकोण ने सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों के विकास में संभावनाओं को अत्यंत सीमित कर दिया। कांट ने विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक निर्णयों के इस द्वंद्ववाद-विरोधी मुक़ाबले को समाप्त कर दिया। उनका नया दृष्टिकोण स्पष्टतः सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों के विकास के लिए असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है।

यह समझना आसान है कि प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णयों का कांट का सिद्धांत उन सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों की संभावना तथा आवश्यकता को दार्शनिक ढंग से पुष्ट करने का एक प्रयास था, जिनका कांट के समय में अब भी व्यावहारिक रूप से कोई अस्तित्व नहीं था। लेकिन गणितीय भौतिकविज्ञान का अस्तित्व था और इसने कांट को सैद्धांतिक ज्ञान के ज्ञानमीमांसीय पूर्वाधारों के बारे में अधिक सामान्य प्रश्न उठाने के लिए प्रेरित किया। सैद्धांतिक ज्ञान स्वभावतः प्राप्त अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। वस्तुतः इसी वजह से यह सैद्धांतिक न कि इंद्रियानुभविक ज्ञान है। लेकिन कांट की प्रणाली में सैद्धांतिक, जिसे वह प्रागनुभविक मानते हैं, किसी भी संभव अनुभव से स्वतंत्र है, क्योंकि यह प्रागनुभविक इंद्रियगत प्रेक्षण पर आधारित होता है। प्रेक्षण के इस विशिष्ट रूप की कल्पना यानी देश और काल के प्रागनुभविक स्वरूप की धारणा कांट को तर्कबुद्धिवादियों से पृथक् कर देती है। यह विभेद कांट के प्रागनुभविक दृष्टिकोण के अंतर्विरोधों को प्रकट करता है। एक ओर, वह दावा करते हैं कि प्रागनुभविक मात्र ज्ञान का एक रूप है। दूसरी ओर, वह प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक निर्णयों के अस्तित्व की कल्पना करते हुए कुछ हद तक प्रागनुभविक अंतर्वस्तु

के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, सैद्धांतिक ज्ञान के रूप और अंतर्वस्तु के बीच अंतर्विरोध अनसुलझा ही रहता है। फिर भी, समस्या को उस ऐतिहासिक युग के लिए यथासंभव व्यापक ढंग से पेश किया गया है।

निष्कर्षस्वरूप हम कह सकते हैं कि कांट १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादी अधिभूतवाद को इतनी **अर्थपूर्ण और गहन** आलोचना के अंतर्गत लानेवाले पहले दार्शनिक थे। वह १८वीं सदी के एकमात्र ऐसे चिंतक थे, जिन्होंने दार्शनिक तर्कबुद्धिवाद के अधिक मूल्यवान विचारों को दिखाया और उन्हें विकसित किया। यह सही है कि वह तर्कबुद्धिवादी अधिभूतवाद पर क़ाबू पाने में असमर्थ रहे, क्योंकि उन्होंने इसकी आलोचना प्रत्ययवादी और अज्ञेयवादी ढंग से की। लेकिन यह विश्वास करना कि उस समय हर मूल्यवान चीज़ को बनाये रखते हुए और आत्मसात करते हुए अधिभूतवाद पर निश्चित रूप से क़ाबू पाया जा सकता था, दर्शन के विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आवश्यकता की उपेक्षा करना है। जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने कहा, क्लासिकीय जर्मन दर्शन ने १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादी अधिभूतवाद को पुनर्जीवित किया (1,*4*,125) । अधिभूतवादी प्रणालियों का यह पुनर्जीवन विपर्यय नहीं था, क्योंकि इससे १७वीं सदी में अधिभूतवादी प्रणालियों के असाधारण निर्माताओं – देकार्त, स्पिनोज़ा, लीबनिज़ – द्वारा प्रस्तुत **द्वंद्वात्मक परंपरा** का प्रभावी तथा सुव्यवस्थित विकास जुड़ा हुआ था। यह बात कि कांट ने अधिभूतवादी प्रणालियों की अपनी आलोचना को अपने इंद्रियातीत तर्कशास्त्र और ख़ास तौर से इंद्रियातीत द्वंद्ववाद के ढांचे में विकसित किया, द्वंद्वात्मक चिंतन प्रणाली के विकास के लिए उनकी दार्शनिक विरासत के महान महत्व को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती है।

कांट का " निजरूप-वस्तुओं " और परासत्ताओं का सिद्धांत

" वस्तु-निजरूप " की धारणा कांट के दर्शन की एक महत्वपूर्ण धारणा है। संज्ञान से स्वतंत्र " निजरूप-वस्तुओं के वस्तुगत अस्तित्व की मान्यता दार्शनिक भौतिकवाद से अविच्छेद्य है। लेकिन कांट के दर्शन के विपरीत, भौतिकवाद सैद्धांतिक तौर पर " निजरूप-वस्तुओं " के संज्ञान की संभावना और " हमारे निमित्त वस्तुओं " में उनके अनिवार्य रूपांतरण को सिद्ध करता है। लेनिन ने कुछ छद्म-मार्क्सवादियों की आलोचना की, जिन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की " कि भौतिकवादी मार्क्स तथा एंगेल्स ने निजरूप-वस्तुओं " (अर्थात् हमारी संवेदनाओं, अनुभूतियों आदि से परे वस्तुओं) " के अस्तित्व तथा उनके संज्ञान की संभावना से इन्कार किया और कि उन्होंने आभास तथा वस्तु-निजरूप के बीच मूलभूत सीमा को स्वीकार किया " (10,*14*,117-18)।

कांट की " वस्तु-निजरूप " की धारणा घोर अंतर्विरोधी है। इंद्रियगत अनुभव के स्रोत के रूप में " वस्तु-निजरूप " को स्वीकार करते हुए तथा यह भी मानते हुए कि यह एक परिघटना हो सकता है – और परिघटनाएं ज्ञेय हैं – कांट " निजरूप-वस्तुओं " की परम अज्ञेयता पर ज़ोर देते हैं और यहां तक कि उन्हें इंद्रियातीत भी समझते हैं। इस संबंध में, अनिवार्यत: यह प्रश्न उठता है : क्या कांट " निजरूप-वस्तुओं " को परासत्ताएं (noumena) यानी अलौकिक, परलौकिक सत्ताएं मानते हैं ? इस प्रश्न के सकारात्मक उत्तर का, जो अनिवार्य प्रतीत होता है, अर्थ है भौतिकवादी प्रवृत्ति को अस्वीकार करना, जो हमारी अनुभूतियों को पैदा करनेवाली " निजरूप-वस्तुओं " की धारणा से जुड़ी हुई है। लेकिन तब " निजरूप-वस्तुएं " परासत्ताओं से कैसे भिन्न हैं ? अफ़सोस की बात है कि मार्क्सवादी दर्शन ने इस प्रश्न का विशिष्ट अध्ययन नहीं पेश किया है, हालांकि यह कांट के दर्शन की सही समझ के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

कांट के पहले आलोचकों में से एक फ़्रेडरिक जैकोबी ने निम्नलिखित अवलोकन पेश किया, जो बाद में सुप्रसिद्ध हो गया : "वस्तु-निज-रूप" एक ऐसी धारणा है, जिसके बिना कांट की प्रणाली में प्रवेश नहीं किया जा सकता, लेकिन जिसके साथ वहां रहा भी नहीं जा सकता। कांट की "वस्तु-निजरूप" की धारणा के विप्रतिषेध की ओर इशारा करते हुए, जैकोबी ने इसमें तार्किक रूप से असमन्वित दावों के अलावा और कुछ नहीं देखा। उन्होंने कांट के दर्शन के मुक़ाबले में अधिभौतिक यथार्थता की एकमात्र प्रमाण्य समझ के रूप में विश्वास का अंतःप्रज्ञावादी सिद्धांत पेश किया, यानी उन्होंने उन सभी चीज़ों की पुष्टि की, जिनका कांट की 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' ने खंडन किया।

कांट के "वस्तु-निजरूप" के सिद्धांत का अतर्विरोधी स्रोत भौतिकवाद को प्रत्ययवादी के साथ समन्वित करने के प्रयास में निहित है। जैकोबी की भूल यह थी कि उन्होंने उन अंतर्विरोधों का **नकारात्मक** ढंग से मूल्यांकन किया, जिनका उन्होंने पता लगाया था। लेकिन ये अंतर्विरोध बहुत अर्थपूर्ण हैं और यह भी कहा जा सकता है कि वे परोक्ष रूप से समस्या के प्रति गहन दृष्टि का संकेत देते हैं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद असाधारण दार्शनिक सिद्धांतों के अंतर्विरोधों के ठोस मूल्यांकन की आवश्यकता को पुष्ट करता है। समस्याओं के प्रति सीमित और एकतरफ़ा दृष्टिकोण पर क़ाबू पाने के प्रयास में निहित सारगर्भित अंतर्विरोध केवल दोष नहीं, बल्कि निश्चित अर्थ में इन सिद्धांतों के गुण भी हैं। स्मरणीय है कि मार्क्स ने डेविड रिकार्डो के मूल्य-सिद्धांत के अंतर्विरोधों को एक अत्यंत जटिल आर्थिक समस्या के प्रति सही दृष्टिकोण की पूर्वापेक्षा के रूप में माना। कांट के "वस्तु-निजरूप" के सिद्धांत और रिकार्डो के मूल्य-सिद्धांत के बीच सदृश्य (स्पष्टतः केवल ज्ञानमीमांसीय और विधि से संबंधित पहलुओं में) उचित और फलप्रद है, क्योंकि हम जर्मन दार्शनिक की न केवल **महान** भ्रांतियों, बल्कि वस्तुगत रूप से अस्तित्वमान अंतर्विरोधों के बारे में भी कह रहे हैं।

कांट पर उनके असंगत दृष्टिकोण के लिए, किसी चीज़ को ग़लत समझने या नज़रअंदाज़ करने के लिए, उनके अनुयायियों की दृष्टि से सुस्पष्ट अंतर्विरोधों के लिए आरोप लगाना ग़लत होगा। दार्शनिक सिद्धांत के विश्लेषण की ऐसी विधि दर्शन-विरोधी होगी। यदि कांट ने "वस्तु-

निजरूप" की व्याख्या मात्र पूर्ण रूप से इंद्रियातीत या केवल एक ज्ञान-मीमांसीय परिघटना के रूप में की होती, तो यह बिल्कुल "सुसंगत" होता, पर तब वह महान चिंतक नहीं हुए होते।

लेनिन ने कांट के दर्शन की आलोचना में सतही भौतिकवादी ग़लतियों पर क़ाबू पाने की आवश्यकता की समस्या के प्रति एक गहन दृष्टिकोण प्रदर्शित किया। कांट के दर्शन की वैज्ञानिक आलोचना केवल उनके अभ्युपगमों को अस्वीकार ही नहीं करती, बल्कि उन्हें **ठीक** भी करती है। इस संबंध में लेनिन ने लिखा, "मार्क्सवादियों ने (२०वीं सदी के शुरू में) कांटवादियों और ह्यूमवादियों की हेगेल की अपेक्षा फ़ायरबाख़ (और बुखनर) के ढंग से आलोचना की" (10,*38*,179)। अध्ययन-विधि की दृष्टि से बड़े महत्व का यह प्रेक्षण कांट के सिद्धांत के अंतर्विरोधों की विविध वास्तविक अंतर्वस्तु का अध्ययन करने की आवश्यकता की ओर इंगित करता है ताकि उन्हें सही वैज्ञानिक ढंग से हल किया जा सके।

विदित है कि अपनी 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' लिखने से पूर्व कांट ने एक मूलतः भौतिकवादी ब्रह्मांडोत्पत्ति सिद्धांत की रचना की थी, जिसने क्लासिकीय यांत्रिकी के नियमों के पूर्णतः अनुरूप खगोल-विज्ञान द्वारा स्थापित तथ्यों को स्पष्ट किया और सौर-प्रणाली की सुव्यवस्थित संरचना, उत्पत्ति तथा विकास की एक वैज्ञानिक (अपने समय के लिए) व्याख्या पेश की। अपने अन्वेषण के सिद्धांतों को स्पष्ट करते हुए कांट ने लिखा: "...यहां कुछ अर्थ में और बिना किसी गर्व के कहा जा सकता है: **मुझे भूतद्रव्य दीजिये और इससे मैं एक दुनिया बना दूंगा** अर्थात् मुझे भूतद्रव्य दीजिये और मैं आपको दिखा दूंगा कि इससे दुनिया कैसे निकलनी चाहिए।" उन्होंने कुछ पंक्तियों में नीचे लिखा: लेकिन क्या तब "ऐसी ही सफलता पर डींग मारी जा सकती है, जब हम नगण्य पौधों या कीड़ों का अध्ययन कर रहे हों? क्या यह कहा जा सकता है: **मुझे भूतद्रव्य दीजिये और मैं आपको दिखा दूंगा कि इल्ली की सृष्टि कैसे की जा सकती हैं?..** अतः आप आश्चर्य में न पड़ें, यदि मैं यह कहने का साहस करूं कि यांत्रिकी के आधार पर एक तृण या इल्ली की उत्पत्ति को समझने की अपेक्षा सभी खगोल-पिंडों की संरचना और उनकी गतियों का कारण, संक्षेप

में, वर्तमान समय में अस्तित्वमान दुनिया की उत्पत्ति को समझना आसान है" (73,*1*,231-32)।

'आलोचना' के पहले की अवधि में अपने विचारों के विकास के परिणामस्वरूप कांट इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जीवन के आविर्भाव को, चेतना, चिंतन की तो बात ही छोड़ें, गति और भूतद्रव्य के विकास द्वारा नहीं स्पष्ट किया जा सकता। बेशक, यहां आशय केवल यांत्रिक गति और विकास की प्रक्रिया की यांत्रिक व्याख्या से है। पर न तो कांट और न ही उनके समकालीनों को उन अन्य प्राकृतिक प्रक्रियाओं का कोई अनुमान था, जो अयांत्रिक नियमों के अंतर्गत आती हैं। यांत्रिक भौतिकवाद जीवन और चिंतन की उत्पत्ति के रहस्य को प्रकट करने में असमर्थ है और कांट सामान्यतः भौतिकवाद की अपनी अस्वीकृति में इसी तथ्य से आगे बढ़ते हैं। उनके विचार में, दर्शन का यांत्रिक रूप ऐतिहासिक तौर से अस्थायी सीमा नहीं, बल्कि संसार की भौतिकवादी (तथा प्राकृतिक वैज्ञानिक) व्याख्या का सारतत्व है।

इन्कार करने के बजाय यांत्रिक विधि को उचित ठहराते और पुष्ट करते हुए भी कांट इसकी सीमाओं पर ज़ोर देते हैं। अतएव दार्शनिक एकत्ववाद की आवश्यक असंभवता के बारे में वह यह निष्कर्ष निकालते हैं: एक मूलप्रस्थापना की कल्पना करके यथार्थता की विविधता को स्पष्ट नहीं किया जा सकता और कांट भौतिकवादी (वास्तव में यांत्रिक) प्रस्थान-बिंदु की अपर्याप्तता के बारे में अपनी स्थापना का अनुसरण प्रत्ययवादी एकत्ववाद (यानी चेतना से बाह्य जगत् के निगमन) के दोष के स्पष्टीकरण के साथ करते हैं। यहां कांट केवल बर्कले के "स्वप्निल" और "जड़सूत्रवादी" प्रत्ययवाद को ही नहीं, बल्कि देकार्त के "समस्यात्मक" प्रत्ययवाद को भी ध्यान में रखते हैं, जो बाह्य जगत् के अस्तित्व का ज्ञान cogito* से, उस आत्म-चेतना से निर्गमित करता है, जिसे सभी अन्य मूलप्रस्थापनाओं को अनावश्यक बना देनेवाली एक मूलप्रस्थापना के रूप में स्वीकार किया जाता है। कांट के अनुसार, आत्म-चेतना का अस्तित्व इंद्रियों द्वारा अनुभूत बाह्य जगत् के अस्तित्व को सिद्ध करता है, क्योंकि "मेरी अपनी सत्ता की

चेतना मेरे बाहर दूसरी चीज़ों की सत्ता की प्रत्यक्ष चेतना भी है" (73,*3*,201)। यह प्रस्थापना बाह्य जगत् पर चेतना की निर्भरता को स्वीकार करती है। लेकिन बाह्य जगत् की कांट की अवधारणा द्व्यर्थक है क्योंकि यह "निजरूप-वस्तुओं" और परिघटनाओं दोनों ही की ओर इंगित करती है।*

ये उद्धरण 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' के दूसरे संस्करण के लिए लिखे गये अध्याय 'प्रत्ययवाद का खंडन' से लिये गये हैं। वे उन समीक्षकों का खंडन करते हैं, जिन्होंने इस कृति में आत्मगत-प्रत्ययवादी प्रवृत्ति को अकारण ही नहीं देखा। बर्कले के साथ अपने विवादों पर जोर देते हुए कांट दृढ़ता से दावा करते हैं कि निश्चित ढंग से संगठित अवधारणाओं का एक समुच्चय, जो इंद्रियों द्वारा अनुभूत प्रकृति के रूप में या परिघटनाओं के संसार के रूप में समझा जाता है, अनिवार्यतः संज्ञान से पूर्णतः स्वतंत्र उन "निजरूप-वस्तुओं" के संसार की स्वीकृति की पूर्वकल्पना करता है, जो परिघटनाओं के संसार के मूल में होती हैं। इंद्रियों द्वारा अनुभूत चीज़ों का आत्मगत स्वरूप मानव-संज्ञान की विशिष्ट क्रियाविधि में निहित है, लेकिन इंद्रिय-अनुभूतियां, जो चिंतन की अंतर्वस्तु हैं, अनैच्छिक होती हैं, क्योंकि वे हमारी इंद्रियों पर "निजरूप-वस्तुओं" के प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। अतः चेतना का तथ्य बाह्य जगत् के अस्तित्व को सिद्ध करता है और इंद्रिय-अनुभूतियां प्रत्यक्षतः "निजरूप-वस्तुओं" के अस्तित्व को दिखाती हैं, जिन्हें कुछ हद तक न केवल इंद्रियगत तथ्यों की विविधता, बल्कि उनकी अंतर्वस्तु की विशिष्टताओं को निर्धारित करनेवाले इंद्रिय-अनुभूतियों के कारणों के रूप में समझा जाना चाहिए।

कांट के अनुसार, स्वयं यह तथ्य कि परिघटनाओं का संसार निर्विवाद रूप से अस्तित्वमान है, "निजरूप-वस्तुओं" का अस्तित्व सिद्ध

---

* 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' में एक अन्य स्थान पर कांट वस्तुगत यथार्थता, "वस्तु-निजरूप" के साथ चेतना (और आत्म-चेतना) के संबंध पर ज़ोर देते हैं: "मैं मेरी इंद्रियों से संबंध रखनेवाली अपने बाहर की चीज़ों के अस्तित्व के प्रति उतना ही सचेत हूं, जितना कि काल में अपने अस्तित्व के प्रति" (73,*3*,31)।

करता है, क्योंकि स्वयं शब्द "परिघटना" में किसी दूसरी चीज़, अपरिघटना के अस्तित्व का इशारा निहित है, जो इंद्रियों द्वारा अनुभूत चीज़ों या परिघटनाओं के केवल इंद्रियगत अगोचर आधार के रूप में ही कल्पनीय है। दूसरे शब्दों में, "परिघटनाएं हमेशा एक वस्तु-निजरूप की पूर्वकल्पना करती हैं और फलतः उस ओर इशारा करती हैं..." (73,*4*,109)।

इस तरह, कांट दर्शन के मुख्य प्रश्न के भौतिकवादी और प्रत्ययवादी दोनों ही समाधानों को अस्वीकार करते हैं और द्वैतवादी प्रस्थान-बिंदु की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं: एक ओर, चेतना, संज्ञान का विषयी; दूसरी ओर, उससे पृथक्कृत "निजरूप-वस्तुओं" का संसार, जो न केवल संज्ञान, बल्कि संज्ञान के विषय – परिघटनाओं के संसार के मुक़ाबले में भी रखा जाता है। परिघटनाओं का संसार संज्ञान के कार्यकलापों से सहसंबद्ध है। वस्तुतः आत्मगत और वस्तुगत, आत्मिक और "भौतिक", परिघटना और "वस्तु-निजरूप" के बीच द्वैतवादी मुक़ाबला ही कांट के अज्ञेयवाद का प्रस्थान-बिंदु है।

भौतिकवाद के विपरीत, जो आत्मिक और भौतिक के पूर्ण अंतर्विरोध को मूल दार्शनिक प्रश्न (अर्थात् आत्मिक और भौतिक के बीच संबंध के प्रश्न) के ढांचे में सीमित करता है, द्वैतवाद इस सीमा को अस्वीकार करता है और आत्मिक और भौतिक के बीच अंतर्विरोध की व्याख्या सभी दृष्टियों से निरपेक्ष के रूप में करता है। लेकिन "निंज-रूप-वस्तुओं" की मूल अज्ञेयता का कांट का सिद्धांत केवल आत्मिक तथा भौतिक के द्वैतवादी मुक़ाबले पर ही आधारित नहीं है, यह प्राकृतिक विज्ञानों में ऐतिहासिक रूप से निर्धारित परिस्थिति और कुछ संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं की सामान्य विशिष्टताओं को भी प्रतिबिंबित करता तथा उनकी आत्मगतवादी व्याख्या पेश करता है। एंगेल्स ने लिखा, कांट के समय में "प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान वास्तव में इतना आंशिक था कि वह ठीक ही उनमें से प्रत्येक के बारे में हमारी कम जानकारी के पीछे एक रहस्यमय "वस्तु-निजरूप" के अस्तित्व की कल्पना कर सके" (3,*3*,102)। १९वीं सदी के पूर्वार्ध में भी, एंगेल्स ज़ोर देते हैं, रसायनविज्ञान ने जैव तत्वों को रहस्यमय "निजरूप-वस्तुओं" के तौर पर माना। अतः कांट ने अपने समय

के अनेक प्रकृतिविदों के विचारों की एक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की।

उस समय के बाद असाधारण वैज्ञानिक खोजों और उनके आधार पर मानवजाति की व्यावहारिक उपलब्धियों ने कांट के तथा किसी भी दूसरे अज्ञेयवाद के पूर्वाधारों का विश्वसनीय ढंग से खंडन कर दिया है। लेकिन स्पष्टतः संज्ञान की प्रक्रिया, असंज्ञेय "निजरूप-वस्तुओं" के "हमारे निमित्त वस्तुओं" में रूपांतरण के अंतर्विरोध ग़ायब नहीं हो गये हैं। ये अंतर्विरोध संज्ञान के विकास में प्रत्येक ऐतिहासिक अवस्था में पुनरुत्पादित (सामान्यतः गुणात्मक तौर से नये रूप में) होते हैं। "हमारे निमित्त वस्तु" तथा "वस्तु-निजरूप" के बीच अंतर केवल संज्ञात और अज्ञात के बीच ज्ञानमीमांसीय अंतर ही नहीं है। लेनिन के शब्दों में, "वस्तु-निजरूप हमारे निमित्त वस्तु से भिन्न है, क्योंकि हमारे निमित्त वस्तु वस्तु-निजरूप का मात्र एक अंग या मात्र एक पहलू है" (10,*14*,119) । अतः ज्ञात अधिक व्यापक, अब भी अज्ञात समष्टि का एक अंग है तथा कुछ हद तक उसपर निर्भर करता है।

संज्ञान की प्रत्येक नयी अवस्था उस चीज़ को भी प्रकट करती है, जो पहले पूरी तरह अज्ञात थी – नयी अज्ञात परिघटनाएं। यह भी ज्ञान की प्रगति की अभिव्यक्ति है: अज्ञात वस्तुओं की कम होती हुई संख्या का विचार केवल ज्ञान के एक निश्चित दायरे में ही सही है, इसे संपूर्ण संज्ञानात्मक प्रक्रिया पर, सभी सुलभ और संभव (लेकिन अब भी गोचर नहीं) वस्तुओं पर लागू नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि अंतिम विश्लेषण में, संज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विषय उसके ऐतिहासिक विकास के संपूर्ण आयाम को देखते हुए अपरिमित है। यह सही है कि परिमित का संज्ञान करते हुए हम अपरिमित को भी मान्यता देते हैं, परंतु दोनों के बीच मूल अंतर बना रहता है।

मार्क्सवादी दर्शन "वस्तु-निजरूप" की ज्ञेयता में अज्ञेयवादी अविश्वास तथा निरपक्ष ज्ञान की प्राप्ति में विरोधी अधिभूतवादी विश्वास के साथ लेशमात्र मेल नहीं खाता। १७वीं सदी की अधिभूतवादी प्रणालियों के संस्थापकों के निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने की संभावना के अधिभूतवादी दृष्टिकोण को हेगेल ने पुनर्जीवित किया। धर्मशास्त्री भी हमेशा इस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित हुए हैं, क्योंकि उनकी राय में, ईसोपदेश में सारे सत्य, स्पष्टतः परम सत्य विद्यमान हैं।

पी० बेल और एम० मोन्टेन जैसे असाधारण संशयवादी दार्शनिकों ने धर्मशास्त्र तथा अधिभूतवादी प्रणाली-निर्माण के ख़िलाफ़ संघर्ष में बड़ी भूमिका अदा की। अतः एक निश्चित धर्मशास्त्र-विरोधी स्थिति के साथ, भले ही इसे अनेकानेक शर्तों द्वारा असंगत और हल्का क्यों न बना दिया गया हो, कांट के अज्ञेयवाद के (विशेष रूप से, ईश्वर के अस्तित्व के सभी सुलभ और संभव "प्रमाणों" के अवैज्ञानिक दोष के बारे में उनकी प्रस्थापना के) संबंध की उपेक्षा करना अनैतिहासिक होगा। बेशक, यह संयोग की बात नहीं है कि वैटिकन ने कांट की कृतियों को अवैध पुस्तकों की सूची में रखा; ईश्वर के अस्तित्व की तार्किक प्रमाण्यता का जड़सूत्र कैथोलिक धर्म के मूलसूत्रों में से एक है। कांट बुद्धि के अधिभूतवादी तथा धर्मशास्त्रीय दावों को सीमित करने का प्रस्ताव करते हैं। इसका मतलब यह है कि कांट का सिद्धांत प्रत्यक्षतः १७वी सदी के परिकल्पनात्मक अधिभूतवाद के ख़िलाफ़, विशेष रूप से इसके उन अनुयायियों के ख़िलाफ़ लक्षित है, जिन्होंने उपलब्ध अनुभव की सीमाओं पर क़ाबू पाने हेतु एक सैद्धांतिक विधि के निर्माण के तर्कबुद्धिवादी प्रयासों की व्याख्या धर्मशास्त्र को एक तर्कबुद्धिवादी अध्ययन-विधि से लैस करनेवाले अतींद्रिय, अधिप्रायोगिक ज्ञान की संभावना के प्रमाणीकरण के रूप में की।

कांट वास्तविक और तार्किक अभ्युपगमों के तादात्म्य के बारे में तर्कबुद्धिवादी जड़सूत्र को अस्वीकार करते हैं, जिसकी सहायता से परिकल्पनात्मक अधिभूतवाद ने इंद्रियातीत सत्ताओं और ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की अनश्वरता, निरपेक्ष स्वतंत्र संकल्प, आदि के अस्तित्व को सिद्ध किया। वह प्रागनुभविक सिद्धांतों के प्रयोगेतर स्वरूप के बारे में तर्कबुद्धिवादी प्रस्थापना को भी नामंजूर करते हैं और इसके मुक़ाबले में **ज्ञान के** एक ऐसे **रूप** की हैसियत से प्रागनुभविक की परिभाषा देते हैं, जो मूलतः अनुभव के बाहर नहीं लागू हो सकता और केवल इंद्रियानुभविक अंतर्वस्तु से संपन्न है। कांट द्वारा ज्ञान के रूपों की आत्मगतवादी व्याख्या के बावजूद प्रागनुभविक की यह धारणा सैद्धांतिक ज्ञान के स्वरूप की बुद्धिसंगत समझ के समीप है। इसलिए यह समझ में आनेवाली बात है कि क्यों इंद्रियातीत विश्लेषण के क्षेत्र में निरूपित कांट का सुप्रसिद्ध प्रश्न – शुद्ध प्राकृतिक विज्ञान कैसे संभव हैं? – मूलतः

सैद्धांतिक प्राकृतिक विज्ञानों की संभावना के बारे में एक प्रश्न है। हम जानते हैं कि कांट इसका स्पष्टत: सकारात्मक उत्तर देते हैं।

इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि १७वीं सदी के अधिभूतवादी दार्शनिकों के साथ अपने सभी विवादों के बावजूद कांट कुछ हद तक उनके उत्तराधिकारी भी हैं। परिकल्पनात्मक अधिभूतवाद के धर्मशास्त्रीय निहितार्थ इसकी मूलभूत अंतर्वस्तु कदापि नहीं बनाते। प्रागनुभविक चिंतन और ज्ञान के बारे में तर्कबुद्धिवादी सिद्धांत १७वीं सदी के गणित और यांत्रिकी की उपलब्धियों में, इन निगमनात्मक विज्ञानों के विकास के विशिष्ट पहलुओं में बद्धमूल हैं, जिनकी प्रस्थापनाएं अकाट्य रूप से सार्विक हैं। इस निर्विवाद (जैसा कि उस समय प्रतीत हुआ) सार्विकता का स्रोत क्या है? १७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों ने गणितीय संरचनाओं के तार्किक रूप की जांच की और वे अपनी राय में इस एकमात्र संभव निष्कर्ष पर पहुंचे कि ये संरचनाएं अनुभव से स्वतंत्र हैं, प्रागनुभविक हैं। यही अधिप्रायोगिक ज्ञान की संभावना के बारे में अधिक सामान्य निष्कर्ष का भी कारण है। कांट प्रागनुभविक की व्याख्या एक ऐसी चीज़ के रूप में करते हुए इस निष्कर्ष को अस्वीकार करते हैं, जो अनुभव के पहले आती है, केवल अनुभव के लिए ही प्रयोज्य है, अत: अधिप्रायोगिक रूप से अप्रयोज्य है।

कांट सत्ता के अधिभूतवादी सिद्धांत को संज्ञान करनेवाले चिंतन के प्रवर्गों के बारे में, इंद्रियगत तथ्यों के प्रवर्गीय संश्लेषण के बारे में एक सिद्धांत में परिवर्तित करते हैं। अपने आत्मगत स्वरूप के बावजूद प्रवर्गों की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या ने एक वास्तविक द्वंद्वात्मक समस्या पेश की। यह संयोग की बात नहीं है कि कांट इंद्रियातीत विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का उपयोग उस नये, अनाकारगत तर्कशास्त्र को सिद्ध करने के लिए करते हैं, जिसे वह इंद्रियातीत कहते हैं।

इंद्रियातीत द्वंद्ववाद – 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' का एक महत्वपूर्ण भाग – अधिप्रायोगिक ज्ञान के अधिभूतवादी दावों का दोष सिद्ध करने को प्रत्यक्षत: समर्पित है। अधिभौतिकी के मौलिक विचार – मनोवैज्ञानिक, ब्रह्मांडवैज्ञानिक और धर्मशास्त्रीय विचार – वस्तुगत अंतर्वस्तु से रहित हैं तथा इंद्रियातीत सत्ताओं के अस्तित्व को परोक्ष रूप से भी सिद्ध नहीं कर सकते। बुद्धि केवल बौद्धिक धारणाओं का ही अध्ययन करती है,

जिनकी अंतर्वस्तु सिर्फ़ अनुभव से प्राप्त की जाती है। बौद्धिक धारणाओं का संश्लेषण करके बुद्धि उन्हें नयी, अधिप्रायोगिक अंतर्वस्तु से समृद्ध नहीं बनाती। इसी वजह से बुद्धि के अधिभूतवादी विचार मात्र ऐसे विचारों के अलावा और कुछ नहीं हैं, जो "प्रवर्गीय ढंग से अनुभूत संश्लेषित एकता को पूर्ण निरपेक्ष बनाने" (73,*3*,164) के बुद्धि के प्रयास को अभिव्यक्त करते हैं। अतः तात्विक आत्मा के विचार में चिंतन करनेवाले विषयी, ईश्वर के विचार की परम एकता – सामान्यतः चिंतन की सभी वस्तुओं से संबद्ध परिस्थितियों की निरपेक्ष एकता, आदि निहित है।

१७वीं सदी के अधिभूतवादियों ने **परासत्ताओं** को बुद्धि की अतींद्रिय संज्ञानात्मक क्षमता द्वारा अनुभूत इंद्रियातीत और मूलतः दिव्य सत्ताओं के रूप में माना। लेकिन कांट उन्हें शुद्ध (यानी अनुभव पर आधारित नहीं) बुद्धि के प्रागनुभविक विचारों के रूप में परिभाषित करते हैं। वह लिखते हैं: "लेकिन अंततः ऐसी परासत्ताओं की संभावना नहीं देखी जा सकती और दृश्यसत्ताओं के क्षेत्र के बाहर हमारे लिए सब कुछ खाली बना रहता है; दूसरे शब्दों में, हमारे पास परिघटनाओं के क्षेत्र से परे **समस्यात्मक ढंग से** विस्तारित बुद्धि है, परंतु हमारे पास ऐसा कोई अनुध्यान नहीं है, न ही हम ऐसे संभव अनुध्यान के बारे में कोई धारणा बना सकते हैं, जिसके द्वारा वस्तुएं हमें इंद्रियों के बाहर दी जा सकें... फलतः परासत्ता की धारणा केवल एक **सीमा-निर्धारक** धारणा है, जिसका प्रयोग ऐंद्रिय के दावों को सीमित करने के लिए किया जाता है और अतएव केवल नकारात्मक ढंग से ही प्रयोज्य है" (73,*3*,221)। लेकिन अगर परासत्ता की धारणा सकारात्मक अंतर्वस्तु से रहित है, तो यह अधिभौतिक यथार्थता के अस्तित्व की कल्पना को भी विवादास्पद बना देती है: "वस्तुओं का दृश्यसत्ताओं (phenomena) और परासत्ताओं में तथा संसार का इंद्रियग्राह्य और बुद्धिग्राह्य में विभाजन **सकारात्मक अर्थ** में अस्वीकार्य है" (73, *3*,221)।

अधिभौतिकी के विषय के रूप में इंद्रियातीत के समस्यात्मक स्वरूप का कांट का सिद्धांत उनके अज्ञेयवाद को गहन ढंग से समझना संभव बनाता है। जैसा कि विदित है, कांट के विचार में, दृश्यसत्ताओं के, प्रकृति-जगत् (अर्थात उस सब कुछ के, जो विज्ञानों का विषय है)

का संज्ञान अपरिमित है। केवल इंद्रियातीत ही असंज्ञेय है। इस अर्थ में, कांट के अज्ञेयवाद को अधिभूतवाद-विरोधी कहा जा सकता है (बेशक, अगर हम द्वंद्ववाद को नहीं, बल्कि अधिभौतिक यथार्थता को ध्यान में रखें)। फिर भी, इस चीज़ पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि कांट का अज्ञेयवाद वस्तुगत यथार्थता की द्वैधवृत्तिक व्याख्या तथा इससे निकलनेवाले आत्मगत-प्रत्ययवादी निष्कर्षों मे अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। कांट इंद्रियातीत, अधिभौतिक चीज़ों की अपनी धारणा की परिधि में उन सभी चीज़ों को शामिल करते हैं, जो वस्तुगत हैं, जो चेतना के बाहर और उससे स्वतंत्र हैं, जो संज्ञान के पहले विद्यमान होती हैं। अतः वह इस अधिभूतवाद-विरोधी दावे पर नहीं रुकते कि अधिभौतिक सत्ताओं, परासत्ताओं का अस्तित्व अप्रमाण्य है: वह भौतिक यानी उस चीज़ को, जो ज्ञान से परे और स्वतंत्र है, अधिभौतिक और इंद्रियातीत में परिवर्तित करते हैं। अतः उन चीज़ों को, जो हमारी इंद्रियों को प्रभावित करती हैं, अनुभूतियां पैदा करती हैं और इस तरह ज्ञान से पहले अस्तित्व रखती तथा उससे स्वतंत्र होती हैं, अतींद्रिय "निजरूप-वस्तुओं" के तौर पर पेश किया जाता है। लेकिन इस सूरत में, ज्ञान के लिए क्या सुलभ है? अगर "निजरूप-वस्तुओं" द्वारा पैदा की गयी अनुभूतियां उन वस्तुओं के बारे में न कोई ज्ञान और न ही इस ज्ञान के लिए कोई सामग्री प्रदान करती हैं, तो फिर कांट के अज्ञेयवाद की सीमा कहां होती है?

कांट अपने द्वारा प्रस्तुत समस्या का समाधान संज्ञानात्मक यथार्थता की व्याख्या आत्मगत ढंग से करके करने की कोशिश करते हैं, जिसे अनुभव के अंदर और उसके ज़रिये अस्तित्वमान बताया जाता है। वह दावा करते हैं कि "अनुभव के विषय **स्वतः-प्रदत्त कभी नहीं होते**: वे केवल अनुभव में होते हैं और इसके बाहर उनका अस्तित्व नहीं होता" (73,*3*,350) । अतः इंद्रियों द्वारा अनुभूत जगत् ज्ञान की एक परिघटना के रूप में केवल संज्ञान की प्रक्रिया में मूर्त रूप धारण करता हुआ प्रकट होता है। एक वस्तु के बारे में ज्ञान और स्वयं वस्तु को मूलतः अनन्य माना जाता है, क्योंकि "निजरूप-वस्तुओं को संज्ञान के क्षेत्र से निकाल दिया जाता है। यह सही है कि हमारी अनुभूतियों की अंतर्वस्तु चेतना से स्वतंत्र है, पर इंद्रियों द्वारा परिघटनाओं के रूप

में अनुभूत चीज़ें संश्लेषण की उपज हैं, जिसे बुद्धि की कल्पना की अचेतन उत्पादक शक्ति द्वारा इंद्रियातीत स्कीमों और प्रवर्गों के उपयोग से पूरा किया जाता है। कांट के अनुसार, "परिघटनाएं निजरूप-वस्तुएं नहीं, बल्कि केवल हमारी धारणाओं का खेल हैं, जो अंतिम विश्लेषण में आंतरिक अनुभूति की परिभाषाओं में रूपांतरित हो जाती हैं" (73,*3*,613)।

अतः "वस्तु-निजरूप" की कांट की धारणा की द्वयर्थकता प्रकृति की धारणा तथा संज्ञानात्मक प्रक्रिया की आत्मगतवादी विकृति की ओर ले जाती है। लेकिन इससे स्पष्टतः "वस्तु-निजरूप" की नवकांटवादी अस्वीकृति को उचित नहीं ठहराया जा सकता है। लेनिन के शब्दों में, "संसार-निजरूप एक ऐसा संसार है, जो **बिना हमारे** अस्तित्वमान है" (10,*14*,118)। लेनिन इंगित करते हैं कि कांट की ग़लती "वस्तु-निजरूप" के अस्तित्व की स्वीकृति में नहीं, बल्कि उसके इंद्रियातीत, अज्ञेय स्वरूप के दावे में है। लेनिन ज़ोर देते हैं कि दैनंदिन मानवीय अनुभव दिखाता है कि "वस्तु-निजरूप" ज्ञेय है, "क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने लाखों बार 'वस्तु-निजरूप' की परिघटना में, 'हमारे निमित्त वस्तु' में सरल और स्पष्ट रूपांतरण का प्रेक्षण किया है। वस्तुतः यही रूपांतरण संज्ञान है" (10,*14*,120)।

कांट के दर्शन की आत्मगत ढंग से व्याख्या करनेवाले उनके अनुयायी सामान्यतः "वस्तु-निजरूप" और परासत्ताओं को एकसमान मानते हैं। उदाहरणार्थ, 'दार्शनिक भाषा का शब्दकोश' में पॉल फ़ुल्के द्विभागीकरण "दृश्यसत्ताएं – परासत्ताएं" से आगे बढ़ते हुए दावा करते हैं कि "वस्तु-निजरूप" "परासत्ता" का समानार्थक है (53,483)। यही दृष्टिकोण डी० रन्स (94,215), बी० फ़ुलर (57,*2*,231) और आर० एस्लर (47,887) का भी है। लेकिन ये सभी विद्वान अपने को कांट की शब्दावली के विश्लेषण तक ही सीमित रखते हैं तथा "वस्तु-निजरूप" तथा परासत्ताओं के उनके सिद्धांत के सार का अध्ययन नहीं प्रस्तुत करते। इसके अलावा, वे कांट की शब्दावली की भ्रामकता का भी सहारा लेते हैं : वह अक्सर इन दो धारणाओं को बोधगम्य, "विचारणीय तत्व" (Verstandeswesen) की सामान्य धारणा में एकीकृत एकीकृत करते हैं (73,*3*,219)।

यह चीज़ कि कांट कभी-कभी "वस्तु-निजरूप" को परासत्ताओं की श्रेणी में रखते हैं सुविदित है, लेकिन साथ ही यह स्पष्ट किये जाने की भी अपेक्षा रखती है। कांट परासत्ताओं को "निजरूप-वस्तुओं" के तौर पर कभी नहीं मानते। उनके सिद्धांत के अनुसार, "वस्तु-निजरूप" शुद्ध बुद्धि का विचार नहीं है, यह इंद्रियातीत सौंदर्यशास्त्र यानी इंद्रिय-अनुभूति के सिद्धांत का मूलाधार है। "निजरूप-वस्तुएं" हमारी इंद्रियों को **प्रभावित** करती हैं। जहां तक परासत्ताओं का संबंध है, तो वे इंद्रिय-अनुभूतियों और सामान्यत: संज्ञान की प्रक्रिया से कोई वास्ता नहीं रखतीं।

ऊपर हम इस चीज़ के बारे में कांट के इन शब्दों को उद्धृत कर चुके हैं कि परासत्ताओं का अस्तित्व समस्यात्मक और अप्रमाण्य है। निजरूप-वस्तुएं और ही मामला हैं। कांट हमेशा ज़ोर देते हैं कि उनका अस्तित्व परिघटनाओं के जगत् के अस्तित्व से स्पष्ट है। वह इस दावे को निरर्थक बताते हैं कि "परिघटना उस चीज़ के बिना अस्तित्व रखती है, जो प्रकट होती है" (73,*3*,23)। **जो चीज़** प्रकट होती है, वह "वस्तु-निजरूप" है। कांट के विचार में, यह निष्कर्ष अनिवार्यत: "अनुभव के विषयों के रूप में वस्तुओं तथा निजरूप-वस्तुओं" (73,*3*,23) के बीच भेद का परिणाम है। फिर भी, यह बात समझ में नहीं आती कि क्यों "निजरूप-वस्तुएं" पूर्णत: अज्ञेय हैं अगर वे वास्तव में **प्रकट** होती हैं। लेकिन यह अंतर्विरोध "निजरूप-वस्तुओं" और परासत्ताओं के बीच भेद को ज़रा भी प्रभावित नहीं करता। ईश्वर, निरपेक्ष स्वतंत्र संकल्प, अनश्वर आत्मा – ये सभी परासत्ताएं हैं, जिन्हें कांट शुद्ध बुद्धि के **प्रत्यय** कहते हैं; इंद्रिय-अनुभूति पैदा करनेवाली "निजरूप-वस्तुएं" और ही मामला हैं। यह सही है कि 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' के दूसरे संस्करण की प्रस्तावना में कांट खेद के साथ घोषणा करते हैं कि "निजरूप-वस्तुओं" का अस्तित्व सैद्धांतिक रूप से अप्रमाण्य है, लेकिन उसी सांस में ज़ोर देते हैं कि वस्तुत: उनसे ही हम ज्ञान की सारी भौतिक सामग्री प्राप्त करते हैं। यहां तक कि अपनी आंतरिक अनुभूति के लिए भी" (73,*3*,30)। वह "निजरूप-वस्तुओं" के वस्तुगत स्व-रूप में संशयवादी संदेह का सैद्धांतिक रूप से खंडन करने की असंभवता को दर्शन का कलंक कहते हैं। लेकिन वह परासत्ताओं की वस्तुगत यथार्थ-

ता को सिद्ध करने के अधिभूतवादियों के प्रयासों का खंडन करते हैं। *Prolegomena* में, जिसमें कांट 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' का सुबोध विवरण प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं, वह लिखते हैं: "प्रत्ययवाद का सारतत्व यह दावा है कि केवल चिंतनशील सत्ताएं ही अस्तित्व रखती हैं और अन्य चीज़ें, जिन्हें, हमारे विचार में, हम अनुध्यान में अनुभूत करते हैं, मात्र चिंतनशील सत्ताओं के भीतर विद्यमान धारणाएं हैं, ऐसी धारणाएं जिनके अनुरूप उनके बाहर कोई भी चीज़ नहीं है। इसके विपरीत, मैं कहता हूं: हमें वस्तुएं हमारे बाहर अस्तित्व रखनेवाली हमारी इंद्रियों के विषयों के रूप में दी जाती हैं, लेकिन हम इसके बारे में कुछ भी नहीं जानते कि वे वस्तुत: क्या हैं, हम सिर्फ़ उनकी परिघटनाओं यानी उन बिंबों को जानते हैं, जो वे हममें हमारी इंद्रियों को प्रभावित करके पैदा करती हैं। अत: मैं स्वभावत: मानता हूं कि हमारे बाहर पिंडों यानी ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व है, जिनके सार के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते, लेकिन जिनके बारे में हम उन बिंबों के ज़रिये जानते हैं, जिन्हें हम अपनी इंद्रियों पर उनके प्रभाव के परिणामस्वरूप प्राप्त करते हैं और जिन्हें नाम भी देते हैं। ये नाम उन वस्तुओं की केवल परिघटनाओं को सूचित करते हैं, जो हमारे लिए अज्ञात पर वास्तविक हैं। इसे प्रत्ययवाद कैसे कहा जा सकता है? यह प्रत्ययवाद की पूर्ण प्रतिस्थापना है" (73,*4*,38-39) *।

---

* कभी-कभी कांट शब्द "वस्तु-निजरूप" की व्याख्या भिन्न ढंग से करते हैं और इसे मानव-बुद्धि (सामान्यत: संज्ञान के विषयी) पर लागू करते हैं, क्योंकि इसकी जांच इंद्रियानुभविक प्रयोग के बाहर की जाती है। इस दृष्टिकोण से, "स्वयं बुद्धि एक परिघटना नहीं है और यह ऐंद्रिकता की किसी भी परिस्थिति के अधीन नहीं है" (73,*3*,386)। यह 'सभी मानव-कार्यकलापों और समय की सभी परिस्थितियों में एक-सी विद्यमान रहती और बनी रहती है, परंतु स्वयं के अन्तर्गत नहीं है और, उदाहरणार्थ, एक ऐसी नयी स्थिति नहीं प्राप्त करती, जिसमें पहले इसने अपना अस्तित्व न रखा हो" (73,*3*,388)। स्पष्टत: इस सूरत में भी, कांट "वस्तु-निजरूप" और परासत्ता के बीच भेद करते हैं, जो केवल बुद्धि का एक विचार है और इसे न तो इंद्रियानुभविक

यह उद्धरण शुद्ध बुद्धि के प्रागनुभविक विचारों के रूप में परासत्ताओं और "निजरूप-वस्तुओं" के बीच भेद करने की कांट की इच्छा का प्रमाण है। वह "निजरूप-वस्तुओं" का वर्णन अक्षरशः ऐसी वस्तुओं के रूप में करते हैं, जो अपनी अज्ञेयता के बावजूद इंद्रिय-अनुभूतियों के "अनुरूप" विषय होती हैं। दृष्टतः इसका अर्थ यह है कि "हमारी अनुभूति के" विभिन्न "विषय" इंद्रिय-अनुभूतियों के बीच भेद के "अनुरूप" होते हैं। इन विषयों यानी "निजरूप-वस्तुओं" के बारे में कांट यह भी कहते हैं कि वे इंद्रिय-अनुभूतियों में विद्यमान होते हैं, प्रकट होते हैं: "हम केवल उनके आभास को जानते हैं"। तात्पर्य यह कि कांट "निजरूप-वस्तुओं" के अस्तित्व को एक सुस्पष्ट तथ्य के रूप में मानते हैं: हम इन चीज़ों के बारे में "उन धारणाओं के ज़रिये" जानते हैं, "जिन्हें हम अपनी इंद्रियों पर उनके प्रभाव के परिणामस्वरूप प्राप्त करते हैं"।

भौतिकवादी प्रवृत्तियों पर इस ज़ोर को एक शुद्धतः ऐसी विवादात्मक युक्ति मानना गलत होगा, जो कांट के गहन विश्वासों को नहीं प्रकट करती: उनके सिद्धांत के द्वैतवादी स्वरूप ने कभी बायें, कभी दायें ढुलमुलपन पैदा किया। "वस्तु-निजरूप" की धारणा की सहायता से कांट अपनी प्रणाली में आत्मगतवादी झुकावों को सीमित करने की कोशिश करते हैं। इसके साथ ही, आत्मगतवादी ज्ञानमीमांसा के सहारे वह वस्तुगत यथार्थता और इसकी असीमित ज्ञेयता की भौतिकवादी मान्यता के काल्पनिक जड़सूत्रवाद पर क़ाबू पाने की कोशिश करते हैं। यह सब "वस्तु-निजरूप" की कांट की व्याख्या के अंतर्विरोधों से स्पष्ट है।

नवकांटवादियों ने "निजरूप-वस्तुओं" को कांट के दर्शन से निकाल दिया है, पर परासत्ताओं के जगत् को बनाये रखा है। इस तरह, उन्होंने इन दो धारणाओं के बीच कांट द्वारा किये गये भेद को स्वीकार कर लिया है, चाहे यह परोक्ष रूप में ही क्यों न हो। फिर भी, वे इस भेद के भौतिकवादी निहितार्थ के बारे में मौन साध लेते हैं। अतर्क-

---

ढंग से लागू किया जा सकता है, न ही यह किसी रूप में परिघटनाओं के जगत् से संबद्ध है।

बुद्धिवादी लेव शेस्तोव, जो इस चीज़ को नहीं स्वीकार कर सकते कि कांट के लिए परासत्ताओं से भिन्न "निजरूप-वस्तुएं" वस्तुगत यथार्थता रखती हैं, इसका रोषपूर्वक उल्लेख करते हैं। शेस्तोव लिखते हैं: "यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है, जिसपर हम सभी लोगों ने काफ़ी विचार नहीं किया है। कांट बिल्कुल आरामपूर्वक, मैं तो यह भी कहूंगा कि आनंदपूर्वक, अपनी बुद्धि से ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की अनश्वरता और स्वतंत्र संकल्प की (यानी उन चीज़ों की, जिन्हें वह अधिभूतवाद का सारतत्व मानते हैं) 'अप्रमाण्यता' पर पहुंचे और माना कि नैतिकता पर आधारित विश्वास उनके लिए पूर्णतः काफ़ी होगा तथा वे सरल अभ्युपगम होने के अपने उद्देश्य को भली-भांति पूरा करेंगे, परंतु इस विचार से कि बाह्य चीज़ों की यथार्थता विश्वास पर आधारित हो सकती है, वह सचमुच भयभीत थे... ईश्वर, आत्मा की अनश्वरता तथा स्वतंत्रता को विश्वास और अभ्युपगमों से गुज़ारा क्यों करना चाहिए, जब कि Ding an sich को वैज्ञानिक प्रमाण मुक्तहस्त से प्रदान किये जाते हैं" (34,221-22)। यह वाग्मितापूर्ण प्रश्न स्पष्टतः बता देता है कि प्रत्ययवादियों के लिए कांट का दर्शन बिल्कुल अस्वीकार्य है।

अतींद्रिय पर प्रवर्गों (और आम तौर से सभी प्रागनुभविक रूपों) की अप्रयोज्यता के बारे में स्थापना कांट के सिद्धांत का एक मूल तत्व है। लेकिन वह न केवल अस्तित्व और कारणता के प्रवर्गों, बल्कि ऐसी दूसरी चीज़ों को भी "निजरूप-वस्तुओं" पर लागू करते हैं, जिनके महत्व, उनके अनुसार, परिघटनाओं के क्षेत्र तक ही सीमित है। कांट के दर्शन के सुप्रसिद्ध पश्चिम जर्मन विशेषज्ञ गोत्तफ़्रिद मार्तिन इस संबंध में लिखते हैं: "यह कहा जा सकता है कि कांट लगभग सभी प्रवर्गों, विशेष रूप से एकता, अनेकता, कारणता, सामान्यता, संभाव्यता, यथार्थता और आवश्यकता के प्रवर्गों को वस्तु-निजरूप पर लागू करते हैं" (86,227)। लेकिन यह परासत्ताओं के बारे में नहीं कहा जा सकता, जिनपर कांट प्रवर्ग लागू नहीं करते और इस तरह इंद्रियगत तथ्यों से उनके संबंध को नामंज़ूर करते हैं।

प्रतीत हो सकता है कि "निजरूप-वस्तुओं" और परासत्ताओं के बीच भेद मुख्यतः 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' के लिए लाक्षणिक है न

कि 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' में प्रतिपादित कांट के नैतिक सिद्धांत के लिए, जो कुछ हद तक पहली 'आलोचना' का खंडन करती है। लेकिन कांट के नीतिशास्त्र का विश्लेषण इस विचार का खंडन करता है (जैसा कि यह नीचे सिद्ध हो जायेगा) तथा सैद्धांतिक बुद्धि के उनके सिद्धांत से निकाले गये निष्कर्षों को पुष्ट करता है। कांट के नीतिशास्त्र में परासत्ताओं की परिभाषा व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगम के रूप में की जाती है। इसका अर्थ यह है कि निरपेक्ष स्वतंत्र संकल्प, व्यक्तिगत अनश्वरता और ईश्वर के अस्तित्व के बारे में दावा तथ्यात्मक और सैद्धांतिक रूप से निराधार है। यहां ज़ोर दिया जाना चाहिए कि कांट "निजरूप-वस्तुओं" को व्यवहारिक बुद्धि के अभ्युपगम नहीं मानते। नैतिक बुद्धि का उनसे कोई संबंध नहीं है। कांट दावा करते हैं कि चेतना केवल वहीं तक नैतिक है, जहां तक यह "निजरूप-वस्तुओं" से प्रभावित नहीं होती यानी बाह्य रूप से निर्धारित नहीं होती। अतः सैद्धांतिक बुद्धि के सिद्धांत में अस्थायी रूप से प्रस्तुत "निजरूप-वस्तुओं" और परासत्ताओं के बीच भेद कांट के नीतिशास्त्र में आमूल विरोध बन जाता है। व्यावहारिक बुद्धि क़तई संज्ञान नहीं करती। इसके विचार केवल नैतिक आत्मचेतना व्यक्त करते हैं। अतः कांट के विचार में, "उन विचारों की यथार्थता की बात तो दूर, हम उनकी संभावना के **संज्ञान** व **अभिज्ञान** का भी दावा नहीं कर सकते" (73,5,4)।

धर्मशास्त्र का विरोध करते हुए कांट सिद्ध करते हैं कि धर्म नैतिकता का आधार नहीं, बल्कि नैतिकता धर्म का स्रोत है। बेशक, यह प्रत्ययवादी दृष्टिकोण है, लेकिन इसकी धर्म-विरोधी प्रवृत्ति सुस्पष्ट है। अतः व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगम नैतिक चेतना की पूर्वशर्तें नहीं, बल्कि इसके आवश्यक विश्वास हैं, जो प्रतिफल के निरपेक्ष नियोग के बारे में विश्वासों से मेल खाते हैं। लेकिन ये विश्वास वास्तविक संसार में वास्तविक तथ्यों से मेल नहीं खाते। तो भी, नैतिक चेतना केवल वहीं तक ऐसी रहती है, जहां तक इसे विश्वास होता है कि न्याय देश और काल में कोई सीमा नहीं जानता। कांट के अनुसार, "मृत्योपरांत जीवन में विश्वास न्याय द्वारा मनुष्य पर थोपे जानेवाले प्रतिफल को सिद्ध करने का पूर्वाधार नहीं है, उल्टे यह है कि मृत्योपरांत जीवन

के बारे में निष्कर्ष दंड की आवश्यकता से निगमित किया जाता है" (73,7,306) ।

कांट वस्तुतः दावा करते हैं कि संसार को अन्याय से मुक्त करने की अनिवार्य असफलता नैतिक चेतना को दिव्य निर्णय को स्वीकार करने के लिए विवश करती है। और चूंकि नैतिकता मूलतः आंतरिक नियम की अनन्य स्वीकृति है, इसलिए धर्मशास्त्रीय अभ्युपगम कर्त्तव्य और वास्तविकता के बीच अंतर्विरोध प्रकट करते हैं। कांट के नीतिशास्त्र में ईश्वर अनिवार्यतः शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि द्वारा कल्पित एक अनंत कर्त्तव्य है। व० फ० आस्मुस ठीक ही कहते हैं: "...कांट धर्म की अलौकिक अंतर्वस्तु के **वास्तविक सत्तामीमांसीय** महत्व से पूर्णतः इन्कार करते हैं... ईश्वर की धारणा धारणाओं और उनके लक्षणों के संबंधों में नहीं, बल्कि **अंतःकरण** के गहराई में बुराई, संसार में विद्यमान नैतिक कलह, सामाजिक बुराई से समझौता करने की मनुष्य की अक्षमता में निहित है" (14.443) ।

शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगमों के बीच से कांट स्वतंत्र संकल्प को नैतिकता की एक परम (और इस अर्थ में प्रारंभिक) शर्त के रूप में अलग करते हैं, जिसका स्वयं अस्तित्व इस स्वतंत्र संकल्प के अस्तित्व का प्रमाण है। लेकिन इसका संबंध केवल एक प्रागनुभविक विचार के रूप में कल्पनीय परमसत्ता या तथाकथित सत्तामीमांसीय, आद्य स्वतंत्रता से नहीं, बल्कि सापेक्ष स्वतंत्रता से है, जो नैतिकता की संभावना को स्पष्ट करने में पूर्णतः पर्याप्त है। कांट के शब्दों में, "**स्वतंत्रता व्यावहारिक अर्थ में** इंद्रिय-अनुभूति के आवेगों की बाध्यता से संकल्प (Willkür) की स्वतंत्रता है (73.3.375)। कांट की स्वतंत्रता की यह परिभाषा मूलतः स्पिनोज़ा तथा अन्य पूर्वमार्क्सवादी भौतिकवादियों की परिभाषाओं से मिलती-जुलती है, जिन्होंने स्वतंत्रता को अनुभावों पर बुद्धि के प्रभुत्व के रूप में समझा। और हालांकि कांट की राय में व्यावहारिक स्वतंत्रता इंद्रियातीत स्वतंत्रता के विचार से उत्पन्न होती है, वह इंद्रियजन्य आवेगों से संकल्प की सापेक्ष स्वतंत्रता की व्याख्या इंद्रियानुभविक रूप से प्रमाणित तथ्य के रूप में करते हैं जो ऐसे संकल्पनों के लिए एक पर्याप्त आधार बनाता है, जो विषयी

पर निर्भर होते हैं और परिणामों के लिए उनकी ज़िम्मेदारी निर्धारित करते हैं।

तब अन्य परासत्ताओं, व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगमों के बीच इंद्रियातीत स्वतंत्रता के विचार का क्या स्थान है? जैसा कि विदित है, धर्मशास्त्र दावा करता है कि परम स्वतंत्र संकल्प वस्तुओं की स्वाभाविक व्यवस्था से मेल नहीं खाता यानी यह प्रत्यक्ष दिव्य पूर्वनिर्धारण का मामला है। यहां भी कांट वस्तुत: धर्मशास्त्र-विरोधी स्थिति रखते हैं: वह दावा करते हैं कि ईश्वर और व्यक्तिगत अनश्वरता की धारणाएं स्वतंत्रता की धारणा से पैदा होती हैं। यहां कांट किसी भी दूसरे प्रश्न से अधिक दृढ़ हैं: "चूंकि स्वतंत्रता की धारणा की यथार्थता व्यावहारिक बुद्धि के एक निश्चित अकाट्य नियम द्वारा सिद्ध हो जाती है, इसलिए यह धारणा शुद्ध, यहां तक कि परिकल्पनात्मक बुद्धि की प्रणाली के संपूर्ण भवन की भी **आधारशिला** (Schlusstein) है और सभी अन्य धारणाएं (ईश्वर और अनश्वरता के बारे में), जो मात्र विचार होते हुए इस प्रणाली पर आधारित नहीं होतीं, इसमें तथा इसके साथ जुड़ जाती हैं तथा इसकी वजह से वे दृढ़ता और वस्तुगत यथार्थता प्राप्त कर लेती हैं अर्थात **उनकी संभावना** इस चीज़ से **सिद्ध होती है** कि स्वतंत्रता वास्तविक है, क्योंकि यह विचार स्वयं नैतिक नियम में व्यक्त होता है। लेकिन स्वतंत्रता परिकल्पनात्मक बुद्धि का एकमात्र विचार है, जिसकी संभावना को चाहे हम नहीं समझते पर a priori जानते हैं, क्योंकि यह उस नैतिक नियम की एक शर्त है, जो हमें ज्ञात है। लेकिन **ईश्वर** और **अनश्वरता** की धारणाएं नैतिक नियम की शर्तें नहीं, बल्कि इस नियम द्वारा निर्धारित संकल्प के आवश्यक विषय की शर्तें हैं" (73,5,3-4)।

संभवत: कांट की कृतियों में दूसरा उद्धरण मुश्किल से ही मिलेगा, जिसमें कांट व्यावहारिक बुद्धि के विचारों के परस्पर-संबंधों की अपनी व्याख्या इतने स्पष्ट और खुले ढंग से करते हों। कांट की प्रणाली में नैतिक नियम झूठ बोलने की मनाही करता है, लेकिन जहां आवश्यक हो, मौन-आकृति की अनुमति देता है, जिसका कांट ने अक्सर सहारा लिया, क्योंकि उनके "शुद्ध बुद्धि की सीमाओं में धर्म" की सरकारी तौर से निंदा की गयी। अत: कांट दावा करते हैं कि स्वतंतत्रता के

विचार (वस्तुतः स्वतंत्रता) को ईश्वर तथा अनश्वरता के विचारों के पूर्ववर्ती और जन्मदाता के अर्थ में लिया जाना चाहिए।

इस तरह, एक ओर, नैतिकता के अस्तित्व द्वारा प्रमाणित स्वतंत्रता का तथ्य है और दूसरी ओर, धर्मशास्त्रीय विचार, जिन्हें नैतिक तथा मूलतः स्वतंत्र चेतना के विश्वासों के रूप में ही समझा जा सकता है। कांट दावा करते हैं कि केवल व्यावहारिक बुद्धि ही "स्वतंत्रता की धारणा के ज़रिये ईश्वर और अनश्वरता के विचारों को वस्तुगत यथार्थता और अधिकार और, इससे भी अधिक, उनकी कल्पना करने के लिए आत्मगत आवश्यकता (शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता) प्रदान करती है" (73,*5*,4-5) ।

ग़लतफ़हमी से बचने के लिए तत्काल उल्लेख किया जाना चाहिए कि कांट शब्द "वस्तुगत यथार्थता" का उपयोग संज्ञान से स्वतंत्र यथार्थता को निर्दिष्ट करने के लिए नहीं, बल्कि बुद्धि के विचारों (और सामान्यतः संज्ञान के रूपों) की परिभाषा के लिए करते हैं, जो उनके आवश्यक सार्विक महत्व को व्यक्त करती है। ईश्वर और अनश्वरता की धारणाओं को, जो कांट के अनुसार, ज्ञान की सामग्री से नहीं निगमित की जातीं और जो व्यावहारिक बुद्धि के तथाकथित **गौण** अभ्युपगम बनाती हैं, नैतिक नियम के कार्यान्वयन के लिए निदेशित व्यावहारिक बुद्धि की स्वतंत्रता के परिणाम के रूप में उसकी आत्मगत आवश्यकता से ही स्पष्ट किया जा सकता है। इसलिए ये विचार मनमाने नहीं हैं। मनुष्य ईश्वर और अनश्वरता के विचारों की रचना मनमाने ढंग से नहीं, बल्कि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करता है, जो मनमानी कदापि नहीं हैं। इस विचार को बाद में फ़ायरबाख़ ने स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया: बाह्य जगत् के सामने अपनी लाचारी को समझते हुए तथा प्रकृति के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में कम से कम भ्रामक समर्थन की खोज करते हुए मनुष्य सर्वशक्तिमान् के विचार का सृजन करता है। लेकिन फ़ायरबाख़ अनीश्वरवादी थे, जबकि कांट "शुद्ध बुद्धि की सीमाओं" में धार्मिक थे। कांट के धर्म का दर्शन दावा करता है: "ईश्वर के अस्तित्व का सिद्धांत कोरा मतवादी विश्वास है" (73,*3*, 553) । इस तरह का विश्वास अनिवार्यतः सीमित होता है, क्योंकि यह शुद्ध बुद्धि की आलोचना यानी बुद्धि की आत्म-आलोचना का खंडन

करता है, जिसके अनुसार "हमारे चिंतन के विषयों के क्षेत्र को हमारी इन्द्रियगतता की परिस्थितियों की सीमाओं से आगे सकारात्मक ढंग से विस्तारित करना और परिघटनाओं के अलावा शुद्ध चिंतन के विषयों का भी अस्तित्व मान लेना" अस्वीकार्य है (73,*3*,240)। इस मूल स्थापना को धर्म पर लागू करते हुए कांट घोषणा करते हैं: "...मैं यह भी नहीं कह सकता: **यह नैतिक रूप से निश्चित है** कि ईश्वर का अस्तित्व है, आदि; मैं केवल यह कह सकता हूं: **नैतिक रूप से मैं निश्चित हूं**, आदि" (73,*3*,555)। बेशक, कांट का धर्म का दर्शन अनीश्वरवाद नहीं है, लेकिन इसने नव-युग में अनीश्वरवाद के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

अतः "वस्तु-निजरूप" की कांट की धारणा परासत्ता की धारणा की विरोधी है, बावजूद इसके कि "वस्तु-निजरूप" की व्याख्या देश और काल के बाहर अस्तित्व रखनेवाली किसी चीज़ के रूप में की जाती है और जो असल में, शब्द के सामान्य अर्थ में, वस्तु नहीं है, क्योंकि वस्तु देश की दृष्टि से निश्चित तथा इंद्रियों द्वारा बोधगम्य होने के कारण एक परिघटना है। इन परस्पर-अपवर्जक धारणाओं – "वस्तु-निजरूप" और परासत्ता – के बीच संबंध भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद के बीच उस अंतर्विरोध को प्रकट करता है, जिसपर क़ाबू पाने का प्रयास दार्शनिक कांट ने किया है। इस विभेद की मुख्यतः शब्दावली-संबंधी अस्पष्टता ही कांट के अनेक टीकाकारों को "वस्तु-निजरूप" को परासत्ता में बदलने का आधार प्रदान करती है। धारणाओं का यह उलझाव तथा कांट के दर्शन की सीमाओं में निहित विभेद को धुंधला बनाना इस दर्शन की भौतिकवादी प्रवृत्ति का निषेध करना है।

"वस्तु-निजरूप" की भौतिकवादी धारणा, जो जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, कांट के लिए परायी नहीं है, अपनी परिधि में संपूर्ण यथार्थ को शामिल करती है, क्योंकि यह संज्ञान की प्रक्रिया का ध्यान किये बिना अस्तित्व रखती है। इस धारणा का संबंध केवल अनुभूतियां पैदा करनेवाली अलग-अलग वस्तुओं से नहीं, बल्कि ऐसे विषयों की असीम बहुलता से है, जो संज्ञान करनेवाले विषयी से अनिवार्य रूप से संबंधित न हों। यह एक समस्या है और बेशक केवल कांट के लिए ही नहीं। कांट ने इस तथ्य को दर्ज किया है कि संज्ञान

करनेवाले विषयी से स्वतंत्र विषय कम से कम प्रत्यक्षत: उसके सैद्धांतिक विचारों को नहीं निर्धारित करते। सैद्धांतिक विचारों का क्रमविकास न केवल ज्ञान के विषय द्वारा, बल्कि परिघटनाओं के अतुलनीय रूप से अधिक जटिल परस्पर-संबंधों – प्राकृतिक और सामाजिक, वस्तुगत और आत्मगत, शारीरिक और मानसिक – द्वारा भी प्रभावित होता है। अत: कांट की ग़लती परिघटनाओं और "निजरूप-वस्तुओं" के बीच भेद करने में नहीं, बल्कि उन्हें एक दूसरे के मुक़ाबले में रखने में है।

"वस्तु-निजरूप" की तर्कसंगत परिभाषा देने में असफल होने के लिए कांट को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उनके मामले में ऐसी परिभाषा उस समस्या से पलायन होती, जिसे कांट ने पेश करने तथा उसकी सभी जटिलताओं को हल करने की कोशिश की। "वस्तु-निज-रूप" की औपचारिक रूप से व्याख्या करने के सारे प्रयास निराधार हैं। वास्तविक, असीमित रूप से विविध वस्तुओं की परिभाषा सिर्फ़ वहीं तक अर्थपूर्ण है, जहां तक यह उनकी अनेकानेक अमूर्त, और इसलिए एकतरफ़ा परिभाषाओं को एकीकृत करती है। लेकिन वस्तुगत रूप से अस्तित्वमान चीज़ों की इस विविधता को कैसे परिभाषित किया जाये, जो एक बड़ी (संभवत: अत्यधिक) हद तक अब भी ज्ञान का विषय नहीं है?

इस प्रकार, कांट की "वस्तु-निजरूप" की धारणा का विप्रतिषेध उनके द्वारा प्रस्तुत समस्या के पंचमेल स्वरूप को प्रकट करता है। अत: हमें एक धारणा के रूप में "वस्तु-निजरूप" के विप्रतिषेध का ही नहीं, वल्कि स्वयं संज्ञान की प्रक्रिया के अंतर्विरोधों का भी ज़िक्र करना चाहिए, जिन्हें कुछ हद तक कांट प्रकट करते हैं। इसके अलावा, हमें प्रकटत: स्वयं वस्तुगत यथार्थता के अंतर्विरोधों का भी उल्लेख करना चाहिए। उदाहरणार्थ, आभास और सारतत्व, सारतत्व और परिघटनाओं के बीच विरोध आम तौर पर संज्ञान से स्वतंत्र रूप से विद्यमान है। और अगर कांट "वस्तु-निजरूप" के विभिन्न अर्थों के बीच पर्याप्त भेद नहीं करते, तो यह स्पष्टत: इस वजह से है कि यह भेद करने का कार्यभार सबसे पहले वस्तुत: उनके ही दर्शन में प्रस्तुत होता है। समस्या की जटिलता को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष

पर पहुंचे बिना नहीं रहा जा सकता कि कांट के "वस्तु-निजरूप" के सिद्धांत के विश्लेषण में सामान्यत: जिस असंगतता पर ज़ोर दिया जाता है, वह समस्या के वास्तविक समाधान के लिए उद्देश्यपूर्ण खोज का विपरीत पहलू है। यह खोज सतही बुद्धि को संतुष्ट करनेवाला भ्रामक समाधान प्राप्त करने के लिए प्रश्न के सरलीकरण से लेशमात्र मेल नहीं खाती। कांट के दर्शन की प्रत्ययवादी व्याख्या के विपरीत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कांट द्वारा पेश की गयी समस्या की उसके ऐतिहासिक विकास की समग्रता में व्याख्या और समाधान करता है।

जोहान गोत्तलिब फ़िख़्ते का द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद

द्वंद्ववाद के सिद्धांत और **द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र** के आविर्भाव के बहुत पहले ही द्वंद्ववाद अस्तित्व में आ चुका था। लेकिन सैद्धांतिक रूप से प्रमाणित प्रस्थापनाओं की एक प्रणाली के रूप में विकास का सिद्धांत, जो संज्ञान का एक सिद्धांत तथा चिंतन की अधिभूतवादी प्रणाली के साथ सुविचारित ढंग से विरोध दर्शानेवाली एक विधि भी है, द्वंद्ववाद केवल क्लासिकीय जर्मन दर्शन में ही प्रकट होता है। देकार्त, स्पिनोज़ा, लीबनिज़, दिदेरो और रूसो तक में, जो मेधावी द्वंद्वात्मक अंतर्दृष्टियों से संपन्न थे, हमें द्वंद्ववाद का सिद्धांत नहीं मिलता।

इमैनुएल कांट ने सैद्धांतिक संज्ञान के उच्चतम स्तर पर अंतर्विरोधों की अनिवार्यता के बारे में एक सिद्धांत तैयार किया। कांट का इंद्रियातीत द्वंद्ववाद शुद्ध बुद्धि की अपरिहार्य ग़लतियों का सिद्धांत है, जो अपनी प्रकृति के अनुसार, अनुभव तथा सहजबुद्धि की अनिवार्य सीमाओं के ऊपर उठने की कोशिश करती है। कांट के "इंद्रियातीत तर्क" का आकारगत तर्क से मुक़ाबला निस्संदेह द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की रचना करने की समस्या पेश करता है। कांट ने इंगित किया कि आकारगत तर्कशास्त्र अपने को सभी अंतर्वस्तुओं से पृथक कर लेता है और केवल चिंतन के शुद्ध रूपों की जांच करता है। अतः चिंतन के वे रूप, जो अपनी सार्विकता के अंतर्गत निश्चित अंतर्वस्तु से संपन्न होते हैं (ख़ास तौर से, सभी प्रवर्ग ऐसे होते हैं), आकारगत तर्कशास्त्र से बाहर रहते हैं। आकारगत तर्कशास्त्र आवश्यक और सांयोगिक में, संभव और वास्तविक में तथा अन्य प्रवर्गों यानी चिंतन के ऐसे रूपों में दिलचस्पी नहीं लेता, जो चिंतन का ध्यान किये बिना सार्विकता के अस्तित्वमान रूपों को प्रतिबिंबित करते हैं। कांट के अनुसार, तर्कशास्त्र न केवल चिंतन के आत्मगत रूपों, बल्कि स्वयं परिघटनाओं में निहित सार्विकता

के रूपों का भी अध्ययन करता है। "इस मामले में, एक ऐसा तर्कशास्त्र होना चाहिए, जो अपने को संज्ञान की किसी भी अंतर्वस्तु से पृथक् न करता हो" (73,3,83) । परिघटनाओं के जगत् की आत्मगतवादी व्याख्या के बावजूद यह स्पष्टतः एक नये, द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की आवश्यकता को स्वीकार करता है। इस तर्कशास्त्र को विषयों के बारे में हमारे ज्ञान के स्रोत का पता लगाना चाहिए, क्योंकि यह ज्ञान सार्विक और आवश्यक या (जो कांट की दृष्टि में एक ही बात है) वस्तुगत स्वरूप का है।

इंद्रियातीत तर्कशास्त्र चिंतन के प्रागनुभविक रूपों और इन्हें इंद्रियगत तथ्यों पर लागू करने के बारे में सिद्धांत है। ये प्रागनुभविक रूप संज्ञान के प्रवर्गीय रूपों की सार्विकता तथा आवश्यकता की प्रत्ययवादी और अज्ञेयवादी ढंग से की गयी व्याख्या हैं। अतः इंद्रियातीत तर्कशास्त्र कुछ हद तक द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की समस्याओं की पूर्वकल्पना करता है। हम "कुछ हद तक" कहते हैं, क्योंकि कांट **प्रवर्गों के विकास** को जांच से बाहर कर देते हैं क्योंकि वह उन्हें चिंतन तथा सामान्यतः अनुभव के अपरिवर्तनीय संरचनात्मक रूपों के तौर पर मानते हैं। परंतु द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र (और आम तौर से द्वंद्ववाद) चिंतन में निहित सार्विकता के रूपों के विकास की जांच करता है। इस प्रकार, कांट, जिन्होंने द्वंद्ववाद के इतिहास में असाधारण भूमिका अदा की और जो द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद के प्रवर्तक बन गये, सही अर्थ में द्वंद्वात्मक प्रत्ययवादी नहीं थे।

कांट के एक सीधे अनुयायी जोहान गोत्तलिब फ़िख़्ते द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद के पहले प्रतिनिधि थे। जैसा कि मार्क्स इंगित करते हैं, प्रत्ययवादी ढंग से प्रतिपादित स्पिनोज़ा के मूलतत्व के साथ परम विषयी की फ़िख़्ते की धारणा हेगेल के दर्शन का अंग बनी। हेगेल की यह स्थापना कि मूलतत्व को विषयी भी समझा जाना चाहिए (कि यह एक **विकासमान मूलतत्व** के रूप में विषयी बन जाता है), फ़िख़्ते के दर्शन में अप्रत्यक्ष रूप से पहले ही विद्यमान है।

द्वंद्वात्मक प्रत्ययवादी फ़िख़्ते अपने द्वंद्ववादी पूर्ववर्तियों से मूलतः भिन्न हैं। दर्शन के इतिहास में पहली बार उन्होंने अनुसंधान की एक विधि, विकास के सिद्धांत, वैज्ञानिक ज्ञान के प्रवर्गों की प्रणाली और

दार्शनिक विज्ञान के रूप में द्वंद्ववाद का सचेत ढंग से विकास किया।

मार्क्स ने कांट के दर्शन को फ़्रांसीसी क्रांति का जर्मन सिद्धांत कहा (1,*1*,206) । यह परिभाषा फ़िख़्ते के सिद्धांत पर भी लागू होती है: उनके द्वंद्ववाद को इस क्रांति की दार्शनिक व्याख्या और सचेत अभिव्यक्ति के रूप में ही सही ढंग से समझा जा सकता है। मान्फ़ेद बूर ठीक ही कहते हैं कि "फ़िख़्ते की पहली कृतियां... फ़्रांस में क्रांति की खुली, साहसी और भावुक स्वीकृति तथा आम तौर से सरकारों का तख़्ता उलटने के अधिकार की मान्यता हैं" (41,43) । क़ानून तथा नीतिशास्त्र के दर्शन पर उनकी बाद की कृतियां राष्ट्रीय कन्वेंशन के दौरान फ़्रांसीसी क्रांति द्वारा प्रस्तुत राजकीय, क़ानूनी और सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण को समर्पित हैं। फ़िख़्ते ने अपने को फ़्रांसीसी बुर्जुआ क्रांतिकारियों का एक तरफ़दार माना। जब जुझारू प्रतिक्रियावादी फ़िख़्ते को येना विश्वविद्यालय से हटाने में सफल हो गये, तो उन्होंने लिखा: "इस कार्रवाई का प्रेरक कारण साफ़ है; यह सुस्पष्ट है, भले ही कोई नाम लेकर इसे पुकारना न चाहे... उनके लिए मैं एक जनवादी, जैकोबिन हूं; यही तो असल बात है" (49,*5*,286) ।

फ़िख़्ते सामंती प्रणाली और उसकी विचारधारा के खुले और कट्टर विरोधी थे, जिनका जर्मन राज्यों में बोलबाला था। केवल धार्मिक ही नहीं, बल्कि धर्म-निरपेक्ष इस विचारधारा ने विद्यमान व्यवस्था को युग-युगों पुराने इतिहास, परंपराओं और प्रथाओं द्वारा उचित ठहराते हुए अलंघनीय, स्वाभाविक व्यवस्था के रूप में पावन बनाया। सामाजिक श्रेणियों में विभाजन, सामंतों के विशेषाधिकार, जनता का उत्पीड़न और ग़रीबी, शाही परिवार के नेतृत्व में अभिजात वर्ग का अत्याचार और ऐयाशी – यह सब मानव-स्वभाव और दिव्य-बुद्धि के अनुरूप घोषित किया गया। आज्ञाकारिता और विनम्रता को उच्चतम गुण माना गया। विद्यमान व्यवस्था बदली जा सकती है या बदली जानी चाहिए, ऐसे किसी भी विचार को अपवित्रीकरण माना जाता था। लेकिन महान फ़्रांसीसी क्रांति ने सामंती प्रणाली को नष्ट कर दिया और इसकी साख समाप्त कर दी। फ़िख़्ते ने इस क्रांति का स्वागत केवल फ़्रांसीसी इतिहास की एक असाधारण घटना और अनुसरण किये

जानेवाले एक उदाहरण के रूप में ही नहीं किया। इसे उन्होंने विश्व-इतिहास के एक नियम की अभिव्यक्ति के रूप में देखा, एक ऐसा नियम, जिसे पहले लोग समझने में असमर्थ थे और जो इस वजह से उनके **सचेत** कार्य का सारतत्व नहीं बन सका था। लेकिन वस्तुतः यह कार्य ही है, जो मनुष्य तथा विश्व-इतिहास का सारतत्व बनाता है। और यदि मनुष्य के हितों और कल्याण के विपरीत कोई चीज़ अस्तित्व रखती है, तो इसका अर्थ यह है कि वह अपनी कार्य की निर्णायक भूमिका को पर्याप्त ढंग से नहीं समझता। फ़िख़्ते के शब्दों में, "संपूर्ण विश्व-इतिहास में हमें ऐसी कोई भी चीज़ नहीं मिलती, जिसे स्वयं हमने पहले इसमें न रखा हो" (49,6,39)। दूसरे शब्दों में, स्वयं लोग अपने ऐतिहासिक नाटक के लेखक हैं। इस निष्कर्ष पर फ़िख़्ते 'फ़्रांसीसी क्रांति के बारे में जनता की राय के संशोधन में योगदान' शीर्षक अपने लेख में पहुंचे। इसी लेख में उन्होंने लिखा: "**कोई भी ऐसी राजकीय प्रणाली नहीं है, जो** परिवर्तन **के अधीन न हो**, उनकी प्रकृति ही ऐसी है कि वे बदल जाती हैं। यदि राजकीय प्रणाली बुरी और राज्य के आवश्यक अंतिम उद्देश्य की विरोधी है, तो इसे बदल डालना चाहिए; यदि यह अच्छी और इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक है, तो यह स्वयं बदल जाती है" (49,6,103)। फ़िख़्ते का यह वक्तव्य परिवर्तन के **सार्विक तथा आवश्यक** स्वरूप की अपनी स्वीकृति में विशेष रूप मूल्यवान है। **किसी भी परिस्थिति में,** न कि जब मनुष्य असंतुष्ट हो, परिवर्तन होकर ही रहेगा; परिवर्तन सार्विक नियम है।

यह विचार कि स्वयं लोग अपने इतिहास का निर्माण करते हैं, सामंत-विरोधी सामाजिक आंदोलन के सैद्धांतिक सामान्यीकरण के रूप में बुर्जुआ प्रबोधन के युग में उत्पन्न हुआ था। फिर भी, यह विश्वास, जिसकी सत्यता को पुरोहितवाद के सभी विरोधियों ने स्वतः स्पष्ट माना, प्रबोधकों के दूसरे, उतने ही महत्वपूर्ण विश्वासों से मेल नहीं खा सका। उन्होंने यह सिद्ध करते हुए कि लोगों का जीवन, एक ओर, उनके बाह्य प्राकृतिक वातावरण द्वारा और दूसरी ओर, उनकी आंतरिक प्रकृति द्वारा निर्धारित होता है, समाज की प्रकृतिवादी व्याख्या पेश की। लेकिन न तो बाह्य प्राकृतिक वातावरण, न ही मानव-प्रकृति लोगों पर

निर्भर करते हैं। इस सूरत में, इस विश्वास का क्या आधार है कि स्वयं लोग अपने इतिहास का निर्माण करते हैं?

बुर्जुआ प्रबोधन ने इस विप्रतिषेध को कभी नहीं सूत्रित किया। यह सही है कि कभी-कभी स्वतंत्र संकल्प तथा आवश्यकता के बारे में प्रश्न के संबंध में प्रबोधकों ने इस अंतर्विरोध को टटोला। उदाहरण के तौर पर, यद्यपि १८वीं सदी के फ़्रांसीसी भौतिकवादियों ने आवश्यकता की भाग्यवादी व्याख्या पेश की, तथापि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वयं लोग अपने इतिहास का निर्माण करते हैं। यह निष्कर्ष प्रत्यक्षतः उनके अनीश्वरवादी विश्व-दृष्टिकोण से निकला था।

फ़िख़्ते मानव-इतिहास की प्रकृतिवादी व्याख्या के अंतर्विरोधों के प्रति गहन रूप से सचेत हैं। कांट ने इन अंतर्विरोधों को पहले ही दिखा दिया था, लेकिन उन्होंने उन्हें मूलतः अलंघनीय माना, क्योंकि स्वतंत्रता "निजरूप-वस्तुओं" के जगत् से संबंध रखती है, जब कि आवश्यकता परिघटनाओं के जगत् से। फ़िख़्ते इस द्वैतवादी पूर्वाधार से इन्कार करते हैं और सिद्ध करते हैं कि स्वतंत्रता और आवश्यकता के बीच अंतर्विरोध को हल किया जा सकता है।

एक इंद्रियानुभविक अभिकर्त्ता के रूप में मनुष्य प्राकृतिक नियमों के पूर्णतः अधीन है। "स्वयं मैं और वह सब कुछ, जिसे मैं अपना कहता हूं – अलंघनीय प्राकृतिक आवश्यकता की इस शृंखला की एक कड़ी है" (52,*3*,15)। मनुष्य के मानसिक कार्यकलाप और उसकी शारीरिक सत्ता आवश्यक रूप से ऐसी शक्तियों द्वारा प्रतिबंधित होते हैं, जिनपर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। "वह सब कुछ, जो प्रकृति में अस्तित्व रखता है, आवश्यक रूप से वैसा ही है, जैसा कि वह अस्तित्व रखता है और यह बिल्कुल असंभव है कि वह भिन्न हो" (52,*3*,10)। फ़िख़्ते के अनुसार, मानव-जीवन के हर क्षण को, सब चीज़ों से हर चीज़ के सार्विक संबंधों को पूर्वनिर्धारित करनेवाली अनंत कारणता का अर्थ यह है कि एक इंद्रियानुभविक विषयी का अस्तित्व किसी भी सांयोगिक घटना पर, उदाहरणार्थ, समुद्र-तट पर रेत के एक कण की स्थिति पर निर्भर करता है। अतः मेरा "अहम्" मेरी अपनी सृष्टि नहीं है। "असंभव है कि मेरे स्थान पर कोई दूसरा अस्तित्व ग्रहण करे, असंभव है कि पहले ही अस्तित्व ग्रहण करके मैं

अपने अस्तित्व के किसी क्षण में उस चीज़ से भिन्न होऊं, जो मैं यथार्थता में हूं" (52,*3*,15) । लेकिन अगर यह बात है, तो इसका अर्थ यह है कि आम तौर से कोई भी "अहम्", कोई भी व्यक्तित्व अस्तित्व नहीं रखता। लेकिन इंद्रियानुभविक "अहम्" यानी मानव-व्यक्ति प्रकृति की सर्वशक्तिमत्ता को नहीं चाहता है और अतएव उसके समक्ष नतमस्तक नहीं हो सकता। यह "अहम्" इसपर थोपी गयी दासता के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है और इस विद्रोह की शक्ति बाह्य जगत् से अपने वास्तविक संबंध को समझने में उसे मदद करती है। फ़िख़्ते लिखते हैं: "मुझमें एक पूर्ण, स्वतंत्र स्व-कार्य की उत्कट चाह है। मेरे लिए केवल दूसरे में, दूसरे के लिए और दूसरे के ज़रिये अस्तित्व से कम कोई भी चीज़ स्वीकार्य नहीं है। मैं स्वयं अपने लिए और स्वयं अपने ज़रिये कुछ होना और बनना चाहता हूं। ज्यों ही अपने को अनुभव करता हूं, त्यों ही मैं इस उत्कट चाह को महसूस करता हूं, इसे मेरी आत्म-चेतना से पृथक नहीं किया जा सकता" (52,*3*,85) ।

ऐतिहासिक विकास के कारण, जिसकी अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु, फ़िख़्ते के अनुसार, स्व-ज्ञान है, मनुष्य महसूस करता है कि वह एक **अकेले** व्यक्ति, एक **इंद्रियानुभविक "अहम्"** के रूप में ही अपनी बाह्य तथा आंतरिक प्रकृति का दास है, जो मानवजाति के सार्विक "अहम्" के साथ, परम विषयी या उस अनंत कार्य के साथ अपनी एकता के प्रति अचेत है, जो निषेध की परम शक्ति और रचनात्मकता की परम शक्ति है।

फ़िख़्ते दावा करते हैं कि आत्म-चेतना मनुष्य को छद्म आवश्यकता का सामना करने के लिए विवश करती है। और तब यह प्रकट होता है कि वह केवल एक इंद्रियानुभविक "अहम्" के रूप में प्रकृति की उपज है, लेकिन परम विषयी से संबद्ध एक शुद्ध "अहम्" के रूप में मनुष्य प्रकृति तथा इसमें निहित आवश्यकता का रचनाकार है। स्वतंत्रता परम विषयी का सार है। इसका संकल्प, परम संकल्प," इस संसार के परिणामों की शृंखला की पहली कड़ी है, उस शृंखला की, जो आत्माओं के संपूर्ण अदृश्य राज्य से होकर गुज़रती है, वैसे ही, जैसे कि लौकिक जगत् में कार्य भूतद्रव्य की ज्ञात गति, उस भौतिक शृंखला की पहली

कड़ी है, जो अपनी परिधि में भूतद्रव्य की समस्त प्रणाली को आलिंगन करती है" (52,*3*,118) ।

इसी ढंग से फ़िख़्ते "मानव – प्रकृति" सह-संबंध की प्रकृतिवादी व्याख्या में निहित अंतर्विरोधों को हल करते हैं। वह मूलभूत प्रकृतिवादी स्थापना को अस्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार बाह्य प्राकृतिक वातावरण और स्वयं मानव-प्रकृति मानव-जीवन को निर्धारित करते हैं। फिर भी, यह सही निष्कर्ष ग़लत प्रत्ययवादी पूर्वाधारों से निकाला जाता है।

फ़िख़्ते का दर्शन मानव-जीवन के वास्तविक आधार को यानी सामाजिक उत्पादन और सामाजिक संबंधों को देखने में असमर्थ है। निस्संदेह, यह उनके बुर्जुआ परिसीमनों को व्यक्त करता है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि बुर्जुआ क्रांतिकारी फ़िख़्ते एक सैद्धांतिक विचार (चाहे यह ग़लत प्रत्ययवादी रूप में ही क्यों न हो) पेश करते हैं जो इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण के एक मूलभूत सिद्धांत की पूर्वकल्पना करता है : स्वयं मानवजाति ऐसी परिस्थितियां निर्मित करती है, जो उसके इतिहास को निर्धारित करती हैं। बेशक, समस्या के प्रति यह दृष्टिकोण अब भी काफ़ी अमूर्त है तथा यह विश्व-इतिहास की ग़लत और धर्मशास्त्रीय धारणा को अमान्य नहीं ठहराता। परन्तु क्लासिकीय जर्मन दर्शन के विकास के ठोस संदर्भ में इसने इतिहास की उस भौतिकवादी धारणा का मार्गदर्शदर्शन किया, जिसने वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया कि कैसे और क्यों मानवजाति अपने ऐतिहासिक नाटक की रचनाकार है।

आगे चलकर हम परम विषयी की धारणा पर लौटेंगे। लेकिन "अहम" और "निरहम" के द्वंद्ववाद के विश्लेषण पर मुड़ने से पहले हम एक बार पुनः फ़िख़्ते के उन बुर्जुआ क्रांतिकारी दृष्टिकोणों पर विचार करने के लिए रुकना चाहिए, जो उनकी द्वंद्वात्मक विश्व-धारणा से प्रत्यक्षतः निःसृत हुए हैं। सामंती विचारधारा ने सामाजिक विषमताओं की व्याख्या शाश्वत और निरपेक्ष के रूप में की। बुर्जुआ विचारधारा ने मानव के प्रति मानव की इस अधिकारवादी प्रतिस्थापना को मानव-प्रकृति की विरोधी होने के नाते ठुकरा दिया। ऐसा करने में बुर्जुआ सिद्धांतकार अपरिवर्तनीय मानव प्रकृति की धारणा से आगे बढ़े। केवल

रूसो ही मानव-प्रकृति को प्रभावित करनेवाले समाज के इतिहास के प्रश्न पर ज़ोर देते हैं। फ़िख़्ते बार-बार रूसो को उद्धृत करते हैं, उनका समर्थन करते हैं, पर वह मानव-प्रकृति को समझने में उनसे आगे जाते हैं। वह मानव-प्रकृति के सार को उसके **कार्य** में देखते हैं तथा मनुष्य की सभी गुणात्मक विशेषताओं को इस कार्य की अभिव्यक्ति मानते हैं।

फ़िख़्ते इस परंपरागत सामंती दृष्टिकोण को मानव के अयोग्य विचार के रूप में ठुकरा देते हैं कि मालिक हमेशा मालिक बने रहते हैं और दास हमेशा दास। रूसो के विचारों को विकसित करते हुए तथा मालिक और दास के बीच वैषम्य के सापेक्ष स्वरूप के बारे में हेगेल की सुप्रसिद्ध प्रस्थापना का पूर्वानुमान करते हुए फ़िख़्ते प्रकटतः स्वतःस्पष्ट सत्य – क्या मालिक वास्तव में मालिक हैं? और क्या दास दास बने रहते हैं? – पर संदेह व्यक्त करते हैं। वह रोषपूर्वक कहते हैं: "वे सभी लोग, जो अपने को दूसरों के मालिक मानते हैं, स्वयं दास हैं। अगर वे हमेशा वास्तव में दास नहीं हैं, तो उनकी आत्माएं दासों की आत्माएं हैं और वे उन मालिकों के सामने घृणास्पद ढंग से नाक रगड़ेंगे, जो अधिक मज़बूत हैं और उन्हें दास बनाते हैं। केवल वही स्वतंत्र है, जो अपने इर्द-गिर्द सभी को स्वतंत्र बनाना चाहता है" (52,*1*,237)।

इस प्रकार, मालिकों और दासों के बीच अन्तर्विरोध द्वंद्वात्मक सिद्ध होता है। फ़्रांसीसी क्रांति ने सामंतों को ध्वस्त कर दिया। फ़िख़्ते बुर्जुआ क्रांति को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं, यह उनके लिए प्रभुत्व और अधीनता के सभी संबंधों के उन्मूलन का प्रतिनिधित्व करती है। यह महान लक्ष्य क्रांतिकारी हिंसा को उचित ठहराता है।

अतः बुर्जुआ क्रांति फ़िख़्ते की द्वंद्वात्मक प्रेरणा का स्रोत है। उनके विचार में, समाज का क्रांतिकारी पुनर्निर्माण, राजकीय और विधिक संबंधों का **सचेत** रूपांतरण, सामंती जुए का उन्मूलन, जो आम तौर पर उत्पीड़न के उन्मूलन के समान माना जाता है, मानव तथा मानव-जाति के इतिहास के सार को प्रकट करते हैं।

फ़्रांसीसी क्रांति के सिद्धांतकार – फ़्रांसीसी प्रबोधक – अधिकांशतः अधिभूतवादी थे न कि द्वंद्ववादी। उन्होंने नूतन को पुरातन के पूर्ण विरोध में खड़ा कर दिया और इसने निस्संदेह क्रांतिकारी सैद्धांतिक

भूमिका अदा की। उन फ़्रांसीसी प्रबोधकों के विपरीत फ़िख़्ते फ़्रांसीसी क्रांति के समकालीन थे, उन्होंने इसकी व्याख्या अपने फ़्रांसीसी पूर्ववर्तियों के विचारों के सहारे की। दूसरी ओर, फ़िख़्ते कांट के तथा सामान्यत: जर्मन द्वंद्वात्मक परंपरा के अनुयायी थे। इस सबसे पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में द्वंद्वात्मक प्रत्यय-वाद जर्मनी में बुर्जुआ क्रांति की विचारधारा बन गया।

फ़िख़्ते के अनुसार, दर्शन का ध्येय "मनुष्य को शक्ति, साहस और आत्म-विश्वास प्रदान करना है, यह दिखाता है कि यह सब और उसका समग्र भाग्य स्वयं उसपर ही निर्भर हैं" (52,*5*,345)। वस्तुत: इसी में फ़िख़्ते अपने दर्शन का अर्थ देखते हैं, जिसका वर्णन वह स्वतंत्रता की धारणा के सुसंगत विकास के रूप में करते हैं। रेनहोल्द को अपने एक पत्र में वह घोषणा करते हैं: "मेरी प्रणाली की आत्मा इस विचार में है: 'अहम्' अपने प्रति निर्विवाद रूप से सचेत है। ये शब्द 'अहम्' के आंतरिक आत्म-अनुध्यान के बिना न तो कोई अर्थ रखते हैं, न ही कोई मूल्य" (48,*1*,477-78)। वह परम विषयी या परम अहम् की धारणा के विश्लेषण के ज़रिये इस प्रस्तावना की पुष्टि करते हैं।

परम "अहम्" की धारणा फ़िख़्ते की प्रणाली की सबसे कठिन और सबसे कम स्पष्ट धारणा है। स्वभावत:, फ़िख़्ते मानव-"अहम्" से सीधे आगे बढ़ते हैं, जिसका अस्तित्व, उनकी दृष्टि में, बाह्य वस्तुओं यानी उस हर चीज़ से अतुलनीय रूप से अधिक स्पष्ट है, जिसे वह नकारात्मक ढंग से "निरहम्" के रूप में पेश करते हैं। आत्म-चेतना के अपने विश्लेषण में फ़िख़्ते कांट की भांति इस सही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह केवल वहीं तक संभव है, जहां तक बाह्य जगत् की अनुभूति होती है। लेकिन विचारों की प्रत्ययवादी प्रणाली में बाह्य जगत् की स्वीकृति **बौद्धिक अंत:प्रज्ञा** पर और मानव "अहम्" के निर्विवाद अस्तित्व की प्रत्यक्ष चेतना पर आधारित एक **निष्कर्ष** है। दर्शन को, फ़िख़्ते ज़ोर देते हैं, अपने प्रस्थान-बिंदु के रूप में केवल उसी चीज़ को स्वीकार करना चाहिए, जो पूर्णत: प्रामाणिक हो; इसकी संपूर्ण अंतर्वस्तु मूल प्रस्थापनाओं से निगमित की जानी चाहिए ताकि "अगर और जितना यह पहला प्रामाणिक हो, तो दूसरा

भी प्रामाणिक होना चाहिए; और अगर दूसरा प्रामाणिक है, तो उसी तरीक़े से तीसरा भी प्रामाणिक होना चाहिए, आदि" (51,7) ।

लेकिन फ़िख़्ते व्यक्ति की चेतना – वैयक्तिक चेतना को, जिसे वह इंद्रियानुभविक "अहम्" के रूप में चित्रित करते हैं, अपनी प्रणाली का आधार मानने से सर्वथा दूर हैं। उनके अनुसार, यह आधार परम "अहम्" है, जिसका अस्तित्व बिल्कुल स्पष्ट है। यहां इसका संबंध, फ़िख़्ते ज़ोर देते हैं, "एक बिल्कुल भिन्न 'अहम्'" से है, "जो सामान्य दृष्टि से ओझल रहता है, जो अपने को तथ्यों के क्षेत्र में नहीं प्रकट करता, बल्कि केवल आधार की ओर आरोहण के माध्यम से ही संज्ञेय है" (50,35) । वह परम विषयी को इंद्रियानुभविक "अहम्" के मुक़ाबले में रखने के साथ ही इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि वे दोनों एक ही अखंड समष्टि बनाते हैं। यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण सैद्धांतिक और विचारधारात्मक स्थापना है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ निरपेक्ष की रचना करता है! बेशक यह सही है कि इंद्रियानुभविक विषयी परम "अहम्" की रचना केवल सीमित, अविकसित और अनित्य रूप में ही करता है। लेकिन परम "अहम्" अपने को परिमित इंद्रियानुभविक विषयियों की सक्रियता में प्रत्यक्ष करता है।

यदि बर्कले ऐसी इंद्रिय-अनुभूतियों का बोध करनेवाले वैयक्तिक मानव-विषयी की जांच करने से ही संतुष्ट हैं, जिनके संयोजन मानो इंद्रियगत ढंग से अनुभूत संसार की वस्तुएं बनाते हैं, तो फ़िख़्ते वैयक्तिक "अहम्" से सार्विक "अहम्", परम विषयी तक ऊपर उठना आवश्यक समझते हैं। केवल यह परम विषयी ही हर अस्तित्वमान चीज़ का स्रोत है, वही वह सक्रियता है, जो हर चीज़ को निर्मित और निर्धारित करती है।

इंद्रियानुभविक विषयी केवल स्वयं में ही संभाव्य रूप से परम है। परम विषयी और इंद्रियानुभविक "अहम्" के बीच अन्तर्विरोध सापेक्ष है, भले ही यह सार्विक का वैयक्तिक से, नित्य का अनित्य से, इंद्रिय का अतींद्रिय से, अपरिमित का परिमित से संबंध क्यों न हो। फ़िख़्ते के अनुसार, इस अन्तर्विरोध का परिसीमन (जिसे क़ाबू में करना स्वभावतः असंभव है) यानी वैयक्तिक के सार्विक के स्तर तक आरोहण की प्रक्रिया उस सबका गहनतम सार है, जो संसार में घटित होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परम "अहम्" अपनी सारी परिकल्पनात्मक अमूर्तता के बावजूद वस्तुतः अपने विगत, वर्तमान और भावी विकास के यथाक्रम में मानवजाति के अलावा और कुछ नहीं है अर्थात् ऐसी किसी भी ऐतिहासिक सीमा से अबाधित मानवजाति, जो उसके ज्ञान के विकास, प्रकृति पर उसकी शक्ति तथा उसके सामाजिक संगठन की पूर्णता पर रोक लगा सकती हो। लेकिन मानवजाति की यह प्रत्ययवादी धारणा एक ऐसा अमूर्तीकरण है, जो एक निश्चित हद तक सामाजिक विकास के विशिष्ट स्वरूप को क्षय कर देता है, परम विषयी की धारणा को पूर्णतः समाप्त नहीं करता। कुल मिलाकर, परम "अहम्" परम विषयी में रूपांतरित सक्रियता है। यह, फ़िख़्ते के अनुसार, "पूर्णतः अप्रतिबंधित और किसी भी उच्चतर चीज़ द्वारा अनिर्धारणीय कोई चीज़ है" (52,*1*,314)।

फ़िख़्ते सत्ता और मूलतत्व के प्रवर्गों को प्रारंभिक धारणाओं के रूप में स्वीकार करने से इन्कार करते हैं। उनके विचार में, इन प्रवर्गों को ऐसे रूपों में देखा जाना चाहिए, जिनके ज़रिये कार्य की सिद्धि होती है। वह इस सूत्र से संतुष्ट नहीं हैं कि कार्य सत्ता में अंतर्निहित है। इस सूरत में सक्रियता को सत्ता के एक गुण, एक योग्यता के रूप में माना जाता है, जो स्पष्टतः अन्य गुणों से भी संपन्न होती है। लेकिन सक्रियता वह चीज़ है, जो सत्ता को सत्ता बनाती है। फ़िख़्ते के शब्दों में, "**वह चीज़, जिसकी सत्ता (सार) मात्र इसमें है कि वह अपने को अस्तित्वमान मान लेती है,** परम विषयी के रूप में अहम् है" (52,*1*,291)। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि क्यों फ़िख़्ते मूलतत्व की परंपरागत दार्शनिक धारणा को अस्वीकार करते हैं, जिसे आम तौर से स्व-सक्रियता तथा स्वतंत्रता से रहित अस्तित्वमान चीज़ों की बहुविधता के परम आधार के रूप में समझा गया। यह सही है कि लीबनिज़ ने मूलतत्व की धारणा को बदल दिया और इसकी व्याख्या भूतद्रव्य को जीवन प्रदान करनेवाली एक शक्ति के रूप में की। लेकिन फ़िख़्ते इस धारणा को भी अपर्याप्त मानते हैं, क्योंकि लीबनिज़ के विचार में, सक्रियता नहीं, बल्कि चिदणु मूलतत्व हैं। फ़िख़्ते के अनुसार, यदि मूलतत्व की धारणा का प्रयोग किया ही जाना है, तो इसे परम विषयी में रूपांतरित कर देना चाहिए। वह लिखते

है जिस हद तक 'अहम्' को सभी यथार्थों को अपनी परिधि मे शामिल करनेवाले समस्त और पूर्णतः निर्धारित वृत्त के रूप में देखा जाता है, उस हद तक यह मूलतत्व है" (52,*1*,337)। व० फ़० आस्मुस ठीक ही जोर देते है कि फ़िख्ते का दर्शन आत्मगत प्रत्ययवाद और वस्तुगत प्रत्ययवाद को मिलाता है (13,81)। चूंकि परम "अहम्" की व्याख्या मानवजाति मे भिन्न किसी चीज़ के रूप मे की जाती है, इसलिए यह अलौकिक तथा अतिमानवीय आद्य कारण के अस्तित्व को स्वीकार करती है यानी यह वस्तुगत प्रत्ययवाद की प्रारंभिक प्रस्थापना को स्वीकार करती है। फ़िख्ते जैकोबी को लिखते हैं: "मेरा परम अहम्' बेशक व्यक्ति नही है, लेकिन परम 'अहम्' मे व्यक्ति को निगमित किया जाना चाहिए" (48,*1*,501)। परम विषयी और मानवजाति की धारणाओं के बीच भेद करते हुए फ़िख्ते सत्ता और चिंतन के द्वंद्वात्मक तादात्म्य की हेगेल की धारणा की पूर्वकल्पना करते है। 'नैतिक सिद्धांत की प्रणाली' (१८१२) में उन्होंने लिखा: "एक-मात्र चीज़ जो अस्तित्व रखती है, वह धारणा, शुद्ध आत्मिक सत्ता है। बहुमत धारणा जैसी सत्ता तक ऊपर नही उठ सकता। उसके लिए धारणा केवल वस्तुगत ज्ञान की अभिव्यक्ति, वस्तुओं का प्रतिबिंबन, उनकी प्रतिकृति है... विचार या शुद्ध दृष्टि (blosses Gesicht) वास्तविक और एकमात्र सही सत्ता है, जो शुद्ध चिंतन मे प्रकट होती है" (52,6,31)। आगे फ़िख्ते ज़ोर देते है "वास्तविक 'अहम्' को केवल धारणा के जीवन के रूप मे प्रकट होना चाहिए। वह 'अहम्' जिसकी आत्म-चेतना मे परम धारणा से भिन्न कोई सिद्धांत होगा, सच्चा 'अहम्' नही, बल्कि 'अहम्' का आभास मात्र होगा" (52,6,37)। वस्तुत इसी तरह से फ़िख्ते का परम विषयी, जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने इंगित किया, "प्रकृति से पृथक्कृत, अधिभूतवादी ढंग से रूपान्तरित आत्मा" (1,*4*,139) के अलावा और कुछ नही है। आद्य कारण की यह धारणा अनिवार्यतः अस्तित्व के दिव्य आद्य कारण की ओर ले जाती है। अपनी प्रारंभिक कृतियों मे फ़िख्ते यह निष्कर्ष नहीं निकालते, लेकिन बाद की कृतियों मे वह इसके बारे में पूरी स्पष्टता के साथ वर्णन करते है।

अत फ़िख्ते यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि चूंकि सक्रियता

को परम के रूप में स्वीकार किया जाता है, इसलिए यह विषय नहीं, बल्कि विषयी है तथा केवल इसी अर्थ में परम "अहम्" है। मूल दार्शनिक समस्या के प्रत्ययवादी समाधान के रूप में मूलतत्व, विषयी और अंततः स्वत्व (Jchheit) के साथ सक्रियता का यह एकीकरण प्रस्थान-बिंदु के तौर पर विषयी के साथ विषय के पूर्ण विरोध की पूर्वकल्पना करता है। फ़िख़्ते लिखते हैं: "प्रकृति और आत्मा – इन दोनों में से एक को हटा देना चाहिए; दोनों को एकीकृत नहीं किया जा सकता। उनकी काल्पनिक एकता अंशतः पाखंड और झूठ तथा अंशतः अनुभूति द्वारा ज़बर्दस्ती थोपी गयी असंगतता है" (52,6,32)। वह प्रकृति, इंद्रियों द्वारा अनुभूत वस्तुओं के जगत्, वैयक्तिक मानव "अहम्" से इसकी स्वतंत्रता को अस्वीकार नहीं करते हैं। वह प्राकृतिक, भौतिक की प्रमुखता से इन्कार करते हैं।

इसके अलावा, सक्रियता को परम बनाने का अर्थ है गति तथा परिवर्तन की प्रत्ययवादी ढंग से व्याख्या करना, जो "निरहम्" की सामान्य धारणा में एकीकृत, इंद्रियग्राह्य वस्तुओं में निहित होते हैं। वस्तुओं की गति तथा परिवर्तन को सक्रियता के अन्यसंक्रामित रूपों के तौर पर देखा जाता है; फलतः उन्हें ऐसी सक्रियता में परिवर्तित कर दिया जाता है, जिसे फ़िख़्ते न केवल प्राकृतिक वस्तुओं में निहित गति तथा परिवर्तन से पृथक् करते हैं, बल्कि उसे उनके मुक़ाबले में भी रखते हैं।*

विषयी की सक्रियता के सिद्धांत ने, जिसने कांट के दर्शन में मुख्य भूमिका अदा की, फ़िख़्ते के दर्शन में व्यापक किंतु साथ ही आत्मगत-

---

*सोवियत दार्शनिक व० व० लाज़ारेव कहते हैं: "फ़िख़्ते ने ज़ोर दिया कि विकास वस्तुतः स्वयं 'विषय' में नहीं, बल्कि केवल सैद्धांतिक निर्माण की विधि तथा इसकी व्याख्या में निहित है। उनका ख़्याल था कि 'आत्म-विकासमान विषय' की धारणा आत्म-अंतर्विरोधी और उनकी समस्त प्रणाली के लिए विनाशकारी थी। आत्म-चेतना के उनके द्वंद्ववाद ने न केवल गतिहीन 'विषय' के रूप में प्रकृति के अधिभूतवादी दृष्टिकोण को सहन किया, बल्कि इसकी पूर्वकल्पना की और वह इसपर आधारित भी था।" (27,33)।

वादी-संकल्पवादी विकास पाया। "निजरूप-वस्तुओं" के अस्तित्व से इन्कार करते हुए, फ़िख्ते केवल कांट के अज्ञेयवाद, विषयी से विषय की स्वतंत्रता यानी परम "अहम्" से "निरहम्" की स्वतंत्रता से ही इन्कार नहीं करते। चूंकि परम "अहम्" निरंतर कार्य, सतत निर्माण है, इसलिए यह कोई पहले से बनी-बनायी, स्थायी और अपरिवर्तनीय चीज़ नहीं है। "निरहम्" से इसके संबंध को परिवर्तन, विकास की एक प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए। अतः "अहम्" से स्वतंत्र यथार्थता के (दूसरे शब्दों में, "निरहम्" के) निषेध को इन विलोमों की अंतःक्रिया और एकता को पूर्णतः ध्यान में रखना चाहिए, जो एक दूसरे को अपवर्जित करने के साथ-साथ एक दूसरे को समाविष्ट भी करती हैं।

"अहम्" और "निरहम्" के बीच संबंध फ़िख्ते के मूल सिद्धांतों का विषय है। पहले मूल सिद्धांत के अनुसार, परम "अहम्" आद्यत निश्चित रूप से अपनी सत्ता को सत्य मान लेता है। इसका अर्थ यह है कि चेतना की संपूर्ण अंतर्वस्तु "अहम्" की सक्रियता में (Tathandlung), "अहम्" के स्वसत्ता को सत्य मानने में निहित है। फ़िख्ते के शब्दों में, "'अहम्' सभी यथार्थताओं का स्रोत है, क्योंकि इसकी सत्यता को प्रत्यक्ष रूप से और बिनाशर्त मान लिया जाता है। यथार्थता की धारणा केवल "अहम्" के ज़रिये और इसके साथ दी जाती है। लेकिन "अहम्" इस वजह से अस्तित्व रखता है कि यह **अपने अस्तित्व की सत्यता को मान लेता है और इसलिए कि यह अस्तित्व में है।** अतः स्वसत्ता को सत्य मान लेना और **सत्ता** एक ही **चीज़** हैं। पर **स्वसत्ता को सत्य मानने** और **सक्रियता की** धारणाएं भी एक ही हैं। तात्पर्य यह कि हर यथार्थता **सक्रिय** है और हर **सक्रियता** यथार्थ है" (52,*1*,329)।

पहला मूल सिद्धांत अब भी अपने में विषयों के जगत् की, "निरहम्" की धारणा को शामिल नहीं करता। फ़िख्ते यहां जान-बूझकर उस हर चीज़ को पृथक् कर देते हैं, जो "अहम्" नहीं है और इस तरह वह परम विषयी की परम स्वतंत्रता, परिस्थितियों से परम सक्रियता की स्वतंत्रता तथा मानव इंद्रियानुभविक "अहम्" की स्वयं को ढालने की, रचना करने की क्षमता को मान लेते हैं—स्पष्टतः केवल वहीं

तक, जहां तक यह परम विषयी के निकटतर पहुंचता है। अतः मानव-जीवन का अर्थ इसमें है "कि प्रत्येक को अपने संपूर्ण व्यक्तिगत जीवन, अपनी संपूर्ण शक्ति और इसकी सारी ख़ुशियों को विचारों को अर्पित कर देना चाहिए" (52,*4*,460-61)।

इसके अलावा, पहला मूल सिद्धांत सैद्धांतिक सक्रियता और सामान्यतः संज्ञान पर व्यावहारिक (बेशक प्रत्ययवादी ढंग से प्रतिपादित) सक्रियता की प्रधानता को सूत्रित करता है। परम सक्रियता, सबसे पहले, व्यावहारिक सक्रियता है, सक्रियता के सभी दूसरे रूप व्युत्पन्न हैं। फ़िख़्ते के शब्दों में, "यह संसार निश्चित रूप से केवल हमारी सक्रियता का क्षेत्र है और इससे अधिक हर्गिज़ कुछ नहीं। वास्तविक संसार की चेतना क्रिया करने की आवश्यकता से न कि उल्टे– संसार की चेतना से क्रिया करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है; यह आवश्यकता आद्य है, संसार की चेतना व्युत्पन्न है। हम इस वजह से नहीं क्रिया करते कि हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, हम इस वजह से ज्ञान प्राप्त करते हैं कि हमारा ध्येय क्रिया करना है; व्यावहारिक बुद्धि हर बुद्धि की जड़ है" (52,*3*,99) ।

इस प्रकार, फ़िख़्ते संज्ञान के आधार के रूप में व्यवहार की मूलतः नयी ज्ञानमीमांसीय समझ की प्रत्ययवादी व्याख्या पेश करते हैं। वह व्यवहार को सार्विक सक्रियता और अतएव परम विषयी के सार के रूप में प्रतिपादित करते हुए और भी आगे जाते हैं। फिर भी, चेतना तथा व्यवहार किसी ऐसी चीज़ की कल्पना करते हैं, जो उनसे भिन्न है। विषय के बिना सक्रियता असंभव है। अतः "अहम्" अपनी कल्पना वहीं तक करता है, जहां तक "निरहम्" अस्तित्व रखता है। परम विषयी का स्व-सक्रियता तथा इसके विलोम, वस्तुगत का अस्तित्व पारस्परिक ढंग से एक दूसरे को निर्धारित करते हैं। यह दावा करते हुए कि "अहम्" निरहम्" की सत्यता को मान लेता है, फ़िख़्ते एक आत्मगतवादी प्रत्ययवादी के रूप में इस द्वंद्वात्मक सत्य को निरूपित करते हैं। यह उनका दूसरा मूल सिद्धांत है, जिसके अनुसार "अहम्" और "निरहम्" के बीच भेद केवल परम "अहम्" के भीतर अस्तित्व रखता है, क्योंकि परम "अहम्" के बाहर आम तौर से कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता।

फ़िख़्ते विषय और विषयी की समस्या के आत्मगतवादी-प्रत्ययवादी समाधान की सभी कठिनाइयों को भली-भांति जानते हैं। अपने अस्तित्व को सत्य मानने के लिए "अहम्" के लिए "निरहम्" का अस्तित्व आवश्यक शर्त है। अगर यही बात है, तो "अहम्" "निरहम्" के अस्तित्व को सत्य नहीं मानता, बल्कि इसे अपनी सक्रियता की एक शर्त के रूप में पाता है; लेकिन यह "अहम्" के स्व-अस्तित्व को सत्य मानने को संदेहास्पद बनाता है या कम से कम सीमित करता है। देकार्तीय cogito ergo sum (मैं चिंतन करता हूं, इसलिए अस्तित्व रखता हूं) मूलतः असंभव है: चिंतन करने के लिए चिंतन करनेवाले विषयी से स्वतंत्र एक विषय आवश्यक है। फ़िख़्ते लिखते हैं: "'अहम्' अपना बोध कभी नहीं करता और अपनी इंद्रियानुभविक परिभाषाओं में बोध करने के सिवाय अन्य किसी प्रकार से बोध नहीं कर सकता ... ये इंद्रियानुभविक परिभाषाएं हमेशा किसी ऐसी चीज़ की पूर्वकल्पना करती हैं जो 'अहम्' के बाहर होती है। मनुष्य की देह भी, जिसे वह अपनी देह कहता है, कुछ ऐसी चीज़ है, जो "अहम्" के बाहर है" (52,*1*,223)। यह अभिलाक्षणिक है कि फ़िख़्ते "अहम्" (इस मामले में यह इंद्रियानुभविक विषयी है) की धारणा से उस हर चीज़ को पृथक् कर देते हैं, जो दैहिक है। वह इस चीज़ से भी सहमत हैं कि दैहिक चेतना को प्रभावित करता है और एक निश्चित हद तक इसे निर्धारित भी करता है। लेकिन विषय द्वारा विषयी के इस निर्धारण की व्याख्या विषयी द्वारा कल्पित सत्य के रूप में, विषयी के दो हिस्सों में विभाजन, आत्म-नियंत्रण और आत्म-अन्यसंक्रामण के रूप में की जाती है। अतः फ़िख़्ते के सिद्धांत के अनुसार, यह स्वीकृति कि "अहम् के बाहर कोई चीज़" अस्तित्व रखती है, आत्मगतवादी प्रत्ययवाद की सीमाओं में ही लागू होती है क्योंकि बाह्य (यह कांट में पहले ही मौजूद था) को विषयी के आत्म-नियंत्रण के रूप में देखा जाता है।

आशा के अनुसार, फ़िख़्ते प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद का उपयोग आत्मगत प्रत्ययवाद को पुष्ट करने के लिए करते हैं। विषयी तथा विषय के बीच भेद की व्याख्या ऐसे की जाती है जैसे कि यह विषयी की सक्रियता का परिणाम है, हालांकि यह सक्रियता इससे स्वतंत्र विषय के अस्तित्व के बिना असंभव है। "कोई भी भेद केवल 'अहम्' की सक्रियता की

वजह से ही अस्तित्व रखता है और अन्य किसी भी कारण से नहीं। इस भेद की कल्पना आम तौर से 'अहम्' के ज़रिये ही की जाती है" (52,*1*,297)।

फिर भी, विषयी तथा विषय की समस्या के आत्मगत-प्रत्ययवादी समाधान के अपने सभी प्रयासों के बावजूद, उनके इस विश्वास के बावजूद भी कि उनकी एकता को दूसरे ढंग से प्रमाणित नहीं किया जा सकता (बेशक, अगर विषय पर विषयी की निर्भरता से सहमत न हुआ जाये), फ़िख़्ते यह स्वीकार करने के लिए विवश हैं कि उनके प्रमाणीकरण में निश्चित रूप से आवश्यक एक कड़ी का अभाव है, लेकिन उनके सिद्धांत की संपूर्ण अंतर्वस्तु इसे बहिष्कृत कर देती है। पहले उद्धृत किये जा चुके रेनहोल्द को अपने पत्र में फ़िख़्ते परम "अहम्" की धारणा के प्रमाणीकरण में कठिनाइयों का निम्न-लिखित ढंग से वर्णन करते हैं: "अगर 'अहम्' आद्यतः केवल अपने ही अस्तित्व को सत्य मानता है, तो ऐसी किसी भिन्न चीज़ के अस्तित्व को सत्य मानना कैसे संभव है, जो 'अहम्' का विरोध करती है?" (48,*1*,478)। इसका अर्थ यह है कि 'निरहम्' ऐसी कोई चीज़ नहीं हो सकता जो 'अहम्' के **बाद** प्रकट हुआ हो। लेकिन इस स्थिति में स्व-अस्तित्व को सत्य मानने की **आद्य** क्रिया वास्तव में आद्य नहीं है, क्योंकि अस्तित्व को सत्य मानने की क्रिया (और फलतः स्वयं विषयी का अस्तित्व) विषय के, वस्तुगत यथार्थता के, अस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है।

अतः "निरहम्" को "अहम्" में रूपांतरित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह रूपांतरण विलोमों की एकता को नष्ट कर देगा, जो आत्म-चेतना का आधार और अंतर्वस्तु है। और फ़िख़्ते स्वीकार करते हैं कि "अहम्" को एक मौलिक बाह्य आवेग की, आद्य प्रेरणा की आवश्यकता होती है जिसके बिना सक्रियता, स्व-अस्तित्व की मान्यता तथा आत्म-चेतना असंभव हैं। "...हालांकि जीवन और चेतना का सिद्धांत, इसकी संभावना का प्रमाण बेशक 'अहम्' में निहित हैं, लेकिन यह अब भी किसी वास्तविक जीवन, किसी कालसापेक्ष इंद्रियानु-भविक जीवन का स्रोत नहीं है... अगर ऐसे वास्तविक जीवन को संभव होना चाहिए, तो इसके लिए "अहम्" को प्रभावित करने के

वास्ते "निरहम्" की ओर से और कुछ विशेष प्रेरणाओं की आवश्यकता होती है" (52,*1*,471)। स्वभावतः यह तथा अन्य ऐसे ही वक्तव्य फ़िख़्ते की प्रणाली में अपना विकास नहीं पाते। वे इसके आत्मगत-प्रत्ययवादी आधार से मेल नहीं खाते। इन वक्तव्यों को उनके तार्किक निष्कर्ष तक जारी रखने का अर्थ है "निजरूप-वस्तुओं" की भौतिकवादी स्वीकृति के पक्ष में या वस्तुगत प्रत्ययवाद के पक्ष में आत्मगत प्रत्ययवाद का परित्याग करना। वस्तुगत-प्रत्ययवादी प्रवृत्ति फ़िख़्ते के सिद्धांत में हमेशा प्रकट होती रहती है, लेकिन यह संकल्पवादी प्रत्ययवाद द्वारा दबा दी जाती है।

इस तरह, फ़िख़्ते के सिद्धांत की पहली और दूसरी मूल स्थापनाओं का विश्लेषण दिखाता है कि वह कांट के "वस्तु-निजरूप" पर पूर्णतः क़ाबू नहीं पा सकते, कि उनकी अपनी दार्शनिक संगतता उन्हें किसी ऐसी चीज़ की कल्पना करने के लिए मजबूर करती है, जो दर्शन की मुख्य समस्या के आत्मगत-प्रत्ययवादी समाधान की सीमाओं से परे है। फ़िख़्ते का निष्कर्ष सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक बुद्धि के बीच संबंध के प्रति कांट के दृष्टिकोण की अगली कड़ी है। आद्य आवेग या ठीक-ठीक कहें तो, विषयी से स्वतंत्र यथार्थता की समस्या को **सैद्धांतिक** दर्शन की सीमाओं के भीतर असमाधेय माना जाता है ; इसे **व्यावहारिक** दृष्टिकोण द्वारा हल किया जाता है। लेकिन उल्लेखनीय है कि समस्या के इस प्रतिपादन में एक बुद्धिसंगत तत्व है : चेतना से स्वतंत्र यथार्थता का अस्तित्व सर्वोपरि व्यावहारिक रूप से सिद्ध किया जाता है।

"अहम्" और "निरहम्", स्थापना और प्रतिस्थापना, यथार्थता और निषेध, कार्य और निष्क्रियता के बीच द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध विलोमों के इस संघर्ष के नतीजे के बारे में प्रश्न उठाता है। क्यों एक विलोम दूसरे को नष्ट नहीं कर देता? वे एक दूसरे को ख़ारिज क्यों नहीं कर देते? क्या उनका संश्लेषण संभव है और अगर संभव है, तो यह कैसे प्राप्त किया जा सकता है? फ़िख़्ते इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश करते हैं और इसके ज़रिये न केवल तीसरे मूल सिद्धांत की आवश्यकता, बल्कि सामान्यतः विलोमों के परस्पर-संबंधों की सैद्धांतिक समझ को भी सिद्ध करते हैं।

फ़िख़्ते के दृष्टिकोण से, विलोमों की एकता का अर्थ है एक पहलू

के गुणों का दूसरे पहलू के गुणों में परिवर्तन। यदि "अहम्" को सक्रियता के रूप में और "निरहम्" को निष्क्रियता के रूप में परिभाषित किया जाता है, तो इन विलोमों की द्वंद्वात्मकता के परिणामस्वरूप "अहम्" अनिवार्यतः निष्क्रियता के गुण और "निरहम्" सक्रियता के गुण प्राप्त कर लेता है। "निष्क्रियता और सक्रियता इस रूप में विलोम हैं; तो भी, सक्रियता को प्रत्यक्षतः निष्क्रियता की और निष्क्रियता को सक्रियता की कल्पना करनी ही चाहिए" (52,*1*,347)।

विलोमों का संबंध विभिन्नता और तादात्म्य की एकता की कल्पना करता है। विभिन्नता के बिना कोई तादात्म्य नहीं है, तादात्म्य के बिना कोई विभिन्नता नहीं है। दूसरे मूल सिद्धांत से, जिसके अनुसार "अहम्" "निरहम्" के अस्तित्व की कल्पना करता है, यह निष्कर्ष निकलता है कि "'अहम्' स्वयं में निषेध की कल्पना करता है, क्योंकि यह 'निरहम्' में यथार्थता की कल्पना करता है और यह स्वयं में यथार्थता की कल्पना करता है क्योंकि यह 'निरहम्' में निषेध की कल्पना करता है। अतः यह अपने को **आत्म-निर्धारक** मान लेता है, क्योंकि यह निर्धारण पाता है और यह अपने को निर्धारण का **प्राप्तकर्ता** मान लेता है, क्योंकि यह स्वयं द्वारा **निर्धारित होता** है" (52,*1*,325) ।*

---

*विलोमों के पारस्परिक रूपांतरण की समस्या के प्रति फ़िख़्ते के दृष्टिकोण के असाधारण महत्व पर ज़ोर देते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इसका प्रतिपादन आत्मगत-प्रत्ययवादी है अर्थात् यह समस्या का प्रतिपादन विषयी तथा विषय के पारस्परिक निर्धारण के सिद्धांत के रूप में करता है: सक्रियता और इसके विषय को तादात्म्य के रूप में पेश किया जाता है, जो इसका निर्माण करनेवाली क्रिया की वजह से विलोमों में विभाजित हो जाता है। फ़िख़्ते के अनुसार, "तुम अपनी बांहों में जितना भर सकते हो उससे अधिक भरने के लिए अपने आप से बाहर उछलने की कोशिश न करो, जैसे चेतना और वस्तु, वस्तु और चेतना या ठीक-ठीक कहें तो, अलग-अलग रूप में न पहली और न दूसरी ही, लेकिन वह, जो केवल बाद में दो हिस्सों में बंट जाती है, जो आवश्यक रूप से आत्मगत-वस्तुगत और वस्तुगत-आत्मगत है" (52,*3*,80) ।

इसका अर्थ यह है कि "अहम्" सक्रिय और निष्क्रिय साथ-साथ है। लेकिन यह बात "निरहम्" पर भी लागू होती है। विलोमों की एकता विलोमों के तादात्म्य तक पारस्परिक संक्रमण के रूप में प्रकट होती है। "अहम्" न केवल "निरहम्" का विरोध करता है, बल्कि यह "ख़ुद अपना भी विरोध करता है"। इस संबंध में फ़िख़्ते लिखते हैं: "'निरहम्' में सक्रियता की सत्यता को माने बिना 'अहम्' स्वयं में किसी निष्क्रियता के होने की बात को सत्य नहीं मान सकता; लेकिन यह स्वयं में कुछ निष्क्रियता होने की सत्यता को माने बिना 'निरहम्' में किसी सक्रियता के होने की बात नहीं मान सकता" (52,*1*,343)। क्या विलोमों की द्वंद्वात्मकता उनके बीच भेद को समाप्त नहीं कर देती? अगर "अहम्" को "निरहम्" से पृथक् करनेवाली चीज़ "निरहम्" में मौजूद है तथा "निरहम्" को विशिष्टता प्रदान करनेवाली चीज़ "अहम्" में भी विद्यमान है, अगर विषयी में ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो विषय में विद्यमान नहीं है तथा विषय में ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो विषयी में विद्यमान नहीं है, तो "इस स्थिति में", फ़िख़्ते पूछते हैं, "'अहम्' तथा 'निरहम्' के बीच भेद कैसे किया जाये? क्योंकि उनके बीच भेद का वह आधार समाप्त हो गया है, जिसकी वजह से 'अहम्' सक्रिय और 'निरहम्' निष्क्रिय बन जाता है" (52,*1*,354)।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए – जो आत्मगत प्रत्ययवादी के लिए मूलतः असमाधेय है क्योंकि वह बाह्य जगत् को विषयी से व्युत्पन्न किसी चीज़ के रूप में देखता है – फ़िख़्ते दावा करते हैं कि समस्या का हल केवल तभी संभव है, जब परम "अहम्" ऐसे गुण से संपन्न हो, जो "निरहम्" का गुण नहीं बन सकता। अतः इस समस्या को हल करने के लिए हमें परम विषयी की मूल परिभाषा पर वापस लौटना आवश्यक है, एक ऐसी परिभाषा, जिसे अपनी सहज स्पष्टता की वजह से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होगी। फ़िख़्ते के शब्दों में, "'अहम्' की यह विशिष्टता, जिसे 'निरहम्' पर किसी भी रूप में आरोपित नहीं किया जा सकता, निरपेक्ष रूप से स्व-अस्तित्व को सत्य मानना और इस निरपेक्षता का निराधार रूप से सत्य माना जाना है" (52,*1*,354-55)। दूसरे शब्दों में, "अहम्" "निरहम्" से इस बात में भिन्न है कि इसे आद्य अस्तित्व को प्रमाणित करने की

14–684

आवश्यकता नहीं होती। बेशक, आत्मगत प्रत्ययवाद का यह मूल पूर्वाधार विलोमों की एकता की समस्या को हल करने में मदद नहीं करता, उल्टे प्रश्न को और भ्रामक ही बनाता है। फ़िख़्ते के मूल सिद्धांत के इस दोष पर हेगेल को उनके असाधारण समकालीन फ़्रेडरिक होल्डेर्लिन के २६ जनवरी, १७९५ के पत्र में सही ढंग से ध्यान खींचा गया है: "उनके परम 'अहम्' (=स्पिनोज़ा के मूलतत्व) में सारी यथार्थता निहित है; यह सब कुछ है और इसके बाहर कुछ नहीं है, अतः इस परम 'अहम्' के लिए कोई विषय नहीं है, अन्यथा इसमें सारी यथार्थता नहीं निहित होती; लेकिन विषय से रहित चेतना अकल्पनीय है और अगर स्वयं मैं भी यह विषय हूं, तो मैं अनिवार्यतः इसी रूप में सीमित हूं, चाहे यह केवल काल में ही क्यों न हो और अतः मैं परम नहीं हूं। इस तरह, परम 'अहम्' में चेतना अकल्पनीय है; परम 'अहम्' के रूप में मेरे पास कोई चेतना नहीं है और जहां तक मेरे पास कोई चेतना नहीं है, वहां तक 'अहम्' (मेरे लिए) कुछ नहीं है, इसलिए परम 'अहम्' (मेरे लिए) भी कुछ नहीं है" (67,*6*,169)।

आत्म-चेतना मानव-जीवन का प्रस्थानबिंदु नहीं है। यदि चेतना स्वीकृत सत्ता है, तो आत्म-चेतना बाह्य जगत् से और बेशक सर्वोपरि दूसरे लोगों से मनुष्य के जगत् के इस संबंध की स्वीकृति है। मार्क्स के शब्दों में, "मनुष्य चूंकि न तो हाथ में दर्पण लेकर इस दुनिया में आता है और न ही फ़िख़्तेवादी दार्शनिक बनकर, जिसके लिए 'मैं मैं है', इसलिए मनुष्य अपने को पहले दूसरे मनुष्यों में देखकर पहचानता है। पीटर जब पहले अपने ही प्रकार के प्राणी के रूप में पॉल से अपनी तुलना कर लेता है, तभी वह अपने को मनुष्य के रूप में पहचान पाता है" (5,*1*,59)।

फ़िख़्ते भली-भांति समझते हैं कि स्थापना और प्रतिस्थापना के संश्लेषण की समस्या को दोनों विरोधी पहलुओं की विशिष्टताओं को जोड़नेवाली मध्यवर्ती कड़ियों की तलाश करके हल नहीं किया जा सकता। उनके विचार में, यह अंतर्विरोध को हल नहीं करता, केवल इसे भिन्न स्तर पर स्थानांतरित कर देता है। यदि दिन और रात के बीच झुटपुटे जैसी मध्यवर्ती कड़ी की भांति दो विलोमों के बीच कोई

मध्यवर्ती कड़ी है, तो यह मध्यवर्ती कड़ी भी विलोमों को एक इकाई में नहीं जोड़ती। विलोमों की एकता इसलिए संभव है कि वे सापेक्ष और एक निश्चित अर्थ में अनन्य हैं। फ़िख़्ते के अनुसार, मुख्य बात यह है कि "प्रकाश और अंधकार सामान्यतः एक-दूसरे के विलोम नहीं हैं, बल्कि उनमें केवल मात्रा का अंतर होता है... बिल्कुल यही चीज़ 'अहम्' और 'निरहम्' के बीच संबंध पर भी लागू होती है" 52,*1*,340)।

तो भी, क्यों "अहम्" और "निरहम्" के विलोम एक-दूसरे को ख़ारिज नहीं करते, बल्कि बने रहते हैं? फ़िख़्ते ज़ोर देते हैं कि इस सवाल को किसी भी तार्किक विधि से हल नहीं किया जा सकता: असल बात इन विलोमों को इस या उस तरीक़े से मिलाने की नहीं, बल्कि उस चीज़ की खोज करने की है, जो उन्हें वास्तव में मिलाती है।

फ़िख़्ते के सिद्धांत के अनुसार, "अहम्" (यथार्थता की परम पूर्णता) तथा "निरहम्" (निषेध की परम पूर्णता) की एकता पारस्परिक परिसीमन की वजह से बनती है, जिसके बल पर "अहम्" **अंशतः** अपना निर्धारण करता है और अंशतः "निरहम्" द्वारा निर्धारित होता है। परंतु इसका अर्थ यह भी है कि "निरहम्" भी केवल अंशतः "अहम्" के कार्य द्वारा निर्धारित होता है। अपने तीसरे मूल सिद्धांत को निरूपित करते हुए फ़िख़्ते कहते हैं: "'अहम्' विभाज्य 'अहम्' को विभाज्य 'निरहम्' के मुक़ाबले में रखता है यानी दोनों विलोम परिमाणात्मक ढंग से अंशतः एक-दूसरे को सीमित करते हैं।

इस प्रकार, पहले दो मूल सिद्धांतों के संश्लेषण के रूप में तीसरा मूल सिद्धांत उनके एकांगीपन को समाप्त कर देता है तथा आत्मगत और वस्तुगत की निर्विवाद यथार्थता को पुष्ट करता है। उनके संबंधों की व्याख्या सहसंबंध के रूप में की जाती है अर्थात् आत्मगत प्रत्ययवाद की भावना में, जो विषय पर विषयी की निर्भरता को केवल वहीं तक स्वीकार करता है, जहां तक विषय को विषयी पर निर्भर माना जाता है। "...न तो वस्तुगत द्वारा आत्मगत को, न ही आत्मगत द्वारा वस्तुगत को नष्ट किया जाना चाहिए... दोनों को साथ-साथ अस्तित्व बनाये रखना चाहिए। इसलिए उनका एकीकरण संश्लेषणात्मक ढंग से किया जाना चाहिए और वह भी किसी ऐसी तीसरी चीज़ के द्वारा,

जिसमें वे निर्धार्यता के ज़रिये समान हैं। वे दोनों इस रूप में विषयी और विषय नहीं हैं, बल्कि स्थापना और प्रतिस्थापना के ज़रिये सत्य माने हुए तथा पारस्परिक रूप से निर्धार्य आत्मगत और वस्तुगत हैं और चूंकि वे ऐसे हैं, इसीलिए उन्हें संश्लेषण में काम करने वाले "अहम्" की क्षमता (कल्पना-शक्ति) द्वारा एकीकृत और निर्धारित किया जा सकता है" *(52,1,400)* ।

फ़िख़्ते के मूल सिद्धांतों की जांच उनके द्वंद्ववाद की मुख्य विशिष्टताओं को प्रकट करती है। फ़िख़्ते के अनुसार, अंतर्विरोध, विलोमों का संघर्ष तथा उनका पारस्परिक परिसीमन अपनी मूल शर्तों के रूप में "अहम्" की सक्रियता की पूर्वकल्पना करते हैं। अतः फ़िख़्ते विषय के अंतर्निहित द्वंद्ववाद की कभी चर्चा नहीं करते हैं, हालांकि वह स्वयं उनमें विलोमों की एकता के आधार को खोजने की मांग करते हैं। विषयी-विषय के रूप में अर्थात् पारस्परिक निर्भरता के रूप में किसी भी यथार्थता की व्याख्या करते हुए, जिसमें प्रधानता विषयी की होती है, फ़िख़्ते विषयी के अस्तित्व से अलग स्वयं विषयों में अंतर्विरोधों को देखने से दूर थे। इसके अलावा, विषयों का वर्णन नकारात्मक रूप में यानी "निरहम्" के रूप में किया जाता है, जिसे फिर "अहम्" की सक्रियता द्वारा मान लिया जाता है। इस तरह, नैतिक विषयी की धारणा को पुष्ट करते हुए फ़िख़्ते इसे विषयी पर बाह्य जगत् की निर्भरता की स्वीकृति का पूर्वाधार मानते हैं: "बाह्य जगत् हमारे कर्तव्य को पूरा करने के लिए सामग्री है; वस्तुतः यही वस्तुओं का सच्चा सार, सभी दृष्टिगोचर चीज़ों का सार है" (49,5,185)। आत्मगत प्रत्ययवाद विलोमों की एकता और संघर्ष के प्रश्न के प्रति गहन दृष्टिकोण को अनिवार्यतः विकृत करता है। तो भी, विषयी-विषय द्वंद्ववाद की फ़िख़्ते की धारणा मानव कार्य के द्वंद्वात्मक स्वरूप को रहस्यात्मक ढंग से प्रतिबिम्बित करती है।

आत्मगत और वस्तुगत की एकता सामाजिक संबंधों की विशिष्ट वस्तुगतता को प्रकट करती है, जो संयुक्त, ऐतिहासिक रूप से विकासमान मानवीय सक्रियता की उपज हैं, लेकिन साथ ही मानव चेतना और संकल्प से स्वतंत्र होते हैं। ऐतिहासिक आवश्यकता प्राकृतिक आवश्यकता से मूलतः भिन्न होती है, जो मानवीय सक्रियता का ध्यान

किये बिना अस्तित्व रखती है। मानव सक्रियता के नियम इसकी अंतर्वस्तु हैं – जीवित तथा वस्तुगत बनाये गये (ऐतिहासिक परिस्थितियों, पूर्वाधारों, संस्थाओं के रूप में वस्तुगत) मानव कार्य की एकता। फ़िख़्ते सामाजिक और प्राकृतिक के बीच भेद को निरपेक्ष मानते हैं, वह सामाजिक, मानवीय को तात्विक में बदल देते हैं, जो प्रकृति का निर्धारक और जन्मदाता है।

फ़िख़्ते का आत्मगत-प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद वास्तविक प्रक्रिया को प्रकट करने के साथ-साथ इसे रहस्यमय भी बनाता है। वह इसकी अपरिमितता को आत्मगतवादी, संकल्पवादी विश्व-दृष्टिकोण की पुष्टि के रूप में देखते हैं: मानवजाति प्रकृति की स्वतःस्फूर्त शक्तियों को अपने वश में करती है तथा उन्हें अपनी, मानव-शक्तियों में बदल देती है। फ़िख़्ते के शब्दों में, "मैं प्रकृति का मालिक होना चाहता हूं और इसे मेरा सेवक होना चाहिए; मैं अपनी शक्ति के अनुरूप इसपर अधिकार रखना चाहता हूं, पर इसे मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं रखना चाहिए" (52,*3*,28-29)।

फ़िख़्ते ने अपनी विधि को द्वंद्वात्मक नहीं, प्रतिस्थापनात्मक कहा और इसके ज़रिये त्रिकात्मक संबंध – स्थापना, प्रतिस्थापना, संश्लेषण – की अपनी खोज पर ज़ोर दिया। लेकिन फ़िख़्ते के अनुसार, प्रतिस्थापना स्थापना के **विकास** का परिणाम नहीं है। प्रतिस्थापना का अस्तित्व स्थापना के अस्तित्व की पूर्वापेक्षा करता है, वैसे ही जैसे कि चुम्बक का एक ध्रुव दूसरे ध्रुव की पूर्वापेक्षा करता है। बेशक, विलोमों की सहसंबंधी एकता महत्वपूर्ण द्वंद्वात्मक संबंध है, लेकिन फ़िख़्ते के लिए यह एकमात्र संभव संबंध है। इसलिए वह विलोमों (स्थापना और प्रतिस्थापना) के संबंध की व्याख्या विकास की दृष्टि से नहीं करते। यहां तक कि वह संश्लेषण का वर्णन भी विकास की एक नयी अवस्था के रूप में नहीं, बल्कि इंगित विलोमों के मिलन-बिंदु के रूप में, सार्विकता के एक रूप से मिलती-जुलती किसी ऐसी चीज़ के रूप में करते हैं, जो उन्हें एकीकृत करती है। द्वंद्ववाद के एक विशेष रूप के तौर पर फ़िख़्ते की प्रतिस्थापनात्मक विधि का वर्णन करते हुए व० फ़० आस्मुस ठीक ही उल्लेख करते हैं कि "फ़िख़्ते की द्वंद्वात्मक विधि दो पारस्परिक रूप से निर्धारित तरीक़ों – प्रतिस्थापनात्मक और संश्लेष-

णात्मक – के बीच हेर-फेर से बनती है। **प्रतिस्थापनात्मक** तरीक़ा उस गुण की तलाश करता है, जिसमें तुलना की जानेवाली वस्तुएं एक-दूसरे का **विरोध** करती हैं। **सश्लेषणात्मक** तरीक़ा विलोमों में उस गुण की खोज करता है, जिसमें वे एक-दूसरे के **समान** होते हैं। संश्लेषण के बिना प्रतिस्थापना असंभव है और प्रतिस्थापना के बिना संश्लेषण" (13,96) । फिर भी, फ़िख़्ते के आत्मगत-प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद में विद्यमान अनिवार्य दोषों को इंगित करते हुए हमें उनकी सच्ची द्वंद्वात्मक अंतर्दृष्टि का कम मूल्यांकन नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन के एक पूरक के रूप में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि तीसरा मूल सिद्धांत प्रारंभिक आत्मगत-प्रत्ययवादी पूर्वाधार का खंडन करता है तथा पारस्परिक निर्धारण के बल पर यह सिद्ध करता है कि "अहम्" "निरहम्" का केवल **अंशतः** निर्धारण ही करता है। यह सही है कि आत्मगत प्रत्ययवाद की भाषा में इसका मात्र यह अर्थ है कि "अहम्" अपने स्व-अस्तित्व के सत्य की कल्पना "निरहम्" के द्वारा अंशतः निर्धारित चीज़ के रूप में करता है। लेकिन मूल चीज़ ज्यों की त्यों बनी रहती है: स्पष्टतः कार्य, प्रक्रिया, सत्ता, जो "अहम्" से स्वतंत्र हैं, न केवल "निरहम्" में, बल्कि स्वयं "अहम्" में भी अस्तित्व रखती हैं। हालांकि फ़िख़्ते के विचार में, "निरहम्" की संपूर्ण यथार्थता मात्र "अहम्" से स्थानांतरित यथार्थता, "अहम्" के "अपने ही प्रकार का अन्यसंक्रामण" (Entäussern) है, वह इस सत्ता को स्वीकार करने के लिए विवश हैं, जो परम विषयी से उत्पन्न होने के बावजूद उससे स्वतंत्र है: "वस्तुओं में कोई ऐसी चीज़ होनी चाहिए, जो हमारी धारणा से स्वतंत्र है, जो उन्हें हमारी सहायता के बिना एक-दूसरे में व्याप्त होने में समर्थ बनाती है" (52,*1*,370) । लेकिन कहीं उपरोक्त कथन को "वस्तु-निजरूप" की स्वीकृति न समझ लिया जाये, इसलिए फ़िख़्ते आगे कहते हैं: "लेकिन इस चीज़ का कारण कि हम उन्हें (वस्तुओं को – **ले०**) आपस में जोड़ते हैं, हममें, उदाहरणार्थ, हमारी अनुभूति में निहित होना चाहिए" (52,*1*,370) । फ़िख़्ते के आत्मगत-प्रत्ययवादी निष्कर्षों को अलग करते हुए हमें उनकी तर्कणा के बुद्धिसंगत पहलू – आत्मगत के वस्तुगत में द्वंद्वात्मक रूपांतरण – पर ज़ोर देना चाहिए। आत्मगत मानवीय सक्रियता के परिणाम एक

वस्तुगत प्रक्रिया बन जाते हैं, जो मनुष्य से स्वतंत्र है और उनके बाद की सक्रियता की परिस्थितियों को निर्मित और अंशतः निर्धारित करती है।

स्वभावतः फ़िख़्ते आत्मगत के वस्तुगत में रूपांतरण यानी मानव कार्य के वस्तुगतीकरण की आत्मगतवादी व्याख्या पेश करते हैं। लेकिन यह भी साफ़ है कि फ़िख़्ते द्वारा अन्वेषित यह द्वंद्वात्मक प्रक्रिया सामाजिक विकास की उस समझ का पथप्रदर्शन करती है, जिसमें भौतिक उत्पादन – मानवीय सक्रियता का वस्तुगतीकृत परिणाम – एक ओर, जीवित मानवीय सक्रियता है और दूसरी ओर, मनुष्यों से स्वतंत्र तथा एक आधार के रूप में उनके सामाजिक संबंधों को निर्धारित करनेवाली सक्रियता है।

फ़िख़्ते से आगे बढ़ते हुए हेगेल 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' में आत्मगत के वस्तुगत में रूपांतरण की वास्तविक अंतर्वस्तु को समझने के अत्यंत समीप आ गये थे। यह श्रम के सार की उनकी उल्लेखनीय परिभाषा में स्पष्ट था, जिसका मार्क्स ने उच्च मूल्यांकन किया। मार्क्स के शब्दों में, हेगेल "मनुष्य के **सार** के रूप में **श्रम** को समझते हैं, मनुष्य का ऐसा सार, जो कसौटी पर खरा उतरता है" (*1,3*,333) ।

अतः स्वयं लोग अपनी चेतना तथा संकल्प से स्वतंत्र वस्तुगत परिस्थितियों का सचमुच निर्माण करते हैं, जो प्राकृतिक पर्यावरण से भिन्न मानव अस्तित्व को निर्धारित करती हैं। बेशक, फ़िख़्ते विषयी से स्वतंत्र प्रकृति का उल्लेख तक नहीं करते, लेकिन वह प्रकृति को रूपांतरित करने और इसे मानव संकल्प के अधीन बनाने के विचार की हमेशा चर्चा करते हैं। इसी ढंग से वह "मनुष्य अपने इतिहास के निर्माता हैं" और "इतिहास मनुष्यों की चेतना या संकल्प से स्वतंत्र वस्तुगत नियमों द्वारा निर्धारित होता है" जैसी पारस्परिक रूप से प्रतीयमानतः अपवर्जक स्थापनाओं के बीच विरोध को हल करते हैं। उत्पादक शक्तियां मानवीय सक्रियता की उपज होती हैं, लेकिन चूंकि प्रत्येक नयी पीढ़ी पूर्ववर्ती पीढ़ियों द्वारा निर्मित उत्पादक शक्तियों को विरासत में पाती है, इसलिए यह उत्पादक शक्तियों अर्थात सामाजिक-ऐतिहासिक विकास की प्रेरक शक्तियों के अपने चयन में स्वतंत्र नहीं होती है।

अपनी सहज अनुध्यानात्मक प्रकृति के कारण पूर्व-मार्क्सवादी भौतिकवाद ने आत्मगत के वस्तुगत में रूपांतरण की उपेक्षा की और इस तरह विषयी की धारणा को क्षीण बनाया, जिसका वर्णन एकांगी रूप से, मुख्यतः बाह्य जगत् की वस्तुओं द्वारा प्रभावित एक विषय के रूप में किया गया। मानव इतिहास का वास्तविक आधार इस रूप में प्रकृति नहीं, बल्कि अपने संपूर्ण इतिहास में मानवजाति द्वारा भौतिक उत्पादन के ज़रिये निर्मित "द्वितीय प्रकृति" है। प्रसंगवश, इस धारणा को मनुष्य द्वारा रूपांतरित प्राकृतिक पर्यावरण पर ही नहीं, बल्कि स्वयं उसकी प्रकृति पर भी लागू करना चाहिए।

मार्क्स और एंगेल्स ने इस मौलिक तथ्य को न समझने के लिए फ़ायरबाख़ की आलोचना की तथा इसे सामाजिक संबंधों के उनके प्रकृतिवादी और, अंतिम विश्लेषण में, प्रत्ययवादी विचारों से जोड़ा। फ़िख़्ते के द्वंद्ववाद ने उन्हें उस चीज़ की व्याख्या करने में समर्थ बनाया, भले ही यह परिकल्पनात्मक, प्रत्ययवादी ढंग से निरपेक्ष रूप में क्यों न हो, जिसे फ़ायरबाख़ अपनी अधिभूतवादी सीमाओं की वजह से नहीं देख पाये। यह केवल फ़िख़्ते के दर्शन के ऐतिहासिक महत्व को ही नहीं, बल्कि उनके आत्मगत प्रत्ययवाद की ज्ञानमीमांसीय जड़ों को भी प्रकट करता है।

विषय और विषयी का वास्तविक द्वंद्ववाद अपने मौलिक, स्वाभाविक पूर्वाधार की हैसियत से मानवीय सक्रियता की पूर्ववर्ती और उससे स्वतंत्र उस यथार्थता के रूप में वस्तुगत के अस्तित्व की पूर्वापेक्षा करता है, जो लोगों द्वारा रूपांतरित की जाती है। फलस्वरूप, न केवल आत्मगत वस्तुगत का परिणाम है, बल्कि वस्तुगत भी (अपने निश्चित रूप में) विषयी द्वारा निर्मित और पुनरुत्पादित किया जाता है। एक निश्चित हद तक, फ़िख़्ते ने सामाजिक के इस विशिष्ट स्वरूप की **कल्पना** प्राकृतिक प्रक्रिया से भिन्न चीज़ के रूप में की, लेकिन इसके साथ ही उसे तोड़ा-मरोड़ा भी, क्योंकि उन्होंने "विषयी-विषय" संबंध का विवेचन ज्ञानमीमांसा के एक सिद्धांत के रूप में किया।

मूल सिद्धांतों के बारे में फ़िख़्ते की शिक्षा आकारगत तर्कशास्त्र के नियमों तथा प्रमुख दार्शनिक प्रवर्गों की प्रणालियों के निगमन का प्रस्थानबिंदु है। कांट ने इन नियमों और प्रवर्गों को मात्र चिंतन में

अस्तित्व रखनेवाले नियमों और प्रवर्गों के रूप में स्वीकार किया, लेकिन फ़िख़्ते इनकी व्याख्या आत्मगत और वस्तुगत के द्वंद्ववाद द्वारा निर्धारित रूप में करते हैं। जहां कांट ने अपना कार्यभार प्रवर्गों की तालिका तैयार करने, उन्हें निर्णयों के प्रमुख प्रकारों के अनुसार समूहबद्ध करने तथा प्रत्येक समूह के प्रवर्गों के अंतःसंबंधों को प्रकट करने तक सीमित किया, वहां फ़िख़्ते अगला क़दम उठाते हैं। वह प्रवर्गों को सोपानक्रमिक शृंखला बनानेवालों के रूप में देखते हैं, जिसमें समन्वय और अधीनता दोनों ही स्थान रखते हैं।

दर्शन के पहले मूल सिद्धांत को पुष्ट करते हुए फ़िख़्ते इसकी तुलना तादात्म्य के आकारगत तार्किक नियम से करते हैं। क क है (या क=क) स्पष्टतः तार्किक रूप से सही प्रस्थापना है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि क वास्तव में अस्तित्व रखता है। क के अस्तित्व की क्या शर्त है? आत्मगत प्रत्ययवाद के अनुसार, क की यथार्थता "अहम्" में सत्य मानी गयी है।

फ़िख़्ते के अनुसार, "प्रस्थापना क=क मूलतः केवल 'अहम्' के लिए अर्थपूर्ण है; यह दार्शनिक प्रस्थापना 'अहम्' 'अहम्' है से निर्गमित की जाती है; अतः कोई भी अंतर्वस्तु, जिस पर यह लागू है, 'अहम्' में निहित होनी चाहिए। इस प्रकार, कोई भी क 'अहम्' में सत्य माने गये अस्तित्व के अलावा और कुछ नहीं हो सकता और इसलिए हमारी प्रस्थापना निम्नलिखित होगी: जिस चीज़ का अस्तित्व 'अहम्' में सत्य माना गया है, वही सत्य माना गया है; अगर क के अस्तित्व को 'अहम्' में सत्य माना जाता है, तो यह अस्तित्वमान है (क्योंकि यही वस्तुतः वह चीज़ है, जो संभव, वास्तविक या आवश्यक के रूप में सत्य माना गया है), और इस तरह यह निर्विवाद रूप में सत्य है, अगर 'अहम्' को 'अहम्' होना चाहिए" (51,49)। निस्संदेह, कोई भी नियम ऐसे विषयों और शर्तों की पूर्वापेक्षा करता है, जो इसके अधीन होते हैं। इस मामले में फ़िख़्ते तादात्म्य के आकारगत तार्किक सिद्धांत को अधिभूतवादी रूप में परम बनाने का विरोध करते हैं और इसकी सापेक्षता को सिद्ध करते हैं। तादात्म्य के नियम के आधार के बारे में आत्मगत-प्रत्ययवादी विचार के सभी दोषों के बावजूद, आकारगत तार्किक नियमों और उनके वास्तविक महत्व (और सीमाओं)

की आलोचनात्मक व्याख्या (और प्रमाणीकरण) की आवश्यकता के बारे में प्रश्न उठाना एक दार्शनिक उपलब्धि है।

दूसरे और तीसरे मूल सिद्धांतों को पुष्ट करते हुए फ़िख़्ते अंतर्विरोध के नियम और अपवर्जित तीसरे के नियम की जांच करते हैं। आकारगत तर्कशास्त्र ने इन नियमों की व्याख्या स्वयंसिद्धियों के रूप में की। फ़िख़्ते इस दृष्टिकोण को जड़सूत्रवादी कहते हुए इस पर संदेह प्रकट करते हैं। उनके अनुसार, बौद्धिक अंत:प्रज्ञा इन नियमों की अकाट्य सत्यता को सिद्ध नहीं करती। केवल दर्शन के दूसरे और तीसरे मूल सिद्धांत उन्हें सही बनाते हैं और वह भी निश्चित सीमाओं के भीतर ही।

मूल सिद्धांतों का और आगे विश्लेषण सैद्धांतिक चिंतन के प्रमुख प्रवर्गों को प्रकट करता है, जो इस तरह न केवल निर्दिष्ट, परिगणित और वर्गीकृत किये जाते हैं, बल्कि परम विषयी की धारणा के तार्किक विकास द्वारा निगमित भी किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मूलतत्व की धारणा परम विषयी की धारणा की विस्तारित परिभाषा है, क्योंकि यह स्वयं अपने अस्तित्व को सत्य मानता है। लेकिन मूलतत्व की आत्मगत-प्रत्ययवादी धारणा इसे प्रकृति से पृथक करती है तथा इस तरह इसे अपनी विशिष्ट अंतर्वस्तु से वंचित कर देती है।

"अहम्" और "निरहम्" के बीच द्वंद्वात्मक संबंध का विश्लेषण सीमा, विभाज्यता और परिमाणात्मक निश्चितता की धारणाओं को निगमित करना संभव बनाता है। कोई भी परिसीमन एक भिन्न निश्चितता की परिभाषा और निषेध है। अत: सीमा की धारणा में यथार्थता और निषेध की धारणाएं शामिल हैं। "अहम्" और "निरहम्" पारस्परिक रूप से एक-दूसरे को प्रतिबंधित करते हैं और यह प्रतिबंध क्रिया पर प्रतिबंध है। यह अन्योन्यक्रिया और कारणता के प्रवर्गों को निगमित करने के लिए एक तार्किक आधार प्रदान करता है। कारणता के प्रवर्ग के निगमन की पुष्टि सक्रियता और निष्क्रियता के बीच भेद द्वारा की जाती है: "वह चीज़, जिसपर **सक्रियता** आरोपित की जाती है और इसलिए निष्क्रियता **नहीं** आरोपित की जाती है, **कारण** कहलाती है... वह चीज़, जिसपर **निष्क्रियता** आरोपित की जाती है और इसलिए **सक्रियता नहीं** आरोपित की जाती है, परिणाम कहलाती है..." (52,*1*,331)।

कांट के विपरीत फ़िख़्ते यह नहीं मानते कि कारण को आवश्यक रूप से परिणाम के पहले आना चाहिए ; उन्होंने कारणता की धारणा को काल के निगमन से पहले निगमित किया। दूसरे प्रवर्गों की भांति यह धारणा भी उस बहुविध अंतर्वस्तु से रहित है, जिसे १८वीं सदी के अंत का प्राकृतिक विज्ञान उसे पहले ही प्रदान कर रहा था। लेकिन फ़िख़्ते ने "अहम्" की व्याख्या परम के रूप में करते हुए इसे प्रकृति से पृथक् कर दिया और वह प्राकृतिक विज्ञान के आंकड़ों का उचित ढंग से उपयोग नहीं कर सके, हालांकि उन्होंने अपने समक्ष प्राकृतिक विज्ञान सहित सभी विज्ञानों के लिए आवश्यक सामान्य तथा विशिष्ट दोनों ही मूल सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखा।

फ़िख़्ते अपने को उपर्युक्त प्रवर्गों तथा आकारगत तर्कशास्त्र के नियमों को निगमित करने तक ही सीमित नहीं करते। चूंकि कांट के "वस्तु-निजरूप" के साथ फ़िख़्ते संज्ञान के प्रस्थान-बिंदु के रूप में इंद्रिय-अनुभूति के सिद्धांत से इन्कार करने के लिए विवश हैं, इसलिए उनके समक्ष इंद्रिय-अनुभूति के अस्तित्व को निगमित करने का कल्पनातीत कार्य प्रस्तुत होता है। लेकिन इस सूरत में, इंद्रिय-अनुभूतियां अनिवार्यतः अपना संज्ञानात्मक महत्व खो देती हैं। इससे फ़िख़्ते का यह दावा स्पष्ट हो जाता है कि 'वैज्ञानिक सिद्धांत **अनुभूति की पूरी-पूरी उपेक्षा करते हुए प्रागनुभविक** रूप से उस चीज़ का निगमन करता है, जिसे, इसके अनुसार, वस्तुतः अनुभूति में घटित होना चाहिए अर्थात अनुभवाश्रित होना चाहिए' (52,*3*,34) । यहां फ़िख़्ते कांट की तुलना में एक क़दम पीछे जाते हैं और यह कांट की दक्षिण पक्ष से आलोचना करने का अनिवार्य परिणाम है। कांट दृढ़तापूर्वक ज़ोर देते हैं कि "अनुभूति आवश्यक रूप से वह है, जिसका पूर्वानुमान किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता" (73,*3*,161) । फ़िख़्ते इस संवेदनवादी प्रस्थापना को अस्वीकार करते हैं। फ़िख़्ते ऐंद्रिकता की व्याख्या निष्क्रियता के रूप में करते हैं, जो अनुभावों के सिद्धांत की परिधि में आती है और फलतः वह व्यवहार, जिसकी वह चर्चा करते हैं, इंद्रियगत कार्य का यानी उस चीज़ का विरोधी है, जो यह वास्तव में है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधुनिक आलोचक अपने पूर्ववर्तियों

के तर्कों को दुहराते हुए दावा करते हैं कि द्वंद्ववाद मूलतः भौतिकवाद से मेल नहीं खाता। भौतिकवाद के इतिहास की उपेक्षा करते हुए अथवा उसे तोड़ते-मरोड़ते हुए, जिसके ढांचे में प्राचीन भौतिकवादियों ने द्वंद्वात्मक विचारों को पहले ही विकसित करना शुरू किया था, ये आलोचक फ़िख़्ते और हेगेल जैसे प्रत्ययवादियों का हवाला देते हैं। लेकिन वस्तुतः फ़िख़्ते का द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद ही (और इसी तरह हेगेल का प्रत्ययवाद भी) अपनी सभी उपलब्धियों के बावजूद सिद्ध करता है कि प्रत्ययवादी परिकल्पना उन मूल द्वंद्वात्मक विचारों को तोड़ती-मरोड़ती तथा रद्द करती है, जिनसे वह निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों की वजह से जुड़ी हुई है। शुद्ध "अहम्" की बौद्धिक अंतःप्रज्ञा यानी फ़िख़्ते के दर्शन का प्रस्थान-बिंदु चेतना के आविर्भाव, समेकन और विकास के वैज्ञानिक-दार्शनिक विश्लेषण की संभावना को समाप्त कर देता है। अनिवार्यतः, यह द्वंद्ववाद के सार को विकृत करता है। लेनिन के शब्दों में, "'अहम्' से दर्शन की शुरूआत नहीं की जा सकती। 'वस्तुगत गति' कोई नहीं होती है" (10,*38*,104)।

देश और काल भूतद्रव्य के अस्तित्व के रूप हैं, वे प्रकृति और समाज की गति, परिवर्तन और विकास की परिस्थितियां हैं। लेकिन फ़िख़्ते का परम विषयी, जिसकी कल्पना परम होने के नाते देश और काल के बाहर की जाती है, प्रकृति के द्वंद्ववाद तथा वस्तुगत सामाजिक संबंधों के अध्ययन में प्रस्थान-बिंदु नहीं हो सकता। फ़िख़्ते ने आम तौर से प्रकृति के दर्शन को त्याग दिया है; जहां तक इतिहास के दर्शन का संबंध है, तो यहां वह द्वंद्ववाद के सिद्धांतों से अत्यधिक भटक जाते हैं।

चूंकि परम विषयी प्रस्थान-बिंदु है, इसलिए दार्शनिक प्रणाली को वहीं समाप्त होना चाहिए, जहां से यह शुरू हुई थी; इस तरह इतिहास एक बंद वृत्त है, यानी यह परम पूर्णता प्राप्त करता है। फ़िख़्ते के विचार में, "वह मूल सिद्धांत, जिससे हम आगे बढ़ते हैं, अंतिम परिणाम भी है" (51,36)। समस्या के प्रति यह दृष्टिकोण तर्कबुद्धिवादी दार्शनिक प्रणाली के लिए अनिवार्य है: फ़िख़्ते के बाद हेगेल ने इसकी पुनरावृत्ति की। यह स्पष्ट है कि वह परिणाम, जो मूल प्रत्ययवादी स्थापना को पुनःस्थापित करता है, संज्ञान की संपूर्ण समझ तथा संपूर्ण दर्शन को प्रभावित करता है। हालांकि कांट के विपरीत फ़िख़्ते ने आत्म-चेतना

की एकता को निश्चित प्रगतिशील अवस्थाओं से गुज़रने वाली एक प्रक्रिया के रूप में समझा (और बेशक यह आगे का महत्वपूर्ण क़दम है), तो भी वह दावा करते हैं: "यह सिद्धांत अपने मूल पहलुओं में संपूर्ण मानव-ज्ञान को पूर्ण बनाता है... इसलिए इसमें किसी भी संभव विज्ञान का विषय सम्मिलित है... प्रत्येक अध्ययन, जिसे पूरा किया जाता है, प्रश्न का समाधान हमेशा के लिए कर देता है" (52,*3*,87)। फ़िख़्ते की कृतियों में ऐसे अधिभूतवादी वक्तव्य कम नहीं हैं: वे इतिहासेतर, अलौकिक विषयी की धारणा से उत्पन्न होते हैं।

यह भी स्पष्ट है कि परम ज्ञान (और परम शक्ति तथा परम शुभ) की धारणा अनिवार्यत: कर्तव्य और सत्ता, अपरिमित और परिमित के बीच अधिभूतवादी भेद की ओर ले जाती है। लेनिन इस संबंध में कहते हैं: "**कांट** तथा **फ़िख़्ते** का दृष्टिकोण (ख़ास तौर से नैतिक दर्शन में) उद्देश्य का, आत्मगत कर्तव्य का दृष्टिकोण है" (10,*38*,236) सत्ता और कर्तव्य के बीच यह अधिभूतवादी भेद, जो पहली दृष्टि में फ़िख़्ते के संकल्पवाद से मेल नहीं खाता, फ़िख़्ते के सिद्धांत की मूल प्रस्थापना में प्रकट होता है।

इस संबंध में हेगेल कहते हैं: "मैं अपने को परिभाषित पाता हूं और इसके साथ ही 'अहम्' स्वयं के बराबर है, यह अपरिमित यानी स्वयं के साथ अनन्य है। यह एक अंतर्विरोध है, जिसे, सच है, फ़िख़्ते हल करने की कोशिश करते हैं, परंतु उनके इस प्रयास के बावजूद वह मूल दोष, द्वैतवाद को अस्तित्व में छोड़ देते हैं। अंतिम चीज, जिसकी फ़िख़्ते चर्चा करते हैं, केवल कोई कर्तव्य है और यह अंतर्विरोध को हल नहीं करता, क्योंकि जिस समय में 'अहम्' को स्पष्टत: स्वयं के साथ होना चाहिए या स्वतंत्र होना चाहिए, उसी समय में वह, फ़िख़्ते के अनुसार, दूसरे के साथ भी पाया जाता है"(64,*15*,629)

अत: फ़िख़्ते की परम की समझ का अर्थ कर्तव्य को परम बनाना भी है, जिसकी व्याख्या ऐतिहासिक रूप से सीमित मानवजाति के लिए मूलत: अप्राप्य चीज़ के रूप में की जाती है। फ़िख़्ते ने लिखा: "...आदर्श वास्तविक जगत् में अप्राप्य हैं, हम केवल दावा करते हैं कि इन आदर्शों के आधार पर उन लोगों द्वारा यथार्थता का मूल्यांकन और संशोधन किया जाना चाहिए, जो ऐसा करने के लिए अपने को

समर्थ महसूस करते है" (52,*1*,220)। यह प्रस्थापना जर्मन बुर्जुआ वर्ग की शक्तिहीनता को प्रकट करती है, जो केवल उस चीज़ का सपना देख रहा था, जिसे दूसरे यूरोपीय राष्ट्र कर रहे थे।

फ़िख़्ते का प्रवर्गों का निगमन केवल अपनी अंतर्वस्तु के संबंध में चिंतन के इन रूपों की जांच करने, उनकी उत्पत्ति, प्रणाली के ढांचे में उनके पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करने की आवश्यकता के बारे में प्रश्न उठाने में ही द्वंद्वात्मक है। पर स्वयं प्रवर्गों की जांच गति के बाहर की जाती है तथा उनके पारस्परिक परिवर्तन फ़िख़्ते की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। वह परम विषयी की धारणा से सभी प्रवर्गों को निगमित करने को अपना मुख्य कार्यभार मानते हैं और इस तरह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि इस धारणा की स्वीकृति ज्ञान की प्रणाली के निर्माण के लिए सर्वथा आवश्यक है।

यह प्रत्ययवादी प्रस्थापना कृत्रिम तार्किक पदयोजना को आवश्यक बना देती है तथा प्रवर्गों की वास्तविक अधीनता, ऐतिहासिक प्रक्रिया के तार्किक प्रतिबिम्बन और अमूर्त से मूर्त की ओर आरोहण के अध्ययन से विचलित करती है। फ़िख़्ते के प्रवर्गों तथा सामान्यतः बाह्य जगत् की परिघटनाओं के निगमन का वर्णन करते हुए हेगेल ने ठीक ही लिखा: "यह साधारण उद्देश्यवादी जांच के द्वारा एक-दूसरे में शुद्धतः वाह्य संक्रमण है। इसके लिए निम्नलिखित विधि काम में लायी जाती है: आदमी को अनिवार्यतः खाना चाहिए, अतः किसी खाद्य पदार्थ का अनिवार्यतः अस्तित्व होना चाहिए। इसी तरीक़े से वनस्पतियों और जीवों को निगमित किया जाता है; वनस्पतियों को किसी चीज़ से उगना चाहिए, अतः पृथ्वी को निगमित किया जाता है। यहां स्वयं विषय की जांच बिल्कुल अपर्याप्त है, उस चीज़ की जांच, जो निज में है" (64,*15*,638)।

फ़िख़्ते के आत्मगत प्रत्ययवाद ने अंतर्विरोधों तथा विलोमों की एकता और पारस्परिक परिवर्तन की उनकी द्वंद्वात्मक समझ को भी प्रभावित किया है। फ़िख़्ते इस बात पर ज़ोर देते हैं कि अंतर्विरोध स्वभावतः आवश्यक हैं, कि उन्हें आकारगत तर्कशास्त्र द्वारा वर्णित भ्रामक अंतर्विरोधों से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए। द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध प्रगति की प्रेरक शक्ति है। लेकिन फ़िख़्ते की प्रणाली में अंतर्विरोध

केवल चिंतन में ही अस्तित्व रखते हैं। यहां तक कि विषयी और विषय के बीच अंतर्विरोध भी केवल आत्म-चेतना के अंदर अंतर्विरोध के रूप में, इसके दो हिस्सों में विभाजन के रूप में प्रकट होता है। इस दृष्टिकोण से अंतर्विरोध "अहम्" से उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें मूलतः किसी ऐसी चीज के रूप में नहीं माना जा सकता, जो मानव-चेतना के बाहर और उससे स्वतंत्र अस्तित्व रखती हो। इसलिए अंतर्विरोधों का समाधान केवल धारणाओं के पारस्परिक परिसीमन की तार्किक प्रक्रिया के रूप में, एक परिभाषा से दूसरी में संक्रमण के रूप में प्रकट होता है।

बेशक, यह प्रकृति के वस्तुगत द्वंद्ववाद में फ़िख़्ते की एकाध द्वंद्वात्मक अंतर्दृष्टियों को धुंधला नहीं बनाता। फ़िख़्ते ने लिखा: "लेकिन प्रकृति अपने निरंतर परिवर्तन में आगे बढ़ती है और जिस समय में मैं चुने हुए क्षण के बारे में बात कर रहा हूं, यह पहले ही आगे बढ़ चुका है और सब कुछ बदल गया है; ठीक ऐसे ही मेरे द्वारा इस क्षण को चुने जाने से पहले सब कुछ भिन्न था" (*52*,*3*,9)।

"तादात्म्य के दर्शन" में शेलिंग ने अंतर्विरोधों तथा उनके स्रोतों की फ़िख़्ते की व्याख्या के आत्मगतवाद को दूर करने का प्रयास किया। शेलिंग के अनुसार, अंतर्विरोध स्वयं प्रकृति में अस्तित्वमान हैं, लेकिन प्रकृति केवल अंतर्विरोधों के ज़रिये आत्म-सचेत "अहम्", बुद्धि में विकसित होने वाले परम विषयी की अचेत स्थिति है। एक वस्तुगत प्रक्रिया के रूप में द्वंद्ववाद की अपनी समझ में शेलिंग फ़िख़्ते से आगे जाते हैं, पर विषयी और विषय के निरपेक्ष तादात्म्य के बारे में उनका सिद्धांत, जिसे विकास का आद्य-स्रोत बताया जाता है, साफ़-साफ़ दिखाता है कि शेलिंग के वस्तुगत प्रत्ययवाद का मूल पूर्वाधार अधिभूत-वादी है तथा स्पष्टतः उनकी बाद की कृतियों पर हावी अतर्कबुद्धिवाद से मुक्त नहीं है।

हेगेल फ़िख़्ते के आत्मगतवाद और शेलिंग की परम उदासीनता दोनों ही की गहन आलोचना करते हैं। हेगेल की सत्ता और चिंतन के तादात्म्य की धारणा मूर्त तादात्म्य की धारणा है, जिसमें विलोमों के संबंध में विकसित होने वाली विभिन्नता, अंतर्विरोध शुरू से ही निहित है। हेगेल स्थापना, प्रतिस्थापना और संश्लेषण के आवश्यक

संबंध के बारे में फ़िख़्ते के विचारों को निषेध के निषेध के नियम से संबंधित सिद्धांत में विकसित करते हैं। फ़िख़्ते ने अपने प्रवर्गों के निगमन को कांट के इंद्रियातीत तर्क के विकास के रूप में देखा। हेगेल ने फ़िख़्ते के प्रवर्गों के निगमन को मूलतः नये ढंग से विकसित किया, जिसने द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र के निर्माण का मार्गदर्शन किया, भले ही यह भ्रामक, प्रत्ययवादी आधार पर क्यों न हो। द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र में हेगेल न केवल प्रवर्गों को निगमित करते हैं, बल्कि उनके विकास और पारस्परिक संक्रमण को, सरल से जटिल में, निम्नतर से उच्चतर में संज्ञान के संक्रमण को भी दिखाते हैं। लेकिन हेगेल का द्वंद्ववाद भी अधिक से अधिक केवल उन कार्यभारों को ही पेश कर सका, जिन्हें उसने पहले ही हल कर चुकने की घोषणा की।

द्वंद्ववाद का सिद्धांत, द्वंद्वात्मक विधि, द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र को शुरू में प्रत्ययवादी दर्शन के आधार पर तैयार किया गया। विकास के सर्वाधिक व्यापक और एकांगीपन से रहित सिद्धांत के रूप में द्वंद्ववाद एकबारगी अपने बुद्धिसंगत वैज्ञानिक रूप में नहीं प्रकट हुआ। मार्क्सवाद के संस्थापकों द्वारा निर्मित वैज्ञानिक, भौतिकवादी द्वंद्ववाद का मार्ग पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन के विकास की सभी अवस्थाओं से गुज़रता है।

बुद्धि की शक्ति के बारे में हेगेल का दर्शन

मार्क्सवादी सिद्धांत सर्वशक्तिमान है, क्योंकि यह सही है।

व्ला० इ० लेनिन

आधुनिक प्रत्ययवादी दर्शन, अक्सर प्रत्ययवाद को अंतिम रूप से समाप्त करने के अपने कार्यभार की घोषणा करते हुए, वास्तव में केवल इसके ऐतिहासिक तौर से प्रगतिशील रूपों का निषेध ही करता है। आधुनिक अतर्कबुद्धिवादी दार्शनिक तर्कबुद्धिवादी प्रत्ययवाद को, जो हमारे स्पष्टतः असंगत जगत् में मानवजाति को बुद्धि के भ्रामक राज का प्रलोभन देता है, विनाशक मानता है।*

प्रमुख अस्तित्ववादी दार्शनिक मार्तिन हाइडेगर के अनुसार, बुद्धि चिंतन की सबसे कट्टर दुश्मन है। अगर हम अतर्कबुद्धिवादी प्रत्ययवाद के तर्क का अनुसरण करें, तो बुद्धि आद्य, पूर्वअंतर्दर्शी और मानो प्रामाणिक चिंतन से पृथक् किसी चीज़ के रूप में, अन्यसंक्रामित चिंतन के रूप में प्रकट होगी। आधुनिक दार्शनिक अतर्कबुद्धिवाद का विश्लेषण दिखाता है कि तर्कबुद्धिवादी दर्शन के साथ इसका वाद-विवाद, जो ऐतिहासिक रूप से कालातीत बन चुका है, द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के ख़िलाफ़ लक्षित है। यही वजह है कि तर्कबुद्धिवादी परम्परा और इसके महानतम प्रतिनिधि हेगेल के प्रति मार्क्सवादी

---

*गाब्रिएल मार्सेल की आलोचना में ब० ए० बिख़ोव्स्की दिखाते हैं कि अस्तित्ववाद "प्रत्ययवाद की अस्वीकृति नहीं, बल्कि प्रत्ययवाद का विशिष्ट आमूलतः परिवर्तित रूप है, जिसके लिए आत्मा को भी ज्ञान के एक विषय के रूप में देखना असंभव है, क्योंकि यह इस तरह बुद्धिसंगत रूप से ज्ञेय स्तर तक 'नीचे उतर आता' है" (17,558) ।

दृष्टिकोण के बारे में प्रश्न वैज्ञानिक तथा वास्तविक विचारधारात्मक दिलचस्पी रखता है। वह इसलिए और भी अधिक स्पष्ट है कि हमारे समय में बुद्धि की प्रतीयमानतः परिकल्पनात्मक आलोचना ने "टेक्नोलॉजिकल निराशावाद" की विचारधारा में इंद्रियानुभविक तौर से ठोस रूप प्राप्त कर लिया है और वह प्रकृति के असंगत संसार में मानव-बुद्धि के मानो अहम्मन्य और आत्मघाती अतिक्रमण के रूप में वैज्ञानिक और टेक्नोलॉजिकल क्रांति की निन्दा करते हुए वास्तव में पूंजीवादी प्रणाली की सूक्ष्म हिमायत करती है।

बुद्धि की धारणा दर्शन की एक मूल धारणा है। प्राचीन युग में दर्शन को बुद्धि के दृष्टिकोण से संसार की जांच यानी यथार्थता की बुद्धिसंगत व्याख्या के रूप में समझा गया, जो पौराणिक विचारों तथा सामान्य चेतना के विपरीत बाह्य जगत् और अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रति बुद्धि द्वारा अनियंत्रित प्रभावों से मुक्त बुद्धिसंपन्न मनुष्य का रुख था।

मध्य युग ने बुद्धि को विश्वास के और दर्शन को धर्म के अधीन बना दिया। लेकिन थोमस एक्विनस ने भी घोषणा की कि विश्वास का स्रोत बुद्धि में है, हालांकि उनके अनुसार, बुद्धि दिव्य है न कि मानवीय।

बुर्जुआ क्रांतियों के काल में विकसित नव-युग के दर्शन ने गतिहीन सामंती सामाजिक उत्पादन द्वारा जनित विश्वदृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया। नये दर्शन के संस्थापकों ने विश्वास से स्वतंत्र बुद्धि की नयी धारणा पेश की। एक बुद्धिसंपन्न प्राणी के रूप में मनुष्य के भाग्य में प्रकृति का स्वामी बनना, बुद्धिसंगत आधारों पर समाज का पुनर्निर्माण करना और आत्मनियंत्रण करना सीखना बदा है।* मनुष्य की भूमिका की नयी, प्रगतिशील व्याख्या के ये सारे पहलू सामाजिक प्रगति की अवधारणा में अभिव्यक्त हैं। बुर्जुआ प्रबोधन ने दावा किया कि सामाजिक प्रगति बुद्धि की पूर्णता,

---

*मान्फ़्रेद बूर इसे फ़्रांसिस बेकन के सिद्धांत को उदाहरण के रूप में इस्तेमाल करते हुए सिद्ध करते हैं। बेकन के दर्शन के अधिकांश विशेषज्ञ उन्हें तर्कशास्त्र के तबाह सुधारक के रूप में देखते हैं। लेकिन

ज्ञान की वृद्धि, भ्रमों तथा अंधविश्वासों के निराकरण पर आधारित होती है।

हेगेल का दर्शन, बुर्जुआ सामाजिक चेतना के आरोही क्रमविकास का यह चरम बिंदु, बुद्धि की धारणा को सार्विक महत्व प्रदान करता है। हेगेल के शब्दों में, "बुद्धि **मूलतत्व** है यानी वह चीज़, जिसके द्वारा और जिसमें संपूर्ण यथार्थता अपनी सत्ता रखती है; बुद्धि **अपरिमित शक्ति** है, क्योंकि यह इतनी लाचार नहीं है कि अपने को आदर्श, कर्तव्य तक सीमित कर ले और केवल यथार्थता के बाहर, न मालूम कहां, कुछ लोगों के दिमाग़ों में किसी विशेष चीज़ के रूप में अस्तित्व रखे। बुद्धि **अपरिमित अंतर्वस्तु** है, संपूर्ण सार और सत्य है तथा यह स्वयं के लिए वह विषय है, जिसपर इसकी सक्रियता लक्षित होती है, क्योंकि परिमित सक्रियता के विपरीत, इसे अपनी क्रिया की अंतर्वस्तु और विषय प्राप्त करने के लिए प्रदत्त साधनों की बाह्य सामग्री की परिस्थितियों की आवश्यकता नहीं है" (63,*1*,28-29)।

हमारे समक्ष हेगेल के परम प्रत्ययवाद की आधारशिला है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति तथा वह सब, जो चिंतन नहीं है, मात्र चिंतन की बाह्य, अन्यसंक्रामित अभिव्यक्ति है। हेगेल लिखते हैं: सभी अलग-अलग परिमित चीज़ें "अपने में असत्य रखती हैं" क्योंकि उनका अस्तित्व "उनकी धारणा से मेल नहीं खाता"(64,*6*,52)। प्रत्येक परिमित चीज़ या परिघटना किसी दूसरी चीज़ पर निर्भर होती है। यह दूसरी चीज़ है वस्तुओं के लिए विशिष्ट परिसीमनों से स्वतंत्र बुद्धि, चिंतन। अतः हेगेल घोषणा करते हैं कि "केवल चिंतन ही सत्ता का सार है" (64,*6*,77)। वह बुद्धि का वर्णन चिंतन के रूप में करते हैं, लेकिन साथ ही वह इसका प्रामाणिक चिंतन के रूप में चिंतन से भेद भी दिखलाते हैं, जो स्वयं पर न कि बाह्य, इंद्रियगत रूप से अनुभूत अंतर्वस्तु पर लक्षित होता है। हेगेल के शब्दों में, बुद्धि "अपना स्वतंत्रतापूर्वक निर्धारण करनेवाला चिंतन है" (63,*1*,39)। इस प्रकार,

---

उनके सिद्धांत के बारे में मुख्य चीज़ और ही है। बूर दावा करते हैं: "बेकन तर्कशास्त्र के सुधारक नहीं, बल्कि **मानव-समाज के सुधारक** होना चाहते थे" (42,30)।

हेगेल का दर्शन बुद्धि, चिंतन को परम, सार्विक बनाता है और यह हेगेल के समय में प्रमाणित इस तथ्य को अस्वीकार करता है कि चिंतन मस्तिष्क का कार्य है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हेगेल सभी अस्तित्वमान चीज़ों को चिंतन करने की योग्यता प्रदान करते हैं, कि वह सर्वजीववादियों की भांति वस्तुओं को जीवित मानते हैं। उल्टे, हेगेल के विचार में, मनुष्य चेतना, बुद्धि और चिंतन से संपन्न एकमात्र जीवित प्राणी है। लेकिन वह दावा करते हैं कि बुद्धि को गुण के रूप में अर्थात इस या उस पिंड में निहित किसी चीज़ के रूप में, किसी गौण, अनुपूरक चीज़ के रूप में नहीं समझा जा सकता। न ही, हेगेल के विचार में, बुद्धि विशेष रूप से संगठित, जीवित भूतद्रव्य का गुणधर्म है। सभी जीवित चीज़ें परिमित हैं, वे जन्म लेती हैं और मरती हैं। पर बुद्धि ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो वैयक्तिक मानव-अस्तित्व के साथ पैदा होती और मरती है। हेगेल के अनुसार, बुद्धि को सही ढंग से समझने का अर्थ है इसे अतिमानवीय, अतिप्राकृतिक, अपरिमित और सार्विक रूप में समझना, जो फिर भी सभी प्राकृतिक, मानवीय, परिमित चीज़ों की तात्विकता को बनाती है। हेगेल ज़ोर देते हैं कि यह धर्म में पहले ही व्यक्त है, चाहे यथोचित ढंग से न हो; दर्शन सत्य को धारणा के रूप में यानी ऐसे ढंग से ग्रहण करता है, जो चिंतन की प्रकृति और फलतः सत्ता की प्रकृति के लिए यथोचित है।

हेगेल के अनुसार, वस्तुओं के परम सारतत्व के रूप में बुद्धि चिंतन की स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि यह वस्तुओं की भौतिक प्रकृति को अस्वीकार करता है, कि वे आत्मा, बुद्धि तथा चेतना में घुल-मिल जाती हैं। हालांकि वस्तुएं आत्मा की सृष्टियां बनायी जाती हैं, वे स्वयं आत्माहीन विषय बनी रहती हैं; ऐसी ही उनकी सत्ता है, क्योंकि वे आत्मा की प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हैं, सत्ता का रूपांतरित, अन्यसंक्रामित रूप हैं। हेगेल बुद्धि को आत्मिक का उच्चतम रूप मानते हुए बुद्धि तथा आत्मा के बीच भेद करते हैं। इस दृष्टिकोण से, भौतिक चीज़ें आत्मिक के निम्नतर, अन्यसंक्रामित रूपों, उनकी भिन्न सत्ता के तौर पर प्रकट होती हैं। इस तरह, भौतिक और आत्मिक के बीच भेद समाप्त नहीं होता, बल्कि उल्टे बना रहता

है, उसपर जोर भी दिया जाता है, कभी-कभी तो अत्यधिक रूप में। लेकिन इस भेद की व्याख्या सत्ता के उन दो परस्पर अपवर्जक रूपों में आत्मिक के विभाजन के परिणामस्वरूप क़ायम बाह्य संबंध के रूप में की जाती है, जो एक-दूसरे को निर्धारित करते हैं तथा चिंतन और सत्ता का अंतर्विरोधी तात्विक तादात्म्य बनाते हैं।

अतः ऊपर दिये गये बुद्धि के लक्षणों का संबंध मानव-बुद्धि से नहीं है, क्योंकि हेगेल एक वस्तुगत प्रत्ययवादी हैं। लेकिन हेगेल के अनुसार, मानव-बुद्धि प्रत्यक्षतः परम बुद्धि से संबद्ध है: यह परम बुद्धि की आत्मसाधना का उच्चतम रूप है। और यदि परम बुद्धि ईश्वर है, तो यह एक ऐसा ईश्वर है, जो अपनी अपूर्णता पर काबू पाता है। इसके अलावा, यह ईश्वर अपने को मनुष्य में पाता है और ईसा मसीह उसका प्रतीकात्मक रूप हैं।

हेगेल बुद्धि का वर्णन अपरिमित सक्रियता, अपरिमित अंतर्वस्तु, अपरिमित शक्ति, परम सार्विक के रूप में करते हैं। यह "कुछ लोगों के सिरों में कहीं" अस्तित्व नहीं रखती, न ही यह – और यह अधिक महत्वपूर्ण है – "यथार्थता के बाहर न मालूम कहां," है। इनमें से दूसरी टिप्पणी रूढ़िवादी ईश्वरवाद के खिलाफ़ लक्षित है, जो इस बात पर ज़ोर देता है कि दिव्य इहलोक का नहीं है, कि इहलोक का अस्तित्व मानो सांयोगिक है। हेगेल सिद्ध करते हैं कि अपरिमित बुद्धि और यथार्थता अंतिम विश्लेषण में अनन्य हैं। अतः उनके विचार में, "**सभी** दर्शन सर्वेश्वरवादी हैं, इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि संसार के भीतर होती है" (64,*14*,437) *।

---

*हम ज़ोर देना चाहेंगे कि सर्वेश्वरवाद, ख़ास तौर से अपने स्पिनोज़ी रूप में, जिसने हेगेल को गंभीर रूप से प्रभावित किया, मूलतः एक समष्टि के रूप में संसार की धर्म-विरोधी व्याख्या है। उदाहरणार्थ, सोवियत दार्शनिक इ० वसील्येव और ल० नाऊमेन्का स्पिनोज़ा के भौतिकवाद के अपने विश्लेषण में ज़ोर देते हैं: "यह वस्तुतः धर्मशास्त्र तथा धर्म की मूल धारणा का द्वंद्वात्मक विघटन है, जो धार्मिक-प्रत्ययवादी नीतिशास्त्र और ब्रह्मांडविज्ञान की आधारशिला को पूर्णतः नष्ट

अतः हेगेल स्पिोज़ा के सर्वेश्वरवादी भौतिकवाद की प्रत्ययवादी व्याख्या पेश करते हैं। वस्तुगत प्रत्ययवाद की भावना में विवेचित स्पिनोज़ा की मूलतत्व की धारणा, जैसा कि मार्क्स उल्लेख करते हैं, हेगेलीय प्रणाली का एक आधारभूत तत्व है।

हेगेल बुद्धि और दर्शन की इन सभी परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दर्शन के रूप में भौतिकवाद असंभव है। फिर भी, जैसा कि एंगेल्स ने बार-बार इंगित किया, हेगेल का प्रत्ययवाद सिर के बल खड़ा भौतिकवाद है (64,*3*,348)। इस विरोधाभासपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखे बिना हेगेल के दर्शन की वास्तविक अंतर्वस्तु, उनके **द्वंद्वात्मक** प्रत्ययवाद को समझना असंभव है, जो **कुछ** पहलुओं में **अधिभूतवादी** भौतिकवाद की अपेक्षा द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के अधिक निकट है। हेगेल दावा करते हैं कि ब्रह्मांड स्वकारण है, कि यह स्व-प्रणोदित है, हालांकि उनके विचार में, इस सार्विक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का स्रोत बुद्धि है, जो "विश्व की आत्मा है, यह उसमें रहती है, उसकी अंतर्वर्ती सत्ता, उसकी सच्ची आंतरिक प्रकृति, उसकी सार्विकता है" (64,*6*,46) *।

कर देता है। ईश्वर उसे धर्म द्वारा प्रदान किये गये सभी लक्षणों और गुणों को एक के बाद एक खो देता है और इन्हें तत्काल इनके वैध स्वामी मनुष्य को लौटा दिया जाता है। अन्त में, ईश्वर किसी भी निश्चयात्मकता से वंचित हो जाता है और सभी परस्पर निषेधकारी निश्चयात्मकताओं की अपरिमित समष्टि में पूर्णतः विलीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के पास नाम के अलावा और कुछ नहीं रह जाता" 18,64-65) ।

*यद्यपि कि ईसाई धर्मशास्त्री सामान्यतया ईश्वर को परम बुद्धि के रूप में पेश करते हैं, वे विश्व की व्याख्या एक असंगत चीज़ के रूप में करते हैं क्योंकि दिव्य की कल्पना (प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्र इसपर विशेष रूप से ज़ोर देता है) विश्व के परे की जाती है और यह इसका परम विलोम है। इसलिए यह बात समझ में आने योग्य है कि क्यों युवा मार्क्स हेगेल के बुद्धि के दर्शन को ईसाई धर्मशास्त्र के विपरीत रखते हैं और व्यंग्यपूर्ण ढंग से टिप्पणी करते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व

बुद्धि का हेगेलीय परम विवेचन सत्ता और चिंतन के द्वंद्वात्मक तादात्म्य के सिद्धांत पर आधारित है। हेगेल परंपरागत प्रत्ययवादी सूत्र – चिंतन आद्य है और सत्ता गौण – को एक नयी मूल प्रस्थापना में बदल देते हैं: चिंतन सत्ता है और सत्ता चिंतन। दर्शन के मौलिक प्रश्न के इस नये प्रत्ययवादी समाधान को एक महत्वपूर्ण विचार में अर्थपूर्ण बनाया जाता है: सत्ता और चिंतन का तादात्म्य **प्रत्यक्ष** स्वरूप नहीं धारण करता।

इस प्रकार, हेगेल दर्शन की मूल समस्या के प्रति परंपरागत प्रत्यय-वादी दृष्टिकोण की निराधारता को एक निश्चित हद तक स्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार, चिंतन (और सामान्य रूप मे सब कुछ आत्मिक) सत्ता से पहले आता है। पर वह भौतिकवादी समाधान को नहीं स्वीकार कर सकते। दोनों के बीच की स्थिति भी परम प्रत्यय-वाद से मेल नहीं खाती। अत: हेगेल का हल यह है: सत्ता चिंतन में निहित है, चिंतन को सत्ता से अलग नहीं किया जा सकता, सत्ता, अंतिम विश्लेषण में, चिंतन है।

हेगेल सत्ता के चिंतन में रूपांतरण को अग्रगति, परिवर्तन तथा विकास की वस्तुगत सार्विक प्रक्रिया के रूप में पेश करते हैं। सत्ता का यह आत्मीकरण सार्विक प्रगति की मुख्य दिशा है। विकास निज में अस्तित्वमान का निज के निमित्त अस्तित्वमान में संक्रमण है। अत:

के प्रमाण, जिनपर धर्मशास्त्री इतने आग्रहपूर्ण ढंग से अपना ध्यान संकेंद्रित करते हैं, निम्न प्रकार से "व्यक्त होने चाहिए: 'चूंकि प्रकृति बुरे ढंग से निर्मित की गयी है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है', 'चूंकि संसार बुद्धि-रहित है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है', ... लेकिन क्या इसका अर्थ यह नहीं है: **जिस व्यक्ति के लिए संसार बुद्धि-रहित है, या जो स्वयं बुद्धि-रहित है, उसी के लिए ईश्वर का अस्तित्व है? दूसरे शब्दों में, अबुद्धि ही ईश्वर का अस्तित्व है**" (1,*1*,105) । अत: हमें हेगेल की परम बुद्धि की सर्वेश्वरवादी धारणा तथा दिव्य की धर्मशास्त्रीय धारणा के बीच अंतर पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। यह अंतर इसलिए और आवश्यक है कि हेगेल ने अक्सर इसे जानबूझकर धुंधला बनाया।

हेगेल के अनुसार, सत्ता और चिंतन का तादात्म्य एक प्रच्छन्न पूर्वाधार तथा विकास की प्रक्रिया का स्पष्ट परिणाम है। दूसरे शब्दों में, सत्ता और चिंतन के तादात्म्य का हेगेलीय सिद्धांत विकास की तात्विक प्रकृति की खोज करता है और इस खोज को प्रत्ययवादी ढंग से रहस्यमय बनाता है।

सत्ता और चिंतन के तादात्म्य का अर्थ यह नहीं है कि दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, जैसा कि शेलिंग ने माना। बल्कि यह विलोमों का तादात्म्य है, अतएव यह इनके भेद अर्थात चिंतन और सत्ता के विलोम के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है। ऐसे तादात्म्य में उसका अपना निषेध निहित होता है; इसलिए यह तादात्म्य और भिन्नता की एकता है। लेकिन भिन्नता केवल तादात्म्य में अपने द्वंद्वात्मक निर्धारण के रूप में ही अस्तित्व रखती है। विलोमों का यह द्वंद्वात्मक संबंध आविर्भाव, आत्म-निर्धारण की निरंतर प्रक्रिया है। शेलिंग के तादात्म्य के दर्शन से मूल तादात्म्य की अपनी समझ की तुलना करते हुए हेगेल ज़ोर देते हैं कि "सच्चा दर्शन तादात्म्य का दर्शन नहीं है, यह दर्शन-विरुद्ध है... यह सक्रियता, गति, प्रतिकर्षण है – और अतः अपरिवर्तनीय तादात्म्य नहीं है; साथ ही यह स्वयं से अनन्य है"(64,*14*,332)। इस तरह, तादात्म्य के अंदर भिन्नता उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितना कि स्वयं तादात्म्य। और यदि सत्ता तथा चिंतन सारतः अनन्य हैं, तो वे सारतः भिन्न भी हैं। स्वयं मूलतत्व को तादात्म्य तथा भिन्नता की एकता के रूप में समझा जाना चाहिए।

आद्य द्वंद्वात्मक तादात्म्य की हेगेलीय धारणा केवल परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी संरचना नहीं है। इसमें सार्विकता के द्वंद्वात्मक रूपों की गहन समझ (और स्पष्टतः उसकी रहस्यमय विकृति) शामिल है, जिन्हें हेगेल ज्ञान के तार्किक रूपों में परिवर्तित करते हैं। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हेगेल के अनुसार, संज्ञान, केवल मानवीय कार्य नहीं, बल्कि सर्वोपरि परम "प्रत्यय" यानी प्रत्ययवादी ढंग से प्रतिपादित विश्व का सार्विक, तात्विक कार्य भी है।

अगर कांट प्रवर्गों को केवल इंद्रियगत अनुध्यानों को जोड़ने की विधियों के रूप में मानते हैं, तो हेगेल सिद्ध करते हैं कि प्रवर्ग स्वयं सत्ता के मूल निर्धारण हैं। वस्तुतः कारणता, आवश्यकता, आदि केवल

चिंतन के रूप ही नहीं हैं: वे ऐसे केवल इसलिए हैं कि उनमें सार्विकता के वस्तुगत रूप से अस्तित्वमान रूपों ने धारणात्मक अभिव्यक्तियां पायीं। यह सही है कि तार्किक प्रवर्ग सार्विकता के वस्तुगत रूप में अस्तित्वमान रूपों को केवल मोटे तौर पर ही व्यक्त करते हैं। लेकिन ज्ञान के विकास के साथ-साथ वे भी विकसित होते हैं और परिघटनाओं के बीच अन्योन्यसंबंधों को अधिकाधिक सही ढंग से व्यक्त करते हैं।

बेशक, हेगेल के लिए भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण से अविच्छेद्य प्रतिबिम्बन का ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत पराया है। लेकिन सत्ता और चिंतन के तादात्म्य (और भिन्नता) की उनकी धारणा ने प्रवर्गों (चिंतन) और चेतना से स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान तथा स्वयं सत्ता में अंतर्निहित सार्विकता के रूपों के बीच द्वंद्वात्मक संबंध की प्रत्ययवादी व्याख्या पेश की।

अधिभूतवादी भौतिकवादियों ने तार्किक रूपों की वस्तुगत अंतर्वस्तु की ओर इंगित किया और उनके विशिष्ट मानवीय, आत्मगत स्वरूप पर ज़ोर दिया। उन्होंने इस चीज़ पर कभी विचार नहीं किया कि चिंतन के रूप तथा अंतर्वस्तु अपनी सुस्पष्ट विजातीयता के बावजूद कैसे एक-दूसरे से मेल खाते हैं। हेगेल ने इस अंतर्विरोधी संबंध के अन्वेषण का बीड़ा उठाया। निर्णयों तथा परिकल्पनाओं की संरचना का विश्लेषण करते हुए वह निम्नलिखित स्थापना को प्रमाणित करते हैं: तार्किक रूप अपनी अंतर्वस्तु की भांति ही वस्तुगत हैं। लेकिन इस खोज के असाधारण महत्व को, जिसका लेनिन ने अपनी कृति 'दार्शनिक टिप्पणियां' में उल्लेख किया, इस तथ्य को धुंधला नहीं बनाना चाहिए कि हेगेल तार्किक रूपों की ज्ञानमीमांसीय वस्तुगतता को सत्तामीमांसीय बनाते हैं अर्थात् अपनी खोज की प्रत्ययवादी व्याख्या करते हैं।

सत्ता और चिंतन के द्वंद्वात्मक तादात्म्य के अंदर बुद्धि की स्व-सक्रियता सर्वोपरि निषेध के रूप में व्यक्त होती है। हेगेल के दर्शन में निषेध का द्वंद्ववाद, मार्क्स के अनुसार, प्रेरक और अंतर्वस्तु प्रजनक सिद्धांत है (1,*3*,332)। यह सच है कि निषेध किसी पूर्वाधार से, किसी **वक्तव्य** से प्रारम्भ होता है। अतः बुद्धि का पहला कार्य हमेशा प्राप्त चीज़ को अंकित करना, भिन्नता और समानता के संबंधों को प्रकट करना है। इस गुण में बुद्धि मात्र सहजबुद्धि है, जो "बुद्धिसंगत चिंतन

का आवश्यक चरण है" (64,*7*,356)। फिर भी, सहजबुद्धि अपने विषयों के क्षेत्र द्वारा तथा अस्तित्वमान चीज़ों के प्रति एकांगी सकारात्मक दृष्टिकोण द्वारा अनिवार्यतः सीमित होती है। यह परिघटनाओं, उनकी अन्योन्यक्रियाओं और अन्योन्यक्रियाओं द्वारा निर्धारित नियमों के स्तर पर बनी रहती है। सहजबुद्धि यह नहीं समझ सकती कि परिमित चीज़ें "अपनी सत्ता का आधार निज में नहीं, बल्कि सार्विक दिव्य प्रत्यय में रखती हैं" (64,*6*,97)। लेकिन दिव्य की इस चर्चा के साथ ही हेगेल सहजबुद्धि की सीमितता का पूर्णतः यथार्थवादी स्पष्टीकरण भी पेश करते हैं: सहजबुद्धि अपनी आत्मगतता और वैयक्तिकता में निश्चित बुद्धि है। दूसरे शब्दों में, सहजबुद्धि मात्र चिंतन करने वाला पृथक व्यक्ति है, जिसकी "चिंतनशील बुद्धि या बुद्धिमान सहजबुद्धि" अनिवार्यतः सीमित है (64,*3*,7)। हेगेल की भाषा में इसका अर्थ यह है कि सहजबुद्धि का अपने सार – परम बुद्धि से विरोध है।

सहजबुद्धि का सिद्धांत तादात्म्य का सिद्धांत है। लेकिन यह द्वंद्वात्मक तादात्म्य नहीं है, जो बुद्धि और सत्ता का सार है, अपितु आकारगत तादात्म्य, जो प्रारंभिक तर्कशास्त्र का उच्चतम सिद्धांत है। इस सिद्धांत का पालन निश्चित रूप से आवश्यक है, पर अर्थपूर्ण चिंतन के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है। चूंकि सहजबुद्धि-संबंधी चिंतन अंतर्विरोध को ऐसे हटाता है, जैसे कि यह तादात्म्य से मेल नहीं खाता, इसलिए यह किसी धारणा की परिभाषाओं को केवल उनके अमूर्तीकरण और फलतः उनकी एकांगी और सीमित प्रकृति में ही समझता है। अतः सहजबुद्धि-संबंधी चिंतन (और इसी तरह, आकारगत तर्कशास्त्र) के बुद्धिमत्तापूर्ण स्वरूप पर ज़ोर देते हुए हेगेल हमेशा आकारगत तर्कशास्त्र की आलोचना करते हैं और उच्चतर कोटि के तर्कशास्त्र के रूप में द्वंद्ववाद को इसके मुक़ाबले में रखते हैं। यहां तक कि कुछ मार्क्सवादी भी बहुधा आकारगत तर्कशास्त्र की हेगेलीय आलोचना की व्याख्या ग़लत ढंग से करते हैं। कुछ इस आलोचना में अतर्कबुद्धिवाद को छूट देखते हैं, वे इसपर आकारगत तर्कशास्त्र को कम महत्व देने, आकारगत तर्कशास्त्र के मुक़ाबले में द्वंद्वात्मक चिंतन को अनौचित्यपूर्ण ढंग से रखने का दोष लगाते हैं, जिसे भी आकारगत तर्कशास्त्र की प्रारंभिक मांगों का पालन करना चाहिए। इसके विपरीत, दूसरे लेखक आकारगत

तर्कशास्त्र की हेगेलीय आलोचना को यह मानते हुए धुंधला बनाते हैं कि हेगेल का आशय (हेगेल की स्पष्ट घोषणाओं के बावजूद) चिंतन की अधिभूतवादी, द्वंद्ववाद-विरोधी विधि की आलोचना से है। लेकिन यहां असल बात यह है कि हेगेल के अनुसार, बुद्धि में निषेध का सिद्धांत शामिल है: यह अपनी परिभाषाओं को द्वंद्वात्मक निषेध के अधीन लाते हुए अपनी आलोचना करती है। हेगेल की ग़लती आकारगत तर्कशास्त्र की आलोचना में नहीं, अपितु **बुद्धि की आत्मालोचना** की व्याख्या धारणा के आत्म-विकास की प्रागनुभविक अंतर्निहित प्रक्रिया के रूप में करने में है।

हेगेल के अनुसार, निषेध का सिद्धांत स्वयं बुद्धि की प्रकृति में निहित है, क्योंकि बुद्धि सहजबुद्धि का निषेध यानी अपने परिसीमनों का निषेध है। अंतिम विश्लेषण में, निषेध सकारात्मक और मूर्त है, क्योंकि एक वास्तविक चरण के रूप में अमूर्त, बुद्धिसंगत निषेध, जिसे संशयवाद द्वारा परम बनाया जाता है, स्वयं निषेध के अधीन है। निषेध का निषेध बुद्धि का तीसरा, संश्लेषणात्मक मीमांसात्मक चरण है, जो हेगेल के अनुसार, "निषेधात्मक-बुद्धिसंगत" को "रद्द करता" है और इस तरह "सकारात्मक-बुद्धिसंगत" का दावा करता है।

हेगेल के ये तर्क, जो पहली नज़र में बिल्कुल परिकल्पनात्मक प्रतीत होते हैं, पूर्णतः वास्तविक, विविध अंतर्वस्तुओं का सामान्यीकरण करते हैं, भले ही वे समान महत्व की नहीं हैं (जहां तक उनके बुद्धि-संगत तत्व का संबंध है)। सर्वोपरि, जैसा कि इसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, हेगेल "द्वंद्ववाद और आकारगत तर्कशास्त्र" के संबंध को द्वंद्वात्मक रूप से अंतर्विरोधी एकता, तादात्म्य तथा भिन्नता की एकता के रूप में समझने की कोशिश करते हैं, जो निश्चित परि-स्थितियों में पारस्परिक रूप से अपवर्जक तथा पारस्परिक रूप से निर्धारक विलोमों के संबंध में बदल जाती है। यह तथ्य कि आकारगत तर्कशास्त्र व्यक्ति की नृवैज्ञानिक "परिमितता" से जुड़ा है, बुद्धि के प्रामाणिक तर्कशास्त्र के रूप में द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की समस्या के प्रति हेगेल के दृष्टिकोण के बुद्धिसंगत अर्थ को धुंधला नहीं बना सकता, इसलिए और भी अधिक कि हेगेल के अनुसार, समाज के सदस्य के रूप में अपने निर्माण के दौरान तथा अपने आगे के विकास की वजह

से व्यक्ति सामाजिक समष्टि की अधिकाधिक अर्थपूर्ण और तात्विक अभिव्यक्ति है।

बुद्धि की नकारात्मकता, जो हेगेल के सुप्रसिद्ध त्रिक में अपनी आकारगत अभिव्यक्ति पाती है, सहजबुद्धि से अपने संबंध तक सीमित नहीं है। अस्तित्वमान चीज़ों के सभी रूप और, अतः सर्वोपरि प्रकृति, बुद्धि के परिमित निर्धारण हैं। आत्मा, जो प्रकृति का सार है, अब भी बुद्धि नहीं है। तो भी, प्राकृतिक परिघटनाओं की प्रणाली, इसके नियमों को बुद्धिसंगत रूप में पेश किया जाता है। उदाहरणार्थ, सौर-प्रणाली के नियमों का हवाला देते हुए हेगेल कहते हैं कि "वे इसकी बुद्धि हैं। लेकिन न सूर्य, न ही ग्रह, जो इन नियमों के अनुसार उसका चक्कर काटते हैं, उनके प्रति सचेत होते हैं" (63,*1*,37) । अतः बुद्धिसंगत प्रकृति की धारणा मात्र इसके नियमों की सार्विकता की प्रत्ययवादी व्याख्या है।* उसके साथ ही, यह बेशक साधारण, भोंडे उद्देश्यवाद के मुक़ाबले में विश्व की सूक्ष्म, उद्देश्यवादी व्याख्या है। साधारण उद्देश्यवाद के अनुसार, "भेड़ों की खाल ऊन से केवल इसलिए ढंकी होती है कि हम उससे कपड़े बुन सकें" (64,*7*,10) । हेगेल उद्देश्यवादी संबंध की व्याख्या यांत्रिक तथा रासायनिक प्रक्रियाओं की एकता के रूप में करते हैं। लेकिन जीवित प्रकृति में उद्देश्यता की भौतिक संरचना के संबंध में यह मेधावी कल्पना केवल प्रकृति की प्रत्ययवादी व्याख्या का एक हिस्सा है: हेगेल के अनुसार, आत्मा प्रकृति का लक्ष्य है और वस्तुतः इसी वजह से यह न केवल प्राकृतिक सत्ताओं के अनुक्रम में शीर्षस्थ होती है, बल्कि उनकी आधारशिला भी होती है। लेकिन यह भी सच है कि आत्मा कालसापेक्ष ढंग से, "इंद्रियानुभविक ढंग से" प्रकृति के पहले नहीं आती, "बल्कि इस ढंग से कि आत्मा,

---

*इस तरह के विचार प्रायः उन प्रकृति-वैज्ञानिकों के हैं, जो प्रत्ययवादी कदापि नहीं हैं। उदाहरणार्थ, लुई दे ब्रोइल के विचार में, "विश्व की बुद्धिसंगति की धारणा विज्ञान का मूल अभ्युपगम है" (39,353) । कहा जा सकता है कि यह स्थापना परिघटनाओं के अनिवार्य अंतःसंबंध, उनकी क्रमबद्धता तथा नियमों से उनकी अनुरूपता के बारे में वैज्ञानिक सिद्धांत की अप्रामाणिक अभिव्यक्ति है।

जो प्रकृति की कल्पना अपने से आगे करती है, हमेशा पहले से ही प्रकृति में विद्यमान होती है" (64,7,695) । प्रकृति को "परम प्रत्यय" की अन्यसंक्रामित सत्ता के रूप में परिभाषित किया जाता है तथा भूतद्रव्य की यांत्रिक गति से जीवन तक एक रेखा के रूप में प्रतिपादित प्राकृतिक अनुक्रम का वर्णन "परम प्रत्यय" द्वारा अपनी अन्यसत्ता या, हेगेल के शब्दों में, अपने अन्य के बोध के रूप में किया जाता है। इस प्रकार, प्रकृति का संज्ञान सत्ता तथा चिंतन के द्वंद्वात्मक तादात्म्य का बोध है, वह तादात्म्य, जो प्रकृति का सक्रिय आधार है। और प्रकृति का दर्शन (हेगेल का प्रत्ययवादी प्राकृतिक दर्शन) "परम प्रत्यय", विश्व-बुद्धि के इस मार्ग को उसके अन्यसंक्रामण से पुनरुत्पादित करता है। इसके अलावा, "प्रकृति का दर्शन स्वयं पीछे की ओर वापसी के इस मार्ग का अंग है, क्योंकि यह वही चीज़ है, जो प्रकृति तथा आत्मा के अलगाव (die Trennung) को रद्द करती है और आत्मा को प्रकृति में अपना सारतत्व स्थापित करने में समर्थ बनाती है" (64,7,23) । स्वभावतः हमें हमेशा यह ध्यान में रखना चाहिए कि हेगेल के अनुसार, दर्शन केवल संज्ञान का एक विशेष रूप नहीं है ; यह सर्वोपरि "परम प्रत्यय" की आत्म-चेतना है।

सो, परम प्रत्ययवाद के तर्क के अनुसार, प्राकृतिक बुद्धिसंगत है, लेकिन यह अब भी अपनी बुद्धिसंगति के प्रति सचेत नहीं है और अतः यह प्रत्यक्षतः इसके निषेध के रूप में प्रकट होता है। पर परिभाषा के अनुसार, बुद्धि अपने को बुद्धि के रूप में जानती है। अतः यह आत्मा है, जो स्वयं अपना बोध करती है।

आत्म-चेतन आत्मा या बुद्धि में संक्रमण हेगेलीय प्रणाली के ढांचे में "परम प्रत्यय" का उन्नयन है, जिसने संपूर्ण बहुविध प्राकृतिक, भौतिक पर विजय पा ली है और "परम आत्मा" अर्थात् मानवजाति तक पहुंच गया है। यह प्रत्ययवादी सिद्धांत पुराणकथा सरीखा है, फिर भी, इसमें गहन तथा अत्यंत महत्वपूर्ण द्वंद्वात्मक कल्पनाएं विद्यमान हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण **विकासमान मूलतत्व** का विचार है।

पूर्व-हेगेलवादी दर्शन ने मूलतत्व को सभी अस्तित्वमान चीज़ों के आद्य कारण, आद्य स्रोत के रूप में देखा। प्रत्ययवादियों ने इस परि-कल्पनात्मक धारणा को दिव्य आद्य कारण के विचार से जोड़ा। इसके

विपरीत, भौतिकवादियों ने मूलतत्व की धारणा की प्रकृतिवादी व्याख्या पेश की, लेकिन उन्होंने विकास के तात्विक स्वरूप को नहीं स्वीकार किया। ऐसा ही अंशतः स्पिनोज़ा का दृष्टिकोण था, जिन्होंने प्रकृति के तात्विक स्वरूप के विचार को सूत्रित किया। फिर भी, उन्होंने मूलतत्व – natura naturans – और natura naturata अर्थात् गति तथा परिवर्तन के अधीन वास्तविक वस्तुओं के जगत् को परम विलोमों के रूप में प्रस्तुत किया। १८वीं सदी के फ़्रांसीसी भौतिकवादियों ने अपने प्रतिभाशाली पूर्ववर्ती के असंगत दृष्टिकोण पर क़ाबू पाया और भूतद्रव्य की स्व-गति के सिद्धांत को सिद्ध किया। लेकिन उन्होंने भूतद्रव्य की स्व-गति को विकास से नहीं जोड़ा, जिसे उन्होंने भौतिक के अस्तित्व के सार्विक रूप के तौर पर नहीं देखा।

'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' में हेगेल ने पहले ही निम्नलिखित सिद्धांत को निरूपित किया: प्रारंभ को भी एक परिणाम, वस्तुतः विकास के एक परिणाम के रूप में समझा जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आत्मिक, हर हालत में अपने सर्वोच्च रूप में, विश्व-समष्टि के विकास का प्रारंभ-बिंदु नहीं, बल्कि उसकी उच्चतम प्राप्ति है। ईसाई पुराणकथा के विपरीत, जिसके साथ हेगेल उसकी गहन अंतर्वस्तु की खोज करने का दावा करते हुए औपचारिक रूप से हमेशा सहानुभूति प्रकट करते हैं (यह बहुधा उन कुछ अध्येताओं को धोखे में डालता है, जो हेगेलीय दर्शन की व्याख्या के बाह्य रूप तथा उसकी गूढ़ अंतर्वस्तु के बीच भेद, संभवतः अंतर्विरोध भी नहीं देखते), वह घोषणा करते हैं कि उच्चतम संपूर्ण ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। उच्चतम अपने सार्विक ऐतिहासिक विकास में स्वतंत्र, रचनात्मक मानव-बुद्धि है। इस दृष्टिकोण से, "परम प्रत्यय" प्रकृति का परम किंतु अचेत स्रोत है, जो प्रकृति के बाहर अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि प्रकृति इसकी सत्ता है।

हेगेल की कृति 'तर्कशास्त्र' की अपनी 'संदर्शिका' में लेनिन उनके निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत करते हैं: "...चूंकि प्रत्यय शुद्ध धारणा और इसकी यथार्थता की परम एकता के रूप में अपने अस्तित्व को मानता है और इसलिए यह अपने को **सत्ता** की प्रत्यक्षता में शामिल

करता है, तो समग्रता के इस रूप में यह **प्रकृति** है।" लेनिन इस प्रस्थापना को "अतिविलक्षण" कहते हैं और लिखते हैं: "तार्किक विचार का **प्रकृति** में संक्रमण। यह हमें भौतिकवाद की समझ के अत्यंत समीप ला देता है। एंगेल्स यह कहने में सही थे कि हेगेल की प्रणाली सिर के बल खड़ा भौतिकवाद है।" वह कुछ आगे लिखते हैं: "हेगेल के तर्कशास्त्र का **निष्कर्ष**, अंतिम शब्द और सारतत्व है **द्वंद्वात्मक विधि**। यह अत्यंत उल्लेखनीय है। एक बात और: हेगेल की इस **सर्वाधिक प्रत्ययवादी** कृति में **न्यूनतम** प्रत्ययवाद और **अधिकतम** भौतिकवाद है। यह 'अंतर्विरोधी' है, लेकिन सही है" (10,*38*,234)। भौतिकवाद तक लाने वाली इन प्रस्थापनाओं के बावजूद हेगेल बार-बार दुहराते हैं कि "परम प्रत्यय" अलौकिक, दिव्य है। ये वक्तव्य उनके आत्मगत विश्वास को प्रकट करते हैं, लेकिन वे मूलतत्व की समस्या के प्रति उनके द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण का खंडन करते हैं। यहां हेगेल की स्थिति स्पिनोज़ा की स्थिति से मिलती-जुलती है, जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि ईश्वर प्रकृति है।

एक अपरिमित प्रक्रिया के रूप में विकास की हेगेलीय समझ विकास की अंतिम पूर्ति के रूप में इसके किसी भी परिणाम की व्याख्या करने के सारे प्रयासों का निषेध है। हालांकि हेगेल द्वंद्ववाद के इस निरपेक्ष नियोग का, जिसे उन्होंने स्वयं निरूपित किया, हमेशा उल्लंघन करते थे, "हेगेलीय दर्शन का वास्तविक महत्व तथा क्रांतिकारी स्वरूप," एंगेल्स ज़ोर देते हैं, इसमें है कि "इसने मानव चिंतन और कार्य के परिणामों के अंतिम स्वरूप के बारे में सभी विचारों पर हमेशा-हमेशा के लिए प्राणघातक प्रहार किया" (3,*3*,339)।

इस तरह, अपने ऐतिहासिक विकास के पूर्ण परिमाण में बुद्धि मूलतत्व है, जो विषयी, आत्म-चेतना बन जाता है। प्रकृति के अलावा "परम बुद्धि" के अस्तित्व के परिमित, अन्यसंक्रामित क्षेत्र एक ओर, "आत्मगत आत्मा" और दूसरी ओर, "वस्तुगत आत्मा" हैं। ये विलोम – व्यक्ति और समाज – एकता बनाते हैं, जिसे "परम आत्मा" नाम दिया जाता है। आत्मगत आत्मा का विकास नृविज्ञान, फ़िनो-

मेनोलॉजी और मनोविज्ञान का विषय है, जो हेगेल की कृति 'आत्मा का दर्शन' का पहला भाग बनाते हैं। यहां मनुष्य को एक दैहिक, ऐंद्रिक प्राकृतिक सत्ता के रूप में, इसमें निहित सभी गुणों के साथ व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। वह पैदा होता है, निज में मनुष्य से निज निमित्त मनुष्य में रूपांतरित होता है तथा एक वयस्क मानव सत्ता के रूप में अपने अस्तित्व की परिस्थितियों द्वारा जनित अपने निजी उद्देश्यों को कार्यान्वित करने की कोशिश करता है। यह प्राणी मुसीबतें झेलता है, जीवन का आनंद लेता है, प्रेम और घृणा करता है, रोगग्रस्त होता है और अंत में मर जाता है। वैयक्तिक का विकास सार्विक से उसके अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाने, वैयक्तिक से सामाजिक तक उन्नयन में निहित है। यह धारणा व्यक्ति के सामाजिक सारतत्व की गहन समझ के साथ-साथ मनुष्य के ऐंद्रिक जीवन, उसकी आत्मगतता, "परिमितता" का कम मूल्यांकन व्यक्त करती है, जो तर्कबुद्धिवादी प्रत्ययवाद के लिए लाक्षणिक है।

हेगेल के अनुसार, वस्तुगत आत्मा आत्मगत आत्मा का सत्य है, केवल इस वजह से नहीं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, बल्कि सर्वोपरि इस वजह से कि मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता के नृवैज्ञानिक परिसीमनों के निषेध के साथ बुद्धि देश या काल में असीमित, स्वतंत्रतापूर्वक विकसित होती है। "वस्तुगत आत्मा" के रूप में बुद्धि अपने सार (स्वतंत्रता, तात्विकता) की चेतना की, मनुष्य की बुद्धिसंगत प्रकृति के लिए अधिकाधिक यथोचित राजकीय-विधिक रूपों तथा आर्थिक व्यवस्थाओं ("नागरिक समाज") की प्राप्ति की सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

हेगेल राज्य का एक बुद्धिसंगत, नैतिक संघटन के रूप में और विधि का अन्य बातों के अलावा निजी स्वामित्व पर आधारित स्वतंत्रता के रूप में वर्णन करते हैं। दासता और भूदास-प्रथा का उन्मूलन, निजी स्वामित्व की "अलंघनीयता", अंत:करण की स्वतंत्रता, सामंती विशेषाधिकारों की समाप्ति, सीमित नागरिक स्वतंत्रताओं की स्थापना और विधिक सुदृढ़ीकरण – हेगेल इन सबको "वस्तुगत आत्मा" के ध्येय की अंतिम पूर्ति के रूप में देखते हैं, बावजूद इसके कि, हेगेलीय

प्रणाली के अनुसार, जैसा कि एंगेल्स ने ध्यान दिलाया, "जिस तरह संज्ञान मानवजाति की किसी पूर्ण, आदर्श परिस्थिति में अंतिम निष्कर्ष नहीं पा सकता, उसी तरह इतिहास भी ऐसा करने में असमर्थ है; एक पूर्ण समाज, एक पूर्ण 'राज्य' ऐसी चीज़ें हैं, जो केवल कल्पना में ही अस्तित्व रख सकती हैं" (3,*3*,339)।

विदित है कि हेगेल ने राज्य को सांसारिक दिव्य सत्ता और विश्व-इतिहास को पृथ्वी पर ईश्वर की प्रगति कहा। ये भावात्मक घोषणाएं बेशक सांयोगिक नहीं हैं; यहां तक कि उनके शब्दाडंबरों ने भी जर्मन बुर्जुआ वर्ग की सामाजिक स्थिति को व्यक्त किया, जो पूंजीवादी प्रणाली के स्वतःस्फूर्त विकास पर अपनी आशाएं टिकाये हुए था तथा सामंती राजतंत्र से बुर्जुआ राजतंत्र में विकासवादी संक्रमण को सुनिश्चित बनाने की कोशिश कर रहा था। हेगेल की प्रणाली के इन सामाजिक-राजनीतिक पहलुओं पर ज़ोर देते हुए हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह "वस्तुगत आत्मा" को सार्विक, अपरिमित बुद्धि के परिमित, सीमित और मूलतः अब भी अन्यसंक्रामित रूप के तौर पर पेश करती है।

अपरिमित बुद्धि या "परम आत्मा", परम ज्ञान, जिसे परम के बोध के रूप में समझा जाना चाहिए, केवल कला, धर्म और दर्शन में अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति पाता है। केवल सृजनात्मक क्षेत्र में ही, जिसे हेगेल सचेत तथा उद्देश्यपूर्ण व्यावहारिक सक्रियता के सभी रूपों से ऊपर उठाते हैं, "चिंतन स्वयं के पास रहता है, स्वयं से मेल खाता है और स्वयं को अपने विषय के रूप में रखता है" (64,*6*,63)।

आत्मिक रचनात्मक क्रियाकलाप का भेद मानवीय सक्रियता के अन्य रूपों से दिखलाया जाता है, जिनके विषय भौतिक वस्तुएं होती हैं। यद्यपि यह भेद निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि हेगेल के अनुसार, भौतिक का सार आत्मिक है, यह भेद उनके विचारों की संपूर्ण प्रणाली के लिए महत्वपूर्ण है। विशेष रूप से, यह दिखाता है कि हेगेल सामाजिक यथार्थता की रोमानी निन्दा से बिल्कुल मुक्त नहीं हैं, जिसकी आलोचना वह स्वयं एक शक्तिहीन और आडंबरपूर्ण स्थिति के रूप में करते हैं। लेकिन प्रकटतः यह भेद-प्रदर्शन एक ऐसी प्रणाली के ढांचे में अनिवार्य

है, जो चिंतन के चिंतन को दर्शन के विषय के रूप में घोषित करता है।*

यह भी स्पष्ट है कि स्वयं में लीन शुद्ध चिंतन की धारणा केवल विचारों की प्रत्ययवादी प्रणाली पर ही लागू हो सकती है और वह भी केवल प्रत्ययवादी ढंग से प्रतिपादित तर्कशास्त्र पर ही, लेकिन कला और धर्म पर तो कदापि नहीं। हेगेल एक निश्चित हद तक इस बात के प्रति सचेत हैं और अंशतः यही कारण है कि वह दर्शन को "परम आत्मा" की उच्चतम सिद्धि के रूप में मानते हैं। परंतु कला और धर्म भी आत्मिक, बौद्धिक को अपने प्रत्यक्ष विषय के रूप में देखते हैं, जो कलात्मक तथा धार्मिक चेतना के विकास के साथ-साथ इंद्रियगत वेशों की निष्क्रियता पर अधिकाधिक क़ाबू पाता है ताकि अंततः शुद्ध आत्मा या शुद्ध बुद्धि के रूप में स्वयं के प्रति सचेत बने।

शुद्ध बुद्धि की धारणा, एक ओर, इंद्रियानुभविक अन्वेषण तथा इंद्रियों द्वारा अनुभूत यथार्थता के मुक़ाबले में परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी अमूर्तीकरण है। इस रूप में शुद्ध बुद्धि धार्मिक विचार से अनिवार्यतः जुड़ी हुई है, जिसके अनुसार ईश्वर, जिसने संसार की सृष्टि शून्य से की (शुद्ध चिंतन का पौराणिक आद्यरूप), पांडित्यवाद की शब्दावली

---

* दर्शन के विषय की हेगेलीय धारणा की ग़लत समझ से बचने के लिए हमें इस बात पर जोर देना चाहिए की दर्शन के विषय के रूप में चिंतन वह चीज़ नहीं है, जिसका अध्ययन आकारगत तर्कशास्त्र करता है। आकारगत तर्कशास्त्र चिंतन के रूपों का अध्ययन उनकी अंतर्वस्तु का ध्यान किये बिना करता है। इसके विपरीत, हेगेल चिंतन के अर्थपूर्ण रूपों में, चिंतन में प्रतिबिम्बित यथार्थता, संज्ञान तथा वस्तुगत यथार्थता में समान रूप से निहित सार्विक रूपों में दिलचस्पी रखते हैं। यही कारण है कि, उदाहरणार्थ, स्टोइकवादियों के तार्किक सिद्धांत की आलोचना करते हुए हेगेल ज़ोर देते हैं कि उनके लिए चिंतन के रूप "केवल आकारगत रूप हैं, जो अपने में कोई अंतर्वस्तु नहीं निर्धारित करते" (64,*14*,451) । हेगेल अपने को दर्शन के विषय के रूप में चिंतन की इस समझ से अलग करते हैं।

में actus purus* है। विदित है कि हेगेल दिव्य की इस परिभाषा का हवाला देते हैं और इसका समर्थन करते हैं।

पर यह उल्लेखनीय है कि "शुद्ध बुद्धि" यानी संपूर्ण तर्क-बुद्धिवादी दर्शन की मुख्य धारणा का निरर्थक धार्मिक पूर्वाधार में रूपांतरण ऐतिहासिक-दार्शनिक विश्लेषण के कार्यभार का अनिसर्गीकरण करना है। यह कार्यभार इस धारणा की वास्तविक न कि काल्पनिक अंतर्वस्तु को प्रकट करना यानी उस असलियत के बारे में प्रत्ययवादी ग़लती की आलोचनात्मक व्याख्या करना है, जिसकी खोज प्रत्ययवादी दर्शन ने की और जिसे तोड़ा-मरोड़ा भी।

१७वीं सदी का तर्कबुद्धिवाद घोषणा करता है कि बुद्धि (अर्थात वास्तविक मानव बुद्धि) असल में कभी ग़लती नहीं करती, बशर्ते कि यह अपने नियमों का पालन करे यानी स्पष्ट को स्पष्ट के रूप में स्वीकार करे तथा तर्कशास्त्र की मांगों को पूरा करे। इस दृष्टिकोण से ग़लती का कारण है इंद्रिय-अनुभूतियां, जो अपनी प्रकृति से ही भ्रामक होती हैं, भावावेग, जो सत्य की ज़रा भी परवाह नहीं करते, और इच्छा, जो वास्तविक की जगह वांछनीय को वरीयता देती है।

शुद्ध बुद्धि की तर्कबुद्धिवादी धारणा (क्या इसकी तुलना ग़लतियां करने में असमर्थ इलेक्ट्रॉनिक "बुद्धि" की कुछ आधुनिक धारणाओं से नहीं की जा सकती बशर्ते कि वह अपने समक्ष प्रस्तुत प्रश्नों के समाधान के लिए सभी आवश्यक सूचनाओं से लैस हो?) को "शुद्ध" गणित (और गणितीय भौतिकविज्ञान) की असाधारण उपलब्धियों के आधार पर सूत्रित किया गया। यह गणितीय चिंतन की दार्शनिक व्याख्या थी, जिसे तर्कबुद्धिवाद ने सार्विक तथा निदर्शनात्मक महत्व प्रदान किया। निस्संदेह, इस धारणा में एक बुद्धिसंगत तत्व सम्मिलित था, क्योंकि इसने "प्रामाणिक सूत्रों" पर आधारित विश्वास तथा दावों से बुद्धि की स्वतंत्रता को सिद्ध किया, भले ही यह विरोधाभास-पूर्ण तरीक़े से क्यों न किया गया हो। देकार्त का cogito, जो चिंतनशील व्यक्ति की आत्मचेतना को सत्य और भ्रम के बीच विवाद के हल में सर्वोच्च निर्णायक घोषित करता है, और अचूक बुद्धि में तर्कबुद्धिवा-

---

* शुद्ध कार्य। – **अनु०**

दियों का विश्वास एक ही प्रकार की परिघटनाएं हैं। उनका क्रांतिकारी वैज्ञानिक और विचारधारात्मक महत्व स्पष्ट है।

१८वीं सदी के अंत में, प्रारंभिक बुर्जुआ क्रांतियों के युग को पूरा करनेवाली अवधि में, कांट ने शुद्ध बुद्धि के तर्कबुद्धिवादी पंथ का विरोध किया। सर्वोपरि उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि शुद्ध गणित इंद्रियगत (ठीक-ठीक कहें तो प्रागनुभविक इंद्रियगत) प्रेक्षणों पर आधारित है। कांट ने शुद्ध बुद्धि – यानी जो इंद्रियगत सामग्री पर आधारित न हो – के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया, बल्कि सिद्ध किया कि यह अनिवार्यतः भ्रम (तर्काभास, विप्रतिषेध) में आ गिरती है, क्योंकि यह शुद्ध बुद्धि ही है। यह सब होते हुए भी कांट ने संज्ञान तथा नैतिकता के अधिक सामान्य, नियामक विचारों के स्रोत के रूप में शुद्ध बुद्धि की धारणा को बड़ा महत्व प्रदान किया।

वैयक्तिक चेतना से स्वतंत्र, किंतु केवल व्यक्तियों की चेतना में अस्तित्वमान शुद्ध (खास तौर से शुद्ध व्यावहारिक) बुद्धि का विश्लेषण दिखाता है कि यहां चर्चा (यदि हम अपने को अभिव्यक्ति की प्रत्ययवादी विधि से पृथक् कर लें) **सामाजिक चेतना** तथा मानवजाति द्वारा प्राप्त समग्र सैद्धांतिक ज्ञान की है। शुद्ध बुद्धि की धारणा के इस वास्तविक अर्थ को, जो किसी वैयक्तिक अनुभव से पहले आनेवाली प्रवर्गीय इंद्रियातीत चेतना की कांट की धारणा में पहले ही स्पष्ट है, हेगेल ने परम आत्मा के रूपों – कला, धर्म, दर्शन – के अपने सिद्धांत में पूर्णतः प्रकट किया और सुव्यवस्थित ढंग से विकसित किया।

अतः एक सुसंगत प्रत्ययवादी के रूप में हेगेल आत्मिक उत्पादन अर्थात् ज्ञान, कलात्मक मूल्यों के उत्पादन, स्वयं बुद्धि के विकास, आदि को परम बनाते हैं। चूंकि अपने परम, सत्तामीमांसीकृत रूप में बुद्धि को आद्य, तात्विक के तौर पर पेश किया जाता है, हेगेल मनुष्य के निर्माण में श्रम की भूमिका में अपनी सभी मेधावी अंतर्दृष्टियों के बावजूद इस चीज़ को समझने में सर्वथा असमर्थ हैं कि "जिस हद तक मनुष्य ने प्रकृति को बदलना सीख लिया है, उसी हद तक उसकी बुद्धि बढ़ी है" (9,231)। भौतिक उत्पादन को आत्मिक उत्पादन में बदल दिया जाता है और आत्मिक उत्पादन को शुद्ध बुद्धि की क्रिया

माना जाता है। यह, बेशक प्रत्ययवादी ढंग से, उत्पादन के सामाजिक स्वरूप पर ज़ोर देता है।

मार्क्स ने इंगित किया कि हेगेल श्रम को समाज में मानव व्यक्तित्व की निर्माण-प्रक्रिया के रूप में समझते हैं। लेकिन "एकमात्र श्रम, जिसे हेगेल जानते और स्वीकार करते हैं, **अमूर्त मानसिक** श्रम है" (1,*3*,333) । और बात केवल यह नहीं है कि हेगेल किसी भी श्रम में निहित बौद्धिक तत्वों को निरपेक्ष बनाते हैं या मनुष्य के उत्पादक कार्य के उच्चतम बौद्धिक रूपों को सामान्यत: श्रम के सार के तौर पर पेश करते हैं। मूल प्रश्न अत्यंत गहन है: आत्मिक उत्पादन को भौतिक उत्पादन के ऊपर उठाते हुए हेगेल बुर्जुआ समाज में मनुष्य के अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाने का मार्ग ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं।

चूंकि हेगेल मनुष्य के अन्यसंक्रामण के सही कारण – अन्यसंक्रामित श्रम का अस्तित्व – को देखने में असमर्थ हैं, इसलिए प्रत्ययवाद के तर्क (तथा सामान्यत: बुर्जुआ चिंतन के तर्क) के अनुसार, वह अन्य-संक्रामण के कारण को मनुष्य की आत्म-चेतना की विरोधी वस्तुओं के संसार में, और विशेष रूप से मानवीय सक्रियता के मूर्त उत्पादों में देखते हैं। मार्क्स के अनुसार, "अत:" हेगेल के लिए "प्रश्न **चेतना के विषय** पर क़ाबू पाने का है। **वस्तुगतता** को उसके इसी रूप में एक **अन्यसंक्रामित** मानव-संबंध के रूप में माना जाता है, जो **मनुष्य के सार** (आत्म-चेतना) से मेल नहीं खाता। अत: किसी परायी चीज़ के रूप में अन्यसंक्रामण के प्रवर्ग में उत्पादित मनुष्य के वस्तुगत सार का **पुनर्हस्तगतकरण** केवल **अन्यसंक्रामण** की समाप्ति को ही नहीं, बल्कि **वस्तुगतता** की समाप्ति को भी सूचित करता है." यानी मनुष्य अभौतिक, **आत्मिक** प्राणी माना जाता है (1,*3*,333-34)। अन्य-संक्रामण की व्याख्या और वर्णन में हेगेल इस पर क़ाबू पाने के किसी कारगर तरीक़े को इंगित करने में असमर्थ हैं। वह चेतना के अन्य-संक्रामण पर क़ाबू पाने के बारे में चर्चा भर करते हैं और यह वास्तविक जीवन में अन्यसंक्रामण को बनाये रखने की अपेक्षा करता है। चेतना, जो मानो अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाती है, अन्यसंक्रामित चेतना प्रतीत होती है (चूंकि यहां चर्चा धर्म और प्रत्ययवादी दर्शन की है), हालांकि

मार्क्स के अनुसार, "चिंतन में विस्थापन, जो अपने विषय को वस्तुतः अछूता छोड़ देता है, कल्पना करता है कि इसने उसपर सचमुच क़ाबू पा लिया है" (1,3,341)।

ऐसी स्थिति में, प्रामाणिक बुद्धि या "परम आत्मा" के हेगेलीय सिद्धांत के बारे में बुद्धिसंगत चीज़ क्या है? इस निबंध का उद्देश्य उतना कला, धर्म, दर्शन और इसके इतिहास की हेगेलीय समझ की अंतर्वस्तु का मूल्यांकन करना नहीं है, जितना कि उस चीज़ का अध्ययन करना जो, हेगेल के अनुसार, सामान्यतः सामाजिक चेतना और मानव ज्ञान के लिए लाक्षणिक है। आत्मिक के इन उच्चतर रूपों के ये लक्षण निषेध का द्वंद्ववाद, ऐतिहासिकता और विकास हैं। दूसरे शब्दों में, तात्विक के उच्चतर रूप विकास की समाप्ति की नहीं, बल्कि उल्टे एकांगीपन से मुक्त अपने पूर्णतम विकास की पूर्वापेक्षा करते हैं। इससे भी अधिक, हेगेल दावा करते हैं कि सच्चा विकास केवल "परम आत्मा" की अवस्था में ही होता है। यही कारण है कि विकास का प्रवर्ग 'तर्कशास्त्र' के सिर्फ़ तीसरे भाग में, धारणा के सिद्धांत में ही प्रकट होता है, जो हेगेल के अनुसार, जीवन का प्रत्यक्ष आधार है।

कांट यह दावा करते हुए कि शुद्ध बुद्धि के भाग्य में अपनी प्रकृति की वजह से ग़लती करना बदा है, इस चीज़ को स्पष्ट करने में असमर्थ रहे कि क्यों यह अपने में ज्ञान तथा नैतिकता के उच्चतम रूपों को सम्मिलित करती है। कांट इस अंतर्विरोध के प्रति पूर्णतः सचेत नहीं थे और उन्होंने इसे हल की जानेवाली एक समस्या के रूप में कभी नहीं पेश किया। परंतु हेगेल ने इसकी केवल व्याख्या ही नहीं की, बल्कि "परम आत्मा" के अपने सिद्धांत में इसका अपने ही ढंग का समाधान भी पेश किया।

हेगेल शुद्ध बुद्धि की अचूकता के बारे में तर्कबुद्धिवादी जड़सूत्र को एक स्थापना के रूप में मानते हैं; कांट का यह पूर्वाधार कि वस्तुतः शुद्ध बुद्धि ही भूल करती है, प्रतिस्थापना प्रतीत होती है। जहां तक शुद्ध, यानी मानवजाति में निहित बुद्धि के विकास के सिद्धांत का संबंध है, हेगेल इसे संश्लेषण के रूप में, निषेध के निषेध के रूप में पेश करते हैं। लेकिन मूल प्रश्न त्रिक के परिकल्पनात्मक रूप द्वारा समाप्त नहीं हो जाता। हेगेल शुद्ध बुद्धि में निहित निषेध के द्वंद्ववाद

की समझ (और अभिव्यक्ति) का ठोस रूप—**बुद्धि का ऐतिहासिक स्वरूप** का सिद्धांत—भी पाते हैं।

बुद्धि कम से कम अपने विकास के स्तर द्वारा सीमित है। बुद्धि का ऐतिहासिक स्वरूप, जिसकी खोज हेगेलीय विधि की असाधारण उपलब्धि है, स्पष्टतः बुद्धि की असंदिग्ध सार्विकता और अपरिमितता के उनके अभ्युपगम का विरोध करता है। लेकिन यह काल्पनिक नहीं, बल्कि वास्तविक अन्तर्विरोध है, जो ज्ञान की प्रेरक शक्ति है। अगर हम अलौकिक (चाहे प्रकृति से अविच्छेद्य) दिव्य आद्य कारण की प्रत्ययवादी कल्पना को छोड़ दें, तो प्रतीत होता है कि मूल चीज़ यह है कि "मानव चिंतन जितना सम्प्रभु है, ठीक उतना ही प्रभुताहीन भी है और ज्ञान प्राप्त करने की उसकी सामर्थ्य जितनी असीमित है, ठीक उतनी ही सीमित भी है। जहां तक मानव चिंतन की प्रकृति, उसकी प्रवृत्ति, उसकी संभावनाओं तथा उसके अंतिम ऐतिहासिक लक्ष्य का संबंध है, वह परम सत्तासंपन्न तथा असीमित है। जहां तक उसकी अलग-अलग सिद्धियों तथा किसी भी विशिष्ट क्षण में उसकी वास्तविकता का संबंध है, वह परम सत्तासंपन्न नहीं है और सीमित है" (8,106) । अतः हेगेल मानव चिंतन की प्रकृति को परम और दिव्य के रूप में तथा इसके ऐतिहासिक स्वरूप को इसके मानव अस्तित्व की तात्विक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिपादित करते हैं। लेकिन चिंतन (ज्ञान) की दोनों ही परिभाषाएं समान रूप से मौलिक हैं। और वस्तुतः हेगेल इसे अपने अभ्युपगमों के विपरीत सिद्ध करते हैं।

"परम आत्मा" या परम बुद्धि अपनी परिभाषाओं को सत्य के रूप में मानती है, लेकिन फिर स्थापना को प्रतिस्थापना के मुक़ाबले में रखते हुए और इन विलोमों को एक संश्लेषण में एकीकृत करते हुए, जो बुद्धि के विकास में एक नयी उच्चतर अवस्था बनाता है, उन्हें द्वंद्वात्मक निषेध के अधीन लाती है। हेगेल यह नहीं कहते कि बुद्धि ग़लती करती है और अपनी ग़लतियों पर क़ाबू पाती है: अभिव्यक्ति की यह विधि परम बुद्धि की गरिमा के अनुरूप नहीं है। लेकिन वास्तव में हेगेल सत्य और ग़लती के द्वंद्ववाद को प्रकट करते हैं तथा सिद्ध करते हैं कि बुद्धि की शक्ति इसमें है कि यह अपनी परिभाषाओं का असत्य के रूप में निषेध करती है और इसके ज़रिये सत्य को समझती

है, जिसका और आगे विकास द्वंद्वात्मक निषेध के द्वारा ही संपन्न होता है।

इस प्रकार, एक ओर, हेगेल संज्ञान की सार्विक प्रक्रिया की आवश्यक रूप से अंतर्विरोधी प्रकृति, इसके विकास को निषेध के निषेध के ज़रिये समझते हैं। लेकिन दूसरी ओर, वह इस वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रिया को रहस्यमय भी बनाते हैं, पहले, क्योंकि उन्होंने इसे प्रकृति तथा समाज के विकास के साथ गड्डमड्ड किया, दूसरे – जो बेशक बुद्धि के तात्विक बनने का परिणाम है – हेगेल संज्ञान के भौतिक रूप से निर्धारित विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को शुद्ध बुद्धि की आत्म-गति के रूप में पेश करते हैं। संज्ञान के विकास की हेगेलीय व्याख्या के इस मूल दोष के बारे में मार्क्स ने लिखा : "शुद्ध बुद्धि की गति किस में निहित है? उसके द्वारा अपनी कल्पना करने में, स्वयं अपना विरोध करने में, स्वयं अपने साथ मेल खाने में, स्थापना, प्रतिस्थापना और संश्लेषण के रूप में अपने को सूत्रित करने में या पुनः अपनी पुष्टि करने, अपना निषेध करने और अपने निषेध का निषेध करने में" (1,*6*,164) । मार्क्स मनुष्य की अतिमानवीय रूप में, ऐतिहासिक की अध्यैतिहासिक रूप में व्याख्या करने के हेगेल के प्रयास के दोष को प्रकट करते हैं, लेकिन साथ ही उन्होंने निषेध के द्वंद्ववाद के असाधारण महत्व पर भी ज़ोर दिया तथा हेगेल द्वारा अन्वेषित वस्तुगत यथार्थता के संज्ञान और विकास का संनियमन करने वाले इस नियम को प्रामाणिक रूप से सूत्रित किया। मार्क्स के अनुसार, द्वंद्ववाद में "वस्तुओं की वर्तमान स्थिति की समझ तथा सकारात्मक स्वीकृति के साथ ही साथ इस स्थिति के निषेध और उसके अनिवार्य विनाश की स्वीकृति भी शामिल है; क्योंकि द्वंद्ववाद ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित प्रत्येक सामाजिक रूप को सतत परिवर्तनशील मानता है और इसलिए उसके अस्थायी स्वरूप का उसके वर्तमान अस्तित्व से कम ख़्याल नहीं रखता है ..." (5,*1*,29) । लेनिन सकारात्मक द्वंद्वात्मक निषेध – संपर्क के चरण, विकास के चरण – को द्वंद्ववाद का एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं (10,*38*,225-26)।

बेशक, अपनी प्रणाली के प्रत्ययवादी पूर्वाधारों की वजह से हेगेल संज्ञान के ऐतिहासिक विकास की वास्तविक प्रेरक शक्तियों, सामाजिक-

आर्थिक प्रक्रिया द्वारा निर्धारित शक्तियों को प्रकट करने में असमर्थ हैं। संज्ञान का दैवीकरण वस्तुतः संज्ञान के इतिहास की समाजवैज्ञानिक व्याख्या को अस्वीकार करता है। और यह दावा कि दिव्य बुद्धि की सीमा में किसी विकास का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वह देश और काल के बाहर है, बुद्धि के ऐतिहासिक स्वरूप की प्रत्ययवादी धारणा को अत्यंत भ्रामक बनाता है।

हेगेल ठीक ही प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली के ऐतिहासिक स्वरूप पर ज़ोर देते हैं: वह इस ऐतिहासिक स्वरूप में न केवल इसकी सीमा, बल्कि इसके वास्तविक ऐतिहासिक महत्व को भी देखते हैं। लेकिन वह इस सिद्धांत को अपनी शिक्षा पर नहीं लागू करते। हेगेल के दावे के अनुसार, उनकी प्रणाली शुद्ध बुद्धि के आत्म-बोध को पूरा करती है। अतः वह उसी भ्रम के दोषी हैं, जिसके लिए उन्होंने ठीक ही अपने पूर्ववर्तियों की आलोचना की। तब हम दर्शन की ऐसी अंतिम प्रणाली की आवश्यकता की सैद्धांतिक पुष्टि के उनके प्रयास को कैसे स्पष्ट करें, जो दार्शनिक विकास को अंतिम रूप से पूर्ण बनाती है। यहां मर्म अहंकार, महत्वाकांक्षा में नहीं, बल्कि परम प्रत्ययवाद के सिद्धांत में है, जिसके अनुसार, परम बुद्धि अपनी अपरिमित शक्ति से जनित हर चीज़ में अपना पूर्ण बोध करती है। इसका अर्थ यह है कि अपनी सर्वेश्वरवादी व्याख्या के बावजूद धार्मिक पूर्वाधार दर्शन के इतिहास की सुसंगत द्वंद्वात्मक जांच को असंभव बनाते हैं। दर्शन के इतिहास का हेगेलीय दर्शन केवल विगत को ही स्वीकार करता है; वह दर्शन के भविष्य को अस्वीकार करता है।

लेकिन दर्शन के इतिहास की प्रक्रिया की पूर्ण पूर्ति के बारे में हेगेल की प्रस्थापना को अतिसरल नहीं बनाना चाहिए, जैसा कि, उदाहरणार्थ, व्यक्तिवादी पी० रिकेर ने किया। उनके विचार में, हेगेल के अनुसार, दर्शन का संपूर्ण पूर्ववर्ती विकास नियत ढंग से हेगेलीय प्रणाली पर ले जाता है और यह एकानुक्रमिक प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक प्रणाली हेगेलीय दर्शन का पूर्वानुमान करने का मात्र असफल प्रयास रही है (92,55-56) । वास्तव में, हेगेल ने अपने दर्शन को उस प्रक्रिया के चरमोत्कर्ष के रूप में देखा, जो युग-युगों से क्रमशः आगे बढ़ती आयी थी। उन्होंने अपना श्रेय उन समस्याओं के समाधान में नहीं माना,

जिन पर उनके पूर्ववर्तियों ने बेकार माथापच्ची की थी, बल्कि वस्तुतः उनकी उपलब्धियों की पूर्ति करने में माना। यह सही है कि हेगेल का संपूर्ण दर्शन एक निश्चित अर्थ में पूर्व-हेगेलीय दर्शन का परिणाम है: उन्होंने इसे एक प्रणाली में संगठित किया। अनुक्रम की द्वंद्वात्मक व्याख्या पर ज़ोर दर्शन के इतिहास की हेगेलीय धारणा की मुख्य विशेषता है।

बेशक, परम ज्ञान की, जो हेगेल के अनुसार, दर्शन के इतिहास की प्रक्रिया को पूरा करता है, व्याख्या इस अर्थ में नहीं की जानी चाहिए कि मानो दार्शनिक के दृष्टिकोण से एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली गयी है, जहां सभी चीज़ें ज्ञात हो चुकी हैं और गणितज्ञों, भौतिकवैज्ञानिकों तथा अन्य वैज्ञानिकों के लिए करने के लिए कुछ नहीं रह गया है। हेगेल के विचार में, परम ज्ञान परम, केवल परम का बोध यानी बुद्धि द्वारा अपने सार का तथा इसके अलावा सभी अस्तित्वमान चीज़ों के सार के रूप में बोध है। इस प्रत्ययवादी निष्कर्ष का दोष स्पष्ट है, पर यह भी स्पष्ट है कि संज्ञान अपने विकास के दौरान अपनी उपलब्धियों का स्वभावतः अतिक्रमण करते हुए स्थायी महत्व के नतीजे भी प्राप्त करता है (स्पष्टतः किसी भी ज्ञान की सीमाओं की द्वंद्वात्मक सापेक्षता के भीतर ही)। हेगेल की प्रणाली में परम ज्ञान की धारणा ज्ञान के परिमाण का नहीं, बल्कि उसके विशिष्ट गुण का वर्णन करती है। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि परम की हेगेलीय धारणा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के लिए मान्य है। परम ज्ञान की धारणा का दोष इस बात में भी है कि यह मुख्यतः दर्शन यानी ज्ञान के ऐसे क्षेत्र से संबंध रखती है, जिसमें यह अपने अध्ययन के विषय के ढांचे में सीमित किसी विद्या-विशेष से कम लागू होती है। लेकिन हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दर्शन परम का अध्ययन करता है, चाहे इस अर्थ में ही कि भूतद्रव्य की गति, परिवर्तन और विकास परम हैं।

संज्ञान के विकास के निश्चित परिणामों के शाश्वत मूल्य की समस्या और संज्ञान के द्वंद्वात्मक निषेध के सिद्धांत को एक-दूसरे के मुक़ाबले में नहीं रखा जा सकता। निषेध की द्वंद्वात्मक समझ का अर्थ है इसकी सापेक्षता की समझ। यह स्वयं निषेध के निषेध की पूर्वापेक्षा करती है, जो "जीवंत, फलप्रद, सच्चे, शक्तिशाली, सर्वशक्तिमान,

वस्तुगत, परम मानव संज्ञान" (10,*38*,363) की प्रक्रिया में घटित होता है। हेगेल के दर्शन के आलोचनात्मक विश्लेषण में व्यक्त लेनिन का यह विचार वैज्ञानिक संज्ञान के महत्वपूर्ण परिणामों की शाश्वत सत्यता की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी परिभाषा है। इसलिए परम ज्ञान की हेगेलीय धारणा में निहित सत्य के तत्व को निरपेक्ष सापेक्षवाद के मुक़ाबले में रखा जाना चाहिए, जो आधुनिक बुर्जुआ दर्शन में व्यापक रूप से फैला हुआ है और जो, उदाहरणार्थ, कार्ल पोप्पेर की भांति, दावा करता है कि "विज्ञान में हमारे पास इस विश्वास के लिए पर्याप्त आधार कभी नहीं होता कि हमने सत्य पा लिया है... प्लेटो तथा अरस्तू के शब्दों में कहा जा सकता है कि हमने विज्ञान में 'राय' पायी है। इसके अलावा, इसका अर्थ यह है कि विज्ञान में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं होता (बेशक गणित और तर्कशास्त्र को छोड़कर)" (91,*2*,13)।

जिन बुर्जुआ क्रांतियों में नूतन की स्थापना और पुरातन की अस्वीकृति एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की अभिन्न, पारस्परिक पूरक पक्ष थीं, उन क्रांतियों के युग के दर्शन के रूप में हेगेल के दर्शन का सही अर्थ बुद्धि की असीमित शक्ति के बारे में उसकी प्रस्थापना में निहित है। मानव और दिव्य बुद्धि के बीच भेद, जिसके बारे में हेगेल अक्सर वाद-विवाद करते हैं, अंतिम विश्लेषण में द्वंद्वात्मक विकास के तर्क द्वारा मात्र तादात्म्य के अंदर विद्यमान विभिन्नता प्रकट होता है। परम मानवीय में कार्यान्वित होता है, क्योंकि परम बुद्धि मानवजाति की अवैयक्तिक, पुंजीभूत बुद्धि, उसके असीमित रूप से विकासमान सक्रिय संज्ञान के अलावा और कुछ नहीं है, जो असंगत को बुद्धिसंगत में बदल देता है, इस बुद्धिसंगत का अपनी बारी में अधिक बुद्धिसंगत द्वारा अनिवार्यतः अतिक्रमण किया जाता है। पहली नज़र में सांयोगिक प्रतीत होने वाला हेगेल का यह वक्तव्य कि "ईश्वर और मनुष्य सामान्यतः एक-दूसरे से उतने पराये और दूर नहीं हैं" (64,*14*,305), वस्तुतः उनके अपने विश्व-दृष्टिकोण की मूल अंतर्वस्तु को प्रकट करता है। वह इस विचार को अपनी एक दूसरी कृति में भी पेश करते हैं: "दिव्य प्रकृति मानव प्रकृति से भिन्न नहीं है" (61,266)। हेगेल के अनुसार, दिव्य, अवश्यंभावी, अपने विशिष्ट मानव रूप में बुद्धि-

संगत सहित बुद्धिसंगत अंततः परस्पर मेल खाते हैं। एक प्रक्रिया के रूप में समझा गया यह मेल मानव इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु है।

हेगेल के इस विश्वास को कि "बुद्धि संसार पर शासन करती है और इसलिए विश्व-इतिहास की प्रक्रिया को बुद्धिसंगत ढंग से पूरा करती है" (63,*1*,28), बुद्धि की द्वंद्वात्मक प्रकृति को ध्यान में रखते हुए समझा जाना चाहिए, जिसकी शक्ति, विकास के वस्तुगत तर्क के अनुसार, स्वीकृति और निषेध में समान रूप से व्यक्त होती है। इस संबंध में यह उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि एंगेल्स ने हेगेल की प्रणाली की महान सेवा इस चीज़ में देखी कि "उन्होंने समस्त प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं बौद्धिक जगत् का एक प्रक्रिया के रूप में अर्थात निरंतर गति, परिवर्तन, रूपांतरण और विकास में निरूपण किया और इस गति और विकास के आंतरिक संबंध को खोजने की चेष्टा की। इस दृष्टिकोण से मानवजाति का इतिहास ऐसे बुद्धि-हीन, हिंसात्मक कार्यों का एक अर्थहीन चक्रवात नहीं प्रतीत होता था, जो परिपक्व दार्शनिक बुद्धि के न्यायालय में समान रूप से निन्दनीय थे और जिनको यथाशीघ्र भूल जाना ही उचित लगता था; इसके विपरीत, इतिहास स्वयं मानवजाति के विकास की प्रक्रिया प्रतीत होने लगा था। अब बुद्धि का काम यह था कि यह प्रक्रिया जिन तमाम टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुज़रती है, उनका पता लगाये, इस क्रमिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करे और ऊपर से आकस्मिक प्रतीत होने वाली इसकी समस्त परिघटनाओं में अंतर्निहित नियमितता को खोजकर निकाले" (8,34)। बुद्धि की शक्ति के बारे में हेगेल के सिद्धांत की बुद्धिसंगत अंतर्वस्तु की यह मार्क्सवादी भौतिकवादी व्याख्या उनके इस सिद्धांत के धर्मशास्त्र-विरोधी पहलुओं को अधिक गहराई से समझना संभव बनाती है।

यथार्थ की बुद्धिसंगतता और बुद्धिसंगत की यथार्थता के बारे में हेगेल की सुप्रसिद्ध स्थापना द्वारा जनित अनेकानेक भ्रमों और ग़लत-फ़हमियों (इसकी निराधार व्याख्या की तो बात ही जाने दें) के बारे में हम सभी जानते हैं। लेकिन यदि हम हेगेल द्वारा किये गये वास्तविक तथा सिर्फ़ अस्तित्वमान चीज़ों के बीच मौलिक भेद को ध्यान में रखें,

तो हम आसानी से देख सकते हैं कि इसका संबंध ऐतिहासिक रूप से आवश्यक से है और कि बुद्धि की शक्ति स्वीकृति और निषेध में समान रूप से व्यक्त होती है। इसलिए, जैसा कि एंगेल्स ने स्पष्ट किया, "विकास के दौरान वह सब, जो पहले वास्तविक था, अवास्तविक बन जाता है, अपनी आवश्यकता, अपने अस्तित्व का अधिकार और बुद्धिसंगतता खो देता है।" अतः बुद्धिसंगत भी ऐतिहासिक है और केवल संज्ञान के क्षेत्र में नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक विकास में भी। इसका अर्थ यह है कि, एंगेल्स आगे कहते हैं, "उस हर चीज़ के भाग्य में, जो मनुष्यों के मस्तिष्क में बुद्धिसंगत है, वास्तविक होना बदा है, भले ही यह प्रत्येक अस्तित्वमान वास्तविकता का कितना ही खंडन क्यों न करे" (3,*3*,338)।

जो आधुनिक बुर्जुआ सिद्धांतकार सामाजिक प्रगति का विरोध करते हैं, वे बुद्धि में हेगेल के विश्वास को भोला-भाला, अनालोचनात्मक और काल्पनिक कहकर उपेक्षा करते हैं। वे दावा करते हैं कि हेगेल ने वास्तविक की बुद्धिसंगतता में विश्वास किया, लेकिन बुद्धिसंगत अवास्तविक तथा वास्तविक अबुद्धिसंगत प्रकट होता है।

हेगेल के अतर्कबुद्धिवादी आलोचकों के अनुसार, सामाजिक संबंधों के बुद्धिसंगत पुनर्निर्माण का अर्थ है समाज तथा मानव-व्यक्तित्व का नौकरशाही जोड़तोड़ की वस्तुओं में रूपांतरण। इस दृष्टिकोण से, वास्तविकता बन चुकी कल्पना सबसे बुरी बुराई है। अतः हेगेल के दर्शन की आधुनिक बुर्जुआ आलोचना मूलतः बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपने विगत की प्रगतिशील दार्शनिक परम्पराओं का परित्याग है। इस आलोचना का प्रतिक्रियावादी स्वरूप इस चीज़ में स्पष्ट है कि वह वस्तुतः आधुनिक पूंजीवाद की यथास्थिति की भी नहीं, बल्कि प्राक्-यथास्थिति की रक्षा करती है। इस संबंध में सोवियत दार्शनिक म० ब० मीतिन ध्यान दिलाते हैं: "हेगेल के ऐतिहासिक आशावाद, सामाजिक प्रगति की उनकी द्वंद्वात्मक रूप से ठोस धारणा, बुद्धिसंगत की साध्यता में उनके विश्वास को भोले-भाले तर्कबुद्धिवादी भ्रमों के रूप में नामंज़ूर किया जाता है। उनके मुक़ाबले में अशुभ चेतना की धारणा रखी जाती है, जिसका, जैसा कि ज्ञात है, हेगेल के सिद्धांत में 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी'

में भी गौण स्थान है, 'तर्कशास्त्र' या 'इतिहास का दर्शन' की तो बात ही क्या है" (30,149-50) ।

१७वीं सदी के तर्कबुद्धिवादियों और १८वीं सदी के प्रबोधन के बुर्जुआ दार्शनिकों के विपरीत बुद्धि में हेगेल का अनालोचनात्मक विश्वास नहीं था। बुद्धि की उनकी द्वंद्वात्मक समझ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज़ – विकास, अंतर्विरोध और निषेध का सिद्धांत – बुद्धि की सकारात्मक आलोचना है, जो कांट की आलोचना से इस अर्थ में भिन्न है (बेशक अगर बुद्धिसंगत तत्व को ध्यान में रखा जाये) कि यह ज्ञान की अवश्यंभाविता, जो परिघटनाओं के संसार तक ही सीमित नहीं है, और विश्व के बुद्धिसंगत रूपांतरण को पुष्ट करती है। वस्तुतः यही कारण है कि बुद्धि की शक्ति के बारे में हेगेल के सिद्धांत ने मार्क्सवादी प्रणाली में अपना वैज्ञानिक-दार्शनिक विकास पाया।

हेगेल के दर्शन का सामाजिक अर्थ

हेगेल को उनके मेधावी पूर्ववर्ती हेराक्लिटस की भांति अक्सर "धुंधला" दार्शनिक कहा जाता है। यह समझ में आनेवाली बात है। लेकिन इस मामले में हम इस "धुंधलेपन" के कारणों के बारे में प्रश्न को टाल नहीं सकते, जिसे स्पष्टतः उनके सिद्धांत की व्याख्या की जटिलता या अपर्याप्तता में नहीं बदला जाना चाहिए। हेगेल की भाषा कठिन है, इसका अध्ययन किया जाना चाहिए और इसे समझने में समय लगता है। फिर भी, यह विशिष्ट भाषा बहुत अभिव्यंजक तथा उनके विचार के सभी सूक्ष्म अर्थभेदों को संप्रेषित करने के लिए बहुत अच्छी है।

हेगेल ने एक बार हालैंड के वान गेर्त को लिखा कि उनकी भाषा की दुर्बोधता का कारण उस दार्शनिक अंतर्वस्तु की जटिलता, अमूर्तता और परिकल्पनात्मक स्वरूप है, जो दर्शन में अनिपुण लोगों के लिए अबोधगम्य प्रतीत होती है। लेकिन हेगेल का दर्शन केवल नौसिखियों के लिए ही "धुंधला" नहीं है। अतः यह "धुंधलापन" सतही नहीं, बल्कि ठोस और अर्थपूर्ण है। कुछ विशेषज्ञ हेगेलीय दर्शन की इस कमी का कारण उसके द्वंद्ववाद की जटिलता बताते हैं, जो प्रायः सहजबुद्धि का विरोधी है। यह स्पष्टीकरण संगत और अपर्याप्त दोनों ही है, क्योंकि हेगेलीय द्वंद्ववाद की सही अंतर्वस्तु की समझ पा लेने वाले लोगों के लिए यह अत्यंत तर्कसंगत तथा अतः संज्ञानकारी चिंतन की पहुंच के भीतर है।

हेगेल का दर्शन केवल शौकिया लोगों के लिए ही नहीं, बल्कि दर्शन के विशेषज्ञों के लिए भी "धुंधला" है। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि हेगेल के दर्शन में "अतिसूक्ष्म" परिकल्पनात्मक भेद ही नहीं, बल्कि उनके सामाजिक-राजनीतिक तथा दार्शनिक-ऐतिहासिक

सिद्धांत भी अस्पष्ट प्रतीत होते हैं, हालांकि इन सिद्धांतों को अपेक्षाकृत बोधगम्य शैली में पेश किया गया है और ये द्वंद्ववाद के "विरोधाभासों" से मुक्त हैं। "सत्ता-निजरूप" के प्रवर्ग के अर्थ पर उतनी बहस नहीं की जाती, जितनी कि उनके दर्शन के सामाजिक अर्थ पर। यह प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी – यह बहस हेगेल के जीवन-काल में ही आरंभ हो गयी थी और आज भी जारी है।

कुछ विशेषज्ञ दावा करते हैं कि हेगेल का दर्शन महान फ़्रांसीसी क्रांति की सामंती-स्वच्छंदतावादी प्रतिक्रिया है। इसके विपरीत, दूसरे इसे बुर्जुआ क्रांति की विचारधारा के रूप में देखते हैं। इन दो छोरों के बीच वे लोग हैं, जो दावा करते हैं कि हेगेल का सिद्धांत पूंजीवादी विकास के "प्रशियाई" मार्ग का सिद्धांत या उल्टे पुनःस्थापन काल की विचारधारा है, जो बुर्जुआ वर्ग की उपलब्धियों को स्वीकार करने के लिए विवश था, लेकिन उन्हें सीमित करने के लिए कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी थी। बेशक, हेगेलीय दर्शन की विचारधारात्मक अंतर्वस्तु के इन परस्पर-विरोधी मूल्यांकनों को इनके लेखकों की परस्पर-विरोधी विचारधारात्मक स्थितियों से स्पष्ट किया जा सकता है। लेकिन ऐसे परस्पर-अपवर्जक मूल्यांकन मार्क्सवादियों ने भी पेश किये हैं। यह हमें हेगेलीय दर्शन के "धुंधलेपन" के बारे में प्रश्न पर वापस ला देता है, जो इस तरह एक निश्चित अर्थ और संभवतः कुछ प्रच्छन्न उद्देश्य प्राप्त कर लेता है। और इसलिए प्रश्न उठता है: क्या यह कम से कम वहां एक निश्चित सीमा तक कृत्रिम, संकल्पित नहीं है, जहां हेगेल अपने सामाजिक-राजनीतिक विश्वास पेश करते हैं? आख़िरकार, सामंती जर्मनी में (यहां प्रशियाई सेंसरशिप आदेशों की मार्क्स द्वारा आलोचना को स्मरण करना ही काफ़ी है) कोई सामंत-विरोधी विचारों को "धुंधले" रूप में ही व्यक्त, प्रमाणित और प्रचारित कर सकता था। लेकिन दूसरी ओर, यह "धुंधलापन" सुबोध और गूढ़ दर्शनों के बीच परम्परागत भेद से पूरी तरह मेल खाता है।

हेगेल ने अपनी कृतियों में महत्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों के बारे में भिन्न ढंग से चर्चा की। यह विशेष रूप से तब स्पष्ट है, जब हम अपने दोस्तों को लिखी गयी हेगेल की चिट्ठियों (जो प्रायः डाक से न भेजी जाकर दोस्तों के हाथ से भेजी गयीं) की तुलना उनकी

प्रकाशित कृतियों से करते हैं। जहां तक प्रकाशित कृतियों का संबंध है, तो हमें स्वयं हेगेल द्वारा प्रकाशित कृतियों तथा उनके उन व्याख्यानों के बीच अंतर (बेशक, यह कोई मूलभूत अंतर नहीं है) करना चाहिए, जिन्हें उनके विद्यार्थियों ने उनकी मृत्यु के बाद उनके नोटों तथा विद्यार्थियों द्वारा लिखे गये संक्षिप्त विवरणों के आधार पर प्रकाशित किया था। 'विधि का दर्शन' में प्रस्तुत हेगेल के मामाजिक-राजनीतिक विचारों तथा सौंदर्यशास्त्र और दर्शन के इतिहास में प्रस्तुत उनके विचारों की तुलना भी कम दिलचस्प नहीं है, जहां उन्होंने इन विचारों को चलते-चलते और निस्संदेह काफ़ी स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त किया। हेगेल के दर्शन के सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विशेषज्ञ जैक द' होंत ने हाल ही में हेगेल की अपने मूल में भिन्न कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन पेश किया है (68) ।

फ़्रांसीसी मार्क्सवादी ने बहुत पहले पेश की जा चुकी इस धारणा की सत्यता को स्पष्ट रूप से दिखाया कि हेगेल अपनी प्रकाशित कृतियों के मुक़ाबले में अपने व्याख्यानों और मित्रों को पत्रों में वास्तविक सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के बारे में काफ़ी सुनिश्चित थे। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि हेगेल ने अपनी पुस्तकों में प्रतिक्रियावादी विचार और व्याख्यानों तथा ख़ास तौर से पत्रों में क्रांतिकारी विचार पेश किये। हेगेल की चिट्ठियों और अन्य दस्तावेज़ों का विश्लेषण उन कृतियों में सूत्रित प्रस्थापनाओं का विवेचन और संवर्धन करना संभव बनाता है, जिन्हें उन्होंने प्रकाशन हेतु स्वयं संपादित किया। इसकी वजह से हेगेल के सामाजिक दर्शन की कुछ महत्वपूर्ण प्रस्थापनाओं के सही अर्थ को प्राय: धुंधला बनानेवाली भ्रामकता समाप्त हो जाती है।

हम १८१८–१८३१ में हेगेल के विद्यार्थियों द्वारा नोट किये गये 'विधि के दर्शन पर व्याख्यान' के चार बड़े खंडों, जिन्हें कार्ल हेइंज़ इल्तिंग ने प्रकाशित किया, तथा उनकी कुछ पांडुलिपियों, ख़ास तौर से उन पांडुलिपियों के अंशों का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिनका उन्होंने अपने व्याख्यानों में उपयोग किया (70) । पहले खंड की भूमिका में इल्तिंग दिखाते हैं कि हेगेल ने अपने को बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाते हुए (विशेष रूप से, सामंती प्रतिक्रिया के उत्थान को ध्यान में रखते हुए) बहुधा राजतंत्र तथा दूसरे ज्वलंत

राजनीतिक प्रश्नों के संबंध में अपने कुछ उत्तेजक वक्तव्यों को बदल दिया। लेकिन राज्य और विधि के उनके सिद्धांत की मूल अंतर्वस्तु मूलत: ज्यों की त्यों बनी रही।

गूढ़ और सुबोध दर्शनों के बारे में प्रश्न के संबंध में ज़ोर दिया जाना चाहिए कि प्राचीन और मध्य युगों में ऐसे अनेकानेक गूढ़ सिद्धांत प्रकट हुए, जो केवल विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय या बंद (कभी-कभी गुप्त भी) दार्शनिक समाज के सदस्यों के लिए होते थे। बुर्जुआ क्रांति के सिद्धांतकारों ने आम तौर से ऐसे सिद्धांतों को अस्वीकार किया, क्योंकि वे बुर्जुआ प्रबोधन की सामान्य भावना से मेल नहीं खाते थे। लेकिन प्रभुत्वशाली सामंती संबंधों और उनकी धार्मिक अभिव्यक्ति के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में इन सिद्धांतकारों ने आवश्यकतानुसार अपने विचारों को गूढ़ भाषा में भी और सुबोध भाषा में भी व्यक्त करने से परहेज़ नहीं किया, जिसे हमें ज्यों का त्यों नहीं लेना चाहिए। इस विचारधारात्मक विधि को उचित ठहराते हुए १८वीं शताब्दी के अंग्रेज़ भौतिकवादी कोलिन्स ने कहा कि हालांकि दार्शनिक बुद्धि सत्य की उत्तम पारखी है, फिर भी यह नक़ाब पहनने की आवश्यकता के समक्ष घुटने टेक देती है। अत: हेगेल कोई अपवाद नहीं हैं। उनके सामाजिक-राजनीतिक विचार अक्सर वस्तुत: इस वजह से अस्पष्ट प्रतीत होते हैं कि वह उन्हें जानबूझकर तरह-तरह के संदेहों और अस्पष्ट परिभाषाओं तथा कभी-कभी ऐसे वक्तव्यों – सामान्यत: घोषणात्मक – से धुंधला बना देते हैं, जो उनके आधारभूत, सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत प्रस्थापनाओं का खंडन करते हैं।

सो, हेगेल अपनी उन कृतियों में हमेशा ही **खुले ढंग से** अपनी बात नहीं कहते, जो **सेंसरशिप के अधीन** थीं; कभी-कभी वह अपने सूत्रों को द्विधार्थक रूप प्रदान करते हैं (इस संबंध में, एंगेल्स ने वास्तविक की बुद्धिसंगतता और बुद्धिसंगत की वास्तविकता की ओर इंगित किया), अक्सर वह इस या उस सूत्र का अंत तक अनुसरण नहीं करते और कुछ न कुछ गुप्त रखते हैं। महान फ़्रांसीसी क्रांति की अवधि में हेगेल को प्रतीत हुआ कि वह समय आ गया है, जब लोग अपने को अधिक स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त कर सकते हैं। लेकिन ये आशाएं व्यर्थ सिद्ध हुईं और हेगेल ने, जिन्होंने "सार्विक बुद्धि की

धूर्तता" को विश्व-इतिहास का मौलिक नियम माना, अपनी ही सूक्ति के अनुसार काम किया: बुद्धि उतनी ही शक्तिशाली है, जितनी कि यह धूर्त है। सत्य को अनावृत्त नहीं होना चाहिए; इसका प्रकाश आंखों को चौंधिया देता है।

अतः हेगेल की व्याख्या की गूढ़ोक्तिक शैली की मूल विशेषता उनके व्यक्तित्व की अद्वितीयता (हालांकि यह चीज भी बेशक महत्वपूर्ण है*) में उतना नहीं है, जितना कि इस बात में कि एक बुर्जुआ सिद्धांतकार, जिसके लिए आजीविका का एकमात्र स्रोत सामंती शासनाधिकार-तंत्र में उसकी नौकरी है, अपने विचारों को अंशतः गुप्त रखने और अंशतः छद्मावरण में पेश करने के लिए विवश है। और यह बेईमानी, गुप्त व्यवहार या "अवसरवादिता" का ही मामला नहीं, बल्कि यह बात भी है कि वर्ग चेतना की स्पष्टता सामान्यतः बुर्जुआ क्रांति के सिद्धांतकार का मूल लक्षण नहीं है। होलबाख पूर्णतः ईमानदार थे, जब उन्होंने अपनी कृति L'Ethocratie को लुई १६वें को समर्पित किया। क्रांतिकारी बुर्जुआ वर्ग के एक सिद्धांतकार के रूप में उन्होंने प्रबुद्ध निरंकुशता के बारे में भ्रम पाल रखा था। टुटपुंजिया-बुर्जुआ क्रांतिकारी और जनतंत्रवादी रूसो ने माना कि राजतंत्र एक बड़े देश के लिए सर्वोत्तम राजकीय प्रणाली है। इस संबंध में उन्होंने सिंहासनारूढ़ दार्शनिक की कल्पना की।

क्रांतिकारी बुर्जुआ विचारधारा का मुख्य भ्रम यह विश्वास है कि बुर्जुआ सामाजिक रूपांतरण प्राकृतिक, बुद्धिसंगत और लाभप्रद भी होते हैं। १७ वीं, १८ वीं सदियों और १९ वीं सदी के प्रारंभिक काल के बुर्जुआ चिंतकों के विचार में ऐसे रूपांतरणों के विरोधी लोग या तो अज्ञानी या दुर्भावनापूर्ण होते हैं। क्रांतिकारी बुर्जुआ वर्ग के दार्शनिक

---

* बर्लिन विश्वविद्यालय में एक प्रोफ़ेसर के रूप में हेगेल ने निथाम्मेर को लिखा: "एक ओर, मैं एक कायर आदमी हूं; दूसरी ओर मैं शांतिप्रिय हूं और मुझे आसन्न तूफ़ान को वर्ष प्रति वर्ष देखना बिल्कुल नहीं भाता" (38,272)। हेगेल के इस दावे का खंडन उनके मित्र होल्देर्लिन ने किया: "तुम शोरगुल में रहना पसंद करते हो, लेकिन मुझे शांति चाहिए" (67,*6*,138-39)।

अपने वर्ग शत्रुओं को क़ायल, शिक्षित और परिवर्तित करने की **चेष्टा** कर रहे थे। इसने उनकी, अगर ऐसा कहा जा सकता है तो, शैक्षिक विचारधारा को निर्धारित किया, जिसके सिद्धांतों ने बुर्जुआ विचारों को सामंती विश्व-दृष्टिकोण से मेल बैठाने में मार्गदर्शन किया। यदि हम यह याद करें कि पूंजीवाद के स्वतःस्फूर्त विकास के प्रभाव में सामंतों ने धीरे-धीरे बुर्जुआ अर्थव्यवस्था को अपना लिया, तो हम देखते हैं कि इस शैक्षिक विचारधारा ने केवल भ्रमों से ही नहीं, बल्कि तथ्यों के गंभीर आकलन से भी प्रेरणा प्राप्त की। ये प्रकटत: हेगेल की कृतियों के अप्रच्छन्न और प्रच्छन्न अर्थ के यानी उन्होंने **क्या** कहा, उसे **कैसे** कहा और अंत में किस चीज़ पर मौन धारणा किया – इस सब के कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं। याद करें कि कांट ने भी, जिन्होंने सख़्त नैतिक व्यवहार की शिक्षा दी, दिखाया कि कतिपय मामलों में मौन नैतिकता का खंडन नहीं करता।

हेगेल के 'विधि का दर्शन' पर यानी उस कृति पर दृष्टिपात करें, जिसे सामान्यत: उनके प्रतिक्रियावादी सामाजिक-राजनीतिक विचारों को सिद्ध करने के लिए उदाहरण के तौर पर पेश किया जाता है। हेगेल इसमें प्राचीन काल से क़ायम राज्य के रूपों का परम्परागत वर्गीकरण करते हैं और कहते हैं कि राजतंत्र, अभिजाततंत्र और जनवाद ने विगत में जो रूप ग्रहण किये वे राजकीय संगठन के एकांगी रूप हैं, जो "अपने भीतर स्वतंत्र आत्मगतता के सिद्धांत को नहीं बर्दाश्त कर सकते और विकसित बुद्धि से मेल नहीं खाते हैं" (64,*8*,360)। स्वतंत्र वस्तुगतता का सिद्धांत व्यक्ति के नागरिक अधिकारों की बुर्जुआ-जनवादी धारणा की परिकल्पनात्मक (और गूढ़) परिभाषा के अलावा और कुछ नहीं है।

"सामंती राजतंत्र" (हेगेलीय शब्दावली) के संबंध में वह घोषणा करते हैं कि "इस राजनीतिक प्रणाली में राज्य का जीवन विशेषाधिकारप्राप्त व्यक्तियों पर आधारित होता है, जिनकी मनमौजों पर राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए किये जाने वाले कार्यों का एक बड़ा हिस्सा निर्भर करता है" (64,*8*,359)।

हेगेल सामंती राजतंत्र की अर्थात निरंकुश राजनीतिक शासन की प्रणाली के मुक़ाबले में संवैधानिक राजतंत्र को रखते हैं, जिसे वह

राजकीय संगठन का उच्चतम, अंतिम और मूलतः **परम रूप मानते** हैं। "राज्य का संवैधानिक राजतंत्र में विकास नयी दु**निया** का कार्य है, जिसमें तात्विक विचार ने एक अपरिमित रूप प्राप्त किया है" (64,*8*,355)। अतः हेगेल बुर्जुआ वर्ग के **निकटतम** उद्देश्य की **प्रशंसा** करते हैं। यह स्पष्टतः हेगेलीय द्वंद्ववाद का खंडन करता है। लेकिन क्या यह बुर्जुआ वर्ग के हितों का भी खंडन करता है?

संवैधानिक राजतंत्र की परिभाषा के संबंध में हेगेल राजा (जो मानो सरकारी कार्यों की ज़िम्मेदारी से ऊपर हो) की **महानता**, उसके दैवी अधिकार, राजा में मूर्त राजकीय संप्रभुता के बारे में ब्योरेवार ढंग से वर्णन करते हैं। इस सबसे स्पष्टतः हेगेल के जीवन काल में भी गणतंत्र के समर्थक लोगों के बीच रोष पैदा हुआ। हेगेल के विधि के दर्शन के इस दासोचित पहलू को युवा मार्क्स ने अपनी पांडुलिपि 'हेगेल के विधि के दर्शन की आलोचना में योगदान' में विनाशकारी आलोचना का विषय बनाया। ख़ास तौर से मार्क्स दिखाते हैं कि हेगेल अपने 'विधि का दर्शन' में संवैधानिक राजतंत्र की विकृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ताकि इसे स्वयं कार्यान्वित होने वाले परम सामाजिक आदर्श के रूप में पेश किया जा सके: "हेगेल समकालीन यूरोप में संवैधानिक राजा की सभी विशेषताओं को **संकल्प** के निरपेक्ष आत्म-निर्णयों में बदल देते हैं। वह यह नहीं कहते कि 'राजा का संकल्प अंतिम निर्णय है' बल्कि 'संकल्प का अंतिम निर्णय राजा है'। पहली प्रस्थापना इंद्रियानुभविक है। दूसरी इंद्रियानुभविक तथ्य को तोड़-मरोड़कर अधिभूतवादी स्वयंसिद्धि में बदल देती है" (1,*3*,25)। इसके साथ ही मार्क्स उल्लेख करते हैं कि **वस्तुतः** हेगेल राजा के कार्यों को यथासंभव अधिक सीमित करते हैं और उन्हें ऐसे कार्यों में बदल देते हैं, जिनका राज्याध्यक्ष के कार्यों से कोई वास्ता नहीं होता। मार्क्स हेगेल के दृष्टिकोण को निम्नलिखित ढंग से पेश करते हैं: "राजा का आनुवंशिक स्वरूप उनकी धारणा से उत्पन्न होता है। वह ऐसा व्यक्ति है, जो अपनी संपूर्ण नस्ल से, सभी दूसरे लोगों से विशिष्टतः भिन्न होता है। वह कौन-सा लक्षण है, जिसके अनुसार हम अंतिम तथा सुनिश्चित रूप से एक व्यक्ति को दूसरों से पृथक करते हैं? **शारीरिक**

लक्षण के अनुसार। शरीर का उच्चतम कार्य **पुनर्जनन कार्य** है। अतः राजा का उच्चतम संवैधानिक कार्य उसका पुनर्जनन कार्य है, क्योंकि इसके ज़रिये वह राजा को **पुनरुत्पादित करता** है" (1,*3*,40)। मार्क्स हेगेल के इस वक्तव्य पर व्यंग्यपूर्ण ढंग से टिप्पणी करते हैं, जो राजा के "उच्चतम" लक्ष्य का **गंभीरतापूर्वक** वर्णन करता है, हालांकि यह शाही विशेषाधिकार न तो विधायिका सत्ता न ही कार्यपालिका सत्ता से संबद्ध है।*

इस तरह हमने देखा कि हेगेल के सामाजिक-राजनीतिक विचारों में वास्तव में ऐसा काफ़ी कुछ है, जो "धुंधला" है। इसलिए हमें उनके सामाजिक दर्शन की वास्तविक अंतर्वस्तु को उनकी गूढ़ शब्दावली, प्रशियाई राज्य और सरकार के प्रति ख़ुशामद, आदि से पृथक् करना चाहिए। बेशक इस सबको भी हमें ध्यान में रखना चाहिए, लेकिन केवल वहीं तक, जहां तक यह हेगेल के असली विचारों को व्यक्त करता हो।

आइये हम इस "धुंधली" समस्या की जांच सबसे पहले इस चीज़ से शुरू करें कि हेगेल संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना को अपने समय का सर्वोच्च राजनीतिक उद्देश्य मानते हैं। कुछ अध्येताओं के विचार में, अकेले यही चीज़ ही उनके राजनीतिक विचारों के दक़ियानूसी

---

* यहां हमें मार्क्स द्वारा *Deutsch-Französische Jahrbücher* में किये गये हेगेल के 'विधि का दर्शन' समग्र मूल्यांकन पर ध्यान देना चाहिए: "**राज्य और विधि के जर्मन दर्शन** की आलोचना ने, जिसने **हेगेल** के ज़रिये अपना अत्यधिक सुसंगत, अत्यधिक समृद्ध और अंतिम प्रतिपादन प्राप्त किया, आधुनिक राज्य तथा इससे संबद्ध यथार्थता का आलोचनात्मक विश्लेषण भी है और **जर्मन राजनीतिक तथा विधिक चेतना के** अब तक अस्तित्वमान **सभी रूपों** का दृढ़ निषेध भी है, जिसकी सबसे महत्वपूर्ण, सार्विक, विज्ञान के स्तर तक उठी अभिव्यक्ति स्वयं **विधि का परिकल्पनात्मक दर्शन** है" (1,*3*,181)। दुर्भाग्य से, हेगेल के सामाजिक-राजनीतिक विचारों को प्रकट करनेवाली इस प्रस्थापना की दर्शन के इतिहास के मार्क्सवादी अध्ययनों में विस्तारपूर्वक जांच नहीं की गयी है।

स्वरूप को सिद्ध कर देती है। यह दृष्टिकोण स्पष्टतः अनैतिहासिक और अमूर्त है।

क्रांतिकारी परिस्थितियों में, जब निरंकुशता अपना राजनीतिक आधार मज़बूत करने के लिए जनता को कोई छोटा-मोटा संविधान "प्रदान" करने के लिए तैयार होती है, तो संवैधानिक राजतंत्र की मांग सामान्यतः **प्रतिक्रांतिकारी** है। जब सामंती निरंकुशता पतन के कगार पर हो, तो संवैधानिक राजतंत्र का प्रचार राजनीतिक प्रतिक्रियावादियों द्वारा किया जाता है। पर हेगेल ने संवैधानिक राजतंत्र के नारे को एक ऐसे समय में पेश और पुष्ट किया, जब जर्मनी में **अभी कोई क्रांतिकारी परिस्थिति नहीं थी**, जब निरंकुशता पर विधायी पाबंदी लगाने की सभी कोशिशें नाकाम हो गयीं और स्वयं संवैधानिक राजतंत्र के विचार को ही सरकारी तौर पर "लफ़्फ़ाज़ी" कहकर खारिज कर दिया गया था। क्या यही कारण नहीं है, जिसने हेगेल को संवैधानिक राजतंत्र की आवश्यकता का निरूपण करते समय उसके साथ राजतंत्रवादी सिद्धांत की महानता तथा अलंघनीयता के बारे में तरह-तरह की बातें जोड़ने के लिए विवश किया? क्या विचारधारात्मक संघर्ष के वस्तुगत तर्क ने भी ऐसी युक्ति की मांग इस कारण नहीं की कि बुर्जुआ वर्ग पर उस समय भी राजतंत्रवादी भ्रम छाया हुआ था?

एंगेल्स ने संवैधानिक राजतंत्र की हेगेलीय धारणा के सच्चे अर्थ को प्रकट किया: "हेगेल ने अपने 'विधि का दर्शन' में संवैधानिक राजतंत्र को सरकार का अंतिम और पूर्णतम रूप घोषित किया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने देश के बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक सत्ता के निकट आगमन की घोषणा की" (1,*11*,14) । १८४८ की क्रांति के तीन दशक पहले जर्मनी में संवैधानिक राजतंत्र का नारा एक **बुर्जुआ-क्रांतिकारी** नारा था, जिसने निस्संदेह सामंत-विरोधी विपक्ष को अपनी शक्ति मज़बूत करने में सहायता की।

बेशक, संवैधानिक राजतंत्र के समर्थक राज्य के इस रूप की व्याख्या भिन्न ढंग से कर सकते हैं। जब एक प्रतिक्रियावादी या दक़ियानूसी यह स्वीकार करने के लिए विवश होता है कि संविधान के बिना राजतंत्र को नहीं बनाये रखा जा सकता, तो वह संविधान को जनवादी झालरों के साथ एक नये राजतंत्रवादी आवरण के रूप में देखता है। हेगेल के

'विधि का दर्शन' की सरसरी जांच से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि हेगेल निरंकुशता के लिए ऐसे ही नये जनवादी आवरण की वक़ालत करते हैं। पर वास्तव में हेगेल इस दृष्टिकोण के ख़िलाफ़ तर्क करते हैं, हालांकि वह इसे "**धुंधला**" अवश्य कर देते हैं। स्मरणीय है कि 'विधि का दर्शन' में हेगेल आत्मगतता के विकास, समाज के सदस्यों की पहल के विकास, नागरिक अधिकारों और प्रातिनिधिक संस्थाओं के विकास की संविधान की मूल अंतर्वस्तु के रूप में चर्चा करते हैं। नागरिकों के व्यक्तिगत उद्देश्य वैध उद्देश्य हैं और एक व्यक्ति के मनमाने कार्य (बेशक विधिक सीमाओं के भीतर) को भी आवश्यकता के रूप में देखा जाना चाहिए। ऐसा है हेगेल का दृष्टिकोण, जो "संवैधानिक राजतंत्र" पद के पहले शब्द पर ज़ोर देते हैं, जबकि दक़ियानूसी दूसरे शब्द पर ज़ोर देते हैं।

लेकिन संवैधानिक राजतंत्र की हेगेलीय समझ का वास्तविक अर्थ उन कृतियों में सुनिश्चित और स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है, जिनमें विधि की समस्याओं का अध्ययन नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, सौंदर्यशास्त्र पर उनके व्याख्यानों के तीसरे अध्याय ('कला में सौंदर्य या आदर्श') में वह कहते हैं कि विगत में कलाकृतियों ने आम तौर से राजा और रानियों का चित्रण किया और आगे कहते हैं: "पौराणिक काल के नायकों के विपरीत हमारे समय के राजा समष्टि का ऐसा कोई शिखर नहीं है, जो स्वयं में मूर्त हो, वे केवल उन संस्थाओं के अंदर कमोवेश मूर्त केन्द्र हैं, जो पहले ही स्वतंत्र रूप से विकसित हो चुकी हैं और संविधान द्वारा पुष्ट की जा चुकी हैं। हमारे समय के राजाओं के हाथों से शासन के महत्वपूर्ण कार्य निकल गये हैं; वे अब विधिक निर्णय का प्रयोग नहीं करते; वित्त, नागरिक व्यवस्था और सुरक्षा अब उनके विशेष कार्य नहीं रह गये हैं; युद्ध तथा शांति विदेश नीति की सामान्य परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं, जिसका वे स्वयं निदेशन नहीं करते और जो उनके अधिकार में भी नहीं है। और यदि राज्य के इन सभी मामलों में अंतिम, सर्वोच्च निर्णय उनके अधिकार में है भी तो भी समग्र रूप से इन निर्णयों की विशिष्ट अंतर्वस्तु उनकी व्यक्तिगत इच्छा पर नहीं निर्भर करती; उन्हें निर्णय के लिए उनके समक्ष पेश किये जाने

से पहले ही तय किया जा चुका होता है। इस प्रकार, राज्य का शिखर, राजा का अपना आत्मगत संकल्प सार्विक तथा जनसाधारण के संबंध में शुद्धतः औपचारिक है" (64,*10*,248-249)। बेशक जो लोग इस पूर्वाग्रह के पक्के सहभागी है कि हेगेल के सामाजिक-राजनीतिक विचार प्रतिक्रियावादी हैं, वे इन स्पष्ट प्रस्थापनाओं की व्याख्या शाही सत्ता के अधिकार के पतन के संबंध में एक तरह की शिकायत के रूप में कर सकते हैं, क्योंकि हेगेल यहां भी पूरी तरह सावधान हैं: वह इतिहास में घटित होनेवाली प्रक्रिया का वर्णन करते हुए इसके प्रति अपने विचार को किसी भी रूप में सीधे नहीं प्रकट करते। फिर भी, उनके दर्शन के मूल विचार की पकड़ रखने वाले लोगों के लिए यह स्पष्ट है: मानवजाति का इतिहास उसका अग्र विकास है और यही कारण है कि अपने जीवन का स्वतंत्रतापूर्वक निर्माण करने की इच्छा, जो मानव-व्यक्तित्व में मूलतः निहित होती है, संभव बन पाती है। यही कारण है कि उपर्युक्त उद्धरण हेगेल के विश्वासों का काफ़ी स्पष्ट ढंग से वर्णन करता है। उन्हें मुश्किल से ही मात्र राजतंत्रवादी कहा जा सकता है: संवैधानिक राजतंत्र के अंतर्गत, जिसे वह सामाजिक विकास के शिखर के रूप में देखते हैं, राजा नाममात्र का राज्याध्यक्ष होता है, क्योंकि सभी मामले उचित राजकीय निकायों द्वारा तय किये जाते हैं। वस्तुतः इसी वजह से हेगेल बिल्कुल स्पष्ट ढंग से दावा करते हैं: "जब क़ानून अडिग हैं और राज्य एक निश्चित ढंग से संगठित है, तो राजा के विशेष निर्णय के अधीन रहनेवाली चीज़ वास्तविक की तुलना में तुच्छ होती है" (63,*4*,937)।

'विधि का दर्शन' में हेगेल निर्वाचित राजतंत्र पर आनुवंशिक राजतंत्र की श्रेष्ठता को तथ्यतः सिद्ध करते हैं। इस विवेचन का आनुवंशिक राजतंत्र की प्रशंसा से कोई वास्ता नहीं है। यह दावा करते हुए कि केवल आनुवंशिक राजतंत्र अपनी धारणा से मेल खाता है, हेगेल ज़ोर देते हैं कि औपचारिक, वस्तुतः काल्पनिक सर्वोच्च शाही सत्ता के प्रश्न को, एक प्रकार से, स्वयं, जन्मसिद्ध "अधिकार" के बल पर, न कि राजनीतिक संघर्ष के परिणामस्वरूप तय किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण से निर्वाचित राजतंत्र का हेगेलीय निषेध पूर्णतः

उचित है। संवैधानिक राजतंत्र की हेगेलीय धारणा शाही सत्ता के सिद्धांत पर नहीं, बल्कि "नागरिक समाज" (bürgerliche Gesellschaft) के सिद्धांत पर केन्द्रित है। 'दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' में हेगेल प्लेटो के आदर्श राज्य के सिद्धांत का विश्लेषण करते हैं और नागरिकों के अधिकारों के बारे में अपना दृष्टिकोण पेश करते हैं। वह इंगित करते हैं कि प्लेटो का आदर्श विगत की ओर उन्मुख है, जबकि सामाजिक संगठन के एक तत्व के रूप में व्यक्ति की कोई आत्मगतता नहीं थी। हेगेल लिखते हैं: "प्लेटो ने व्यक्ति के ज्ञान, संकल्प, निर्णय को नहीं स्वीकार किया, उन्होंने अपने पैरों पर खड़ा होने के उसके अधिकार को नहीं स्वीकार किया और वह अपने विचार के साथ इस अधिकार का मेल बैठाने में असमर्थ थे। पर न्याय इसी तरह यह मांग करता है कि इस सिद्धांत को भी उचित स्थान दिया जाये, जिस तरह यह मांग करता है कि इसे सर्वोच्च में घुला-मिला दिया जाये, सार्विक के साथ इसका सामंजस्य बैठाया जाये। प्लेटो के सिद्धांत का विलोम व्यक्ति के सचेत स्वतंत्र संकल्प का सिद्धांत है, जिसे हाल के युग में विशेष रूप से रूसो द्वारा पेश किया गया: यह सिद्धांत कहता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता वस्तुत: व्यक्ति की ही स्वतंत्रता के रूप में आवश्यक है, कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने को पूरे तौर पर व्यक्त करने में समर्थ होना चाहिए" (64,*14*,295)।

हेगेल प्लेटो के मुक़ाबले में बुर्जुआ क्रांतिकारी रूसो को पेश करते हैं, जिनके दृष्टिकोण को वह राज्यत्व के विचार के आवश्यक विकास, दार्शनिकों के मनमाने विचार से स्वतंत्र विकास की एक अभिव्यक्ति के रूप में मानते हैं। यह सही है कि हेगेल संदेह प्रकट करते हैं: रूसो में "यह विलोम सिद्धांत अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है और अपने पूर्ण एकांगीपन में प्रकट होता है" (64,*14*,295)। इस संदेह को क्रांतिकारी विचारों को छिपाने के प्रयास के रूप में नहीं पेश किया जाना चाहिए। हेगेल वास्तव में बहुत-सी चीज़ों पर रूसो के साथ मतभेद रखते हैं।

'इतिहास का दर्शन' में हेगेल संवैधानिक राजतंत्र की अपनी समझ को विकसित करते हैं और स्वामित्व की स्वतंत्रता तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग को पहली पंक्ति में रखते हैं, उन्हें वस्तुगत (वास्त-

विक) स्वतंत्रता के महत्वपूर्ण घटकों के रूप में देखते हैं। इस "वस्तुगत स्वतंत्रता" यानी पूंजीवादी सामाजिक संबंधों की स्थापना की वजह से "सामंती संबंधों से उत्पन्न होने वाली सभी अस्वतंत्रताएं, सामंती विधि, दशमांश कर और मुक्ति-लगान से उत्पन्न होने वाले सभी निर्धारण समाप्त हो जाते हैं। इसके अलावा, वास्तविक स्वतंत्रता के लिए पेशा चुनने की स्वतंत्रता आवश्यक है, जिसका आशय यह है कि आदमी को अपनी इच्छानुसार अपनी योग्यताओं का उपयोग करने की अनुमति हो और सभी सरकारी पद उसकी पहुंच के भीतर हों। ऐसे हैं वास्तविक स्वतंत्रता के घटक, जो इंद्रियों पर नहीं निर्भर करते, क्योंकि इंद्रियां भूदास-प्रथा और दासता दोनों ही के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं, बल्कि मानव के विचार और आत्म-चेतना पर निर्भर करते हैं, जिनका संबंध मानव के आत्मिक सार से है"। और आगे हेगेल ज़ोर देते हैं: "नागरिक को अपना काम करने में ही नहीं, बल्कि इससे लाभ प्राप्त करने में भी समर्थ होना चाहिए; आदमी को अपनी योग्यताओं को उपयोग करने में समर्थ होना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि उसे उन्हें लागू करने में भी समर्थ होना चाहिए" (63,*4*,927)।

हेगेल सामंती विधि के मुक़ाबले में बुर्जुआ विधि को खड़ा करते हैं, वह बुर्जुआ विधि को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं: निजी स्वामित्व को "स्वामित्व की स्वतंत्रता" के रूप में और भूदास-प्रथा के उन्मूलन (औपचारिक स्वतंत्रता) को "व्यक्ति की स्वतंत्रता" के रूप में परिभाषित किया जाता है। लेकिन बुर्जुआ रूपांतरणों (जो हेगेल के समय में वास्तविक तथ्य की अपेक्षा लुभावने परिप्रेक्ष्य थे) का यह आदर्शीकरण क्रांतिकारी बुर्जुआ विचारधारा के लिए अभिलाक्षणिक था। वे लोग, जिन्होंने बुर्जुआ क्रांतियों के युग में ऐसे रूपांतरणों को आदर्श रूप में नहीं प्रस्तुत किया, अधिकांशत: इसके सामंती विरोधी थे।

अंत में, संवैधानिक राजतंत्र के प्रश्न की जांच समाप्त करने के लिए, हम कुछ उन विचारों की चर्चा कर सकते हैं, जिन्हें हेगेल ने अपने मित्रों को लिखे पत्रों में व्यक्त किया। निथाम्मेर को अपने एक पत्र में (हेगेल इस पत्र में व्यक्त विचारों के प्रति हमेशा वफ़ादार रहे), वह ज़ोर देते हैं कि संविधान की समस्या शाही सत्ता के नियंत्रण तक

सीमित नहीं है, कि यहां मुख्य बात जनता की स्वतंत्रता तथा चुनावों और निर्णयों में उसकी सहभागिता है। इसके बिना कोई भी संविधान निरंकुश शासन, उजड्डपन और क्रूरता में बदल जाता है, जो अपनी बारी में मूर्खता, सभी सामाजिक चीज़ों के प्रति असंतोष, चाटुकारिता और नीचता की ओर ले जाता है। हेगेल को यह भली-भांति मालूम था कि कुछ छोटे जर्मन राज्यों के राजाओं द्वारा जनता को शालीनतापूर्वक दिये गये संविधान शाही निरंकुशता के प्रच्छन्न आवरण के अलावा और कुछ नहीं थे। हेगेल ने संविधान के समारंभ को जनता की जीवन-पद्धति में गहन परिवर्तनों से जोड़ा: "संविधान निर्माण का महान और गहन अर्थ है ; यह उतना ही अधिक महान और गहन बनता है, जितना अधिक आधुनिक जर्मनी में संविधान के बिना स्वच्छंदता से शासन और अन्य काम किये जाते हैं तथा इसे न केवल संभव, बल्कि वांछनीय भी माना जाता है" (38, *I*, 197-98) ।

स्पष्ट है कि हेगेल संविधान लागू किये जाने के सामाजिक परिणामों और स्वयं संविधान को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं : वह इसे सामाजिक जीवन के ठोस आधार से मिलती-जुलती किसी ऐसी चीज़ के रूप में देखते हैं, जो वास्तविक आत्म-चेतना और स्वतंत्रता तक विकसित हो चुकी हो। पर कोई भी संविधान शोषक वर्गों को अपनी मनमानी करने में विघ्न-बाधा नहीं पहुंचाता। इतिहास की प्रत्ययवादी समझ अनिवार्यत: विधिक अधिसंरचना और विधिक चेतना के पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा करती है। तो भी, उल्लेखनीय है कि संविधान का यह आदर्शीकरण बुर्जुआ **जनतंत्र** को न कि बुर्जुआ राजतंत्र को आदर्श रूप में प्रस्तुत करता है।

हेगेल की मृत्यु के १६ साल बाद प्रशिया के राजा फ़्रेडरिक विल्हेल्म चतुर्थ द्वारा दिया गया भाषण यह दिखाता है कि संवैधानिक राजतंत्र और राजा की भूमिका की हेगेलीय समझ उस समय जर्मनी में प्रभुत्व-शील सामंती विचारधारा की कितनी विरोधी थी। संयुक्त लांदताग* से नये ऋणों की मांग करते हुए राजा ने दावा किया कि कोई भी संविधान अपनी प्रजा के लिए राजा की पितृतुल्य हितचिंता की बराबरी

---

* जर्मनी की व्यवस्थापिका सभा। – **सं०**

नहीं कर सकता : "मैं और मेरा घर – हम ईश्वर की सेवा करना चाहते हैं!" (56,49)। और संविधान की राष्ट्रव्यापी मांग की निन्दा करते हुए राजा ने घोषणा की कि पृथ्वी पर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो उन्हें राजा और जनता के बीच "स्वाभाविक" संबंधों – आंतरिक सत्य पर आधारित संबंधों – के स्थान पर औपचारिक संवैधानिक संबंध क़ायम करने के लिए विवश कर सके।

सामंती-स्वच्छंदतावादी प्रतिक्रिया के सिद्धांतकारों ने संवैधानिक राजतंत्र की हेगेलीय धारणा को जर्मनी की परिस्थितियों पर ब्रिटिश मॉडल को लागू करने के एक प्रयास के रूप में देखा। ब्रिटेन में राजतंत्रीय सत्ता की सुरक्षा ने रूढ़िवादी परम्पराओं का समर्थन किया, लेकिन बेशक यह राजा – जो राज करता था, पर शासन नहीं करता था – नहीं था, जो बुर्जुआ-जनवादी रूपांतरणों की पूर्ति के मार्ग में खड़ा था। परंतु एक पिछड़े देश जर्मनी में प्रश्न बुर्जुआ-जनवादी रूपांतरणों की पूर्ति का नहीं, बल्कि उनकी शुरूआत का था। जैसा कि यह उनके लेखों में ठोस रूप से प्रकट है, हेगेल का राजनीतिक कार्यक्रम बहुत साधारण था। हमारे विचार में, यह भी ब्रिटिश सुधार अधिनियम (१८३१) के प्रति उनके नकारात्मक रुख़ को स्पष्ट करता है, जिसने चुनाव-प्रणाली के मौलिक जनवादीकरण की पूर्वकल्पना की। हेगेल को दृढ़ विश्वास था कि "परम आत्मा" धीरे-धीरे, मुश्किल से दृष्टिगोचर ढंग से अग्रसर हो रही है और वस्तुतः इसी में उसकी अप्रतिरोध्य शक्ति निहित है।

हेगेल के दर्शन में "धुंधलेपन" को बुर्जुआ क्रांति के राजनीतिक कार्यक्रम को जान-बूझकर गूढ़ बनाने के एक क़दम के रूप में मानते हुए (बेशक बुर्जुआ क्रांति के जर्मन सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए), हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एक बुर्जुआ दार्शनिक की आत्म-चेतना तथा उसके सिद्धांत के वास्तविक सामाजिक अर्थ के बीच अर्थात् उसके सिद्धांत के आत्मगत रूप तथा वस्तुगत अंतर्वस्तु के बीच अंतर्विरोध होता है। इस या उस सिद्धांत का संस्थापक अक्सर इसके वस्तुगत अर्थ के प्रति सचेत या पूर्णतः सचेत नहीं होता; दूसरी ओर, उसके द्वारा अपने सिद्धांत का मूल्यांकन उसकी वस्तुगत अंतर्वस्तु के संबंध में अधूरा, बल्कि कभी-कभी विकृत अभिव्यक्ति होता है। यह

अध्ययन-विधि से संबंधित सामान्य विचार, जो दर्शन के इतिहास के अध्ययन के सिद्धांतों में से एक है, हेगेल पर विशेष रूप से लागू होता है, क्योंकि उनका संपूर्ण दर्शन विधि तथा प्रणाली के बीच अंतर्विरोध से भरा हुआ है। इस दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि हेगेल के सिद्धांत की अंतर्वस्तु उससे कहीं अतुलनीय रूप से महत्वपूर्ण है, जिसे वह समझते थे और जिसे उन्होंने प्रत्यक्षतः व्यक्त किया।

हेगेल का दर्शन बुर्जुआ क्रांति की विचारधारा था। लेकिन आत्मगत रूप से हेगेल ने क्रांति का नहीं, सुधार – सामंती सामाजिक संबंधों के क्रमशः बुर्जुआ रूपांतरण – का समर्थन किया। अतः हेगेलीय द्वंद्ववाद यानी क्रांति के सिद्धांत और इसकी हेगेलीय व्याख्या के बीच भेद करना आवश्यक है। यह काफ़ी कठिन कार्य है, क्योंकि हेगेल ने विकास के क्रांतिकारी सिद्धांत का निर्माण और इसकी सुधारवादी व्याख्या **साथ-साथ** की।

हेगेलीय द्वंद्ववाद अंतर्वर्ती, निरपेक्ष और अप्रतिरोध्य विकास-प्रक्रिया का सिद्धांत है। लेकिन हेगेल ने अक्सर इसकी व्याख्या इस अर्थ में की कि सामाजिक प्रगति स्वतःस्फूर्त है और इस प्रक्रिया में "आत्मगत ढंग से" हस्तक्षेप करने की कोई ज़रूरत नहीं है, जो, उनके अनुसार, आंतरिक रूप से बुद्धिसंगत है। सामाजिक यथार्थता से समन्वय के विचार का यही स्रोत है, जिसकी व्याख्या मात्र वर्तमान के रूप में, उस चीज़ के रूप में की जाती है, जो है। "जो **है** उसे समझना – यही दर्शन का कार्य है, क्योंकि जो **है**, वह बुद्धि है।" और कुछ आगे हेगेल कहते हैं: "... यह बुद्धिसंगत दृष्टिकोण यथार्थता से **समन्वय** है" (64,*8*,19) । द्वंद्ववाद की यह व्याख्या अपने महत्वपूर्ण (लेनिन के शब्दों में) विचार – सकारात्मक निषेध के विचार – को रद्द करती है और इसके स्थान पर सामंती संस्थाओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण रखती है, जिसे इस साधारण वक्तव्य द्वारा उचित ठहराया जाता है कि वे बदलती और बेहतर बनती हैं।

हेगेल के दर्शन का यह "अनालोचनात्मक प्रत्यक्षवाद" (मार्क्स की अभिव्यक्ति का प्रयोग करते हुए) प्रशियाई राज्य के प्रति उनके रुख को सीधे प्रकट करता है। प्रशियाई राज्य को उस प्रोटेस्टैंट सुधार के सबसे अधिक यथापेक्ष मूर्तरूप के तौर पर देखा

जाता है, जिसे हेगेल ने एक निश्चित हद तक महान फ़्रांसीसी क्रांति के मुक़ाबले में रखा था। हेगेल लिखते हैं: "...यह राज्य अनिवार्यत: प्रोटेस्टैंट धर्म के साथ प्रकट हुआ था: यह **प्रशिया** था, जिसने १७वीं शताब्दी के अंत में फ़्रेडरिक महान के रूप में एक ऐसा व्यक्ति पाया, जिसने अगर उसे स्थापित नहीं किया, तो सुदृढ़ अवश्य बनाया... वह प्रोटेस्टैंट धर्म के नायक के रूप में प्रकट हुए, लेकिन गुस्ताव अदोल्फ़ की भांति केवल व्यक्तिगत रूप से नहीं बल्कि एक राजा के रूप में... फ़्रेडरिक महान ने न केवल एक प्रोटेस्टैंट शक्ति के रूप में प्रशा को यूरोप की एक महान शक्ति में बदला, बल्कि वह दार्शनिक राजा भी थे..." (63,*4*,919)।

बेशक, हमें ध्यान में रखना चाहिए कि हेगेल ने प्रोटेस्टैंट सुधार को केवल कैथोलिक धर्म के विरुद्ध एक नये धर्म के संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि प्रभुत्वशाली सामंती प्रणाली के विरुद्ध उदीयमान बुर्जुआ सामाजिक संबंधों के संघर्ष के रूप में भी देखा। प्रकटत: प्रशा के उनके मूल्यांकन ने इस चीज़ को ध्यान में रखा कि १९वीं सदी के दूसरे दशक में प्रशा अत्यधिक मज़बूत (सैनिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से) जर्मन राज्य बन गया था और कि इस तथ्य ने एक बड़ी हद तक जर्मनी के एकीकरण में इसकी भूमिका को निर्धारित किया था। जो भी हो, हेगेल ने प्रशियाई राज्य के प्रतिक्रियावादी लक्षणों को नर्मी से बर्दाश्त किया और स्पष्टत: जर्मन इतिहास में इसकी भूमिका को आदर्श रूप में पेश किया।

राज्य को परम बनाना, यहां तक कि इसका दैवीकरण भी हेगेल के सामाजिक-राजनीतिक विचारों की एक मौलिक और निर्धारक विशेषता है। उनकी प्रणाली में राज्य को "वस्तुगत आत्मा" के रूप में पेश किया जाता है, जिसके परिमित, सीमित क्षेत्र हैं परिवार तथा "नागरिक समाज" यानी आर्थिक हितों सहित निजी हितों का क्षेत्र। "राज्य – नागरिक समाज" के संबंध को निर्धारित करके हेगेल ने एक प्रश्न पेश किया, जिसका भौतिकवादी समाधान इतिहास की वैज्ञानिक-दार्शनिक समझ का एक मूल सिद्धांत है।

स्वभावत: हेगेल इस प्रश्न को प्रत्ययवादी ढंग से हल करते हैं: वह राज्य को एक ऐसे नैतिक तथा विधिक संघटन के रूप में देखते

हैं, जो नागरिक समाज के आधार को निर्धारित करता है। इस तरह, राज्य को परम बनाना हेगेल के लिए अपनी प्रणाली की समस्त अंतर्वस्तु और संरचना द्वारा पुष्ट सिद्धांत है। किसी भी क्रांति के लिए मूल प्रश्न सत्ता का प्रश्न है; क्रांति एक प्रकार के राज्य को नष्ट करके इसके स्थान पर दूसरे, ऐतिहासिक रूप से अधिक प्रगतिशील राज्य की स्थापना करती है। हेगेलीय प्रणाली राज्य के क्रांतिकारी रूपांतरण की आवश्यकता को दार्शनिक ढंग से प्रमाणित नहीं करती। इसके विपरीत, यह प्रणाली राज्य के अंतर्वर्ती, स्वतःस्फूर्त विकास की पूर्व-कल्पना करती है। लेकिन अपनी प्रणाली के विपरीत (और अपनी विधि के पूर्णतः अनुरूप) हेगेल अपनी धारणा से मेल खाते राज्य को छद्मराज्य से पृथक् करते हैं, जिसे क्रांति नष्ट कर देती है। हेगेल कहते हैं: "वास्तव में बुद्धिसंगत ढंग से विभाजित राज्य में सभी क़ानून और संस्थाएं अपने मूल निर्धारणों के अनुसार स्वतंत्रता के कार्यान्वयन के अलावा और कुछ नहीं हैं" (64,*10*,128)। लेकिन हर राज्य स्वतंत्रता का कार्यान्वयन नहीं है। उदाहरणार्थ, १७८९ की क्रांति की पूर्ववेला में फ़्रांसीसी राज्य का वर्णन करते हुए हेगेल रोषपूर्वक चिल्लाते हैं: "यह कैसा राज्य था! मंत्रियों और उनकी वेश्याओं, बीवियों, नौकरों द्वारा सर्वथा निरंकुश शासन; छोटे तानाशाहों और निठल्लों की एक बहुत बड़ी तादाद ने राज्य की संपदा और जनता की मशक़्क़त की कमाई को लूटना अपना दैवी अधिकार मान लिया। निर्लज्जता और अन्याय अविश्वसनीय सीमा पर पहुंच गये थे; नैतिकता केवल संस्थाओं की नीचता के अनुरूप थी। हम नागरिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में और अंतःकरण तथा विचार के क्षेत्र में भी व्यक्तियों की अधिकारहीनता देखते हैं" (64,*15*,516)। फ़्रांसीसी (और किसी भी सामंती) राज्य की यह आलोचना दिखाती है कि हेगेल ने राज्य को परम बनाने से तब परहेज़ किया, जब उनके समक्ष पहले ही संपन्न हो चुकी बुर्जुआ क्रांति की आवश्यकता स्पष्ट करने का कार्य प्रस्तुत था। आवश्यक के सत्ता से अमूर्त प्रतियोग की भर्त्सना करते हुए हेगेल अक्सर इस प्रतियोग को मूर्त, ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर देते थे।

अतः हेगेल के दर्शन की वस्तुगत सामाजिक अंतर्वस्तु और उनकी आत्मगत मनःस्थिति के बीच अंतर्विरोध बुर्जुआ क्रांतिकारी भावना

की असंगतता में निहित है। लेनिन इस अंतर्विरोध के मर्म को प्रकट करते हैं: "हालांकि स्वयं हेगेल निरंकुश प्रशियाई राज्य के प्रशंसक थे, जिसकी सेवा में वह बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर थे, फिर भी हेगेल की **शिक्षाएं** क्रांतिकारी थीं" (10,2,21)। लेनिन इस विचारक की आत्मगत मन:स्थिति और उनके दर्शन की वास्तविक सामाजिक प्रवृत्ति के बीच निर्णायक रूप से फ़र्क़ करते हैं। विचारधारात्मक संघर्ष में उनके दर्शन की वास्तविक भूमिका उनकी चेतना से स्वतंत्र है। हेगेल के वामपंथी अनुयायियों ने उनके दर्शन की इस वास्तविक अंतर्वस्तु को समझा और इसे क्रांतिकारी तथा निरीश्वरवादी निष्कर्षों पर पहुंचने में इस्तेमाल किया। बेशक ऐसे निष्कर्ष हेगेल के लिए पराये थे और यदि वह तरुण हेगेलवादियों के आविर्भाव तक जीवित रहते, तो उनके दृष्टिकोण का अवश्य ही विरोध करते। तो भी, वामपंथी हेगेलवादियों ने इन निष्कर्षों को हेगेल के सिद्धांत पर चिपकाया या थोपा नहीं ताकि उनके नाम की प्रतिष्ठा का उपयोग किया जा सके: वास्तव में उनके सिद्धांत, ठीक-ठीक कहें तो हेगेल के द्वंद्ववाद से निकले थे। यह कितना विरोधाभासपूर्ण है कि कई बातों में हेगेल को अपने ही सिद्धांत का महत्वपूर्ण अर्थ नहीं स्पष्ट था: यह अर्थ ऐतिहासिक क्रम में जाकर ही प्रकट हुआ।

तब हेगेल के दर्शन का क्रांतिकारी महत्व क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में लेनिन लिखते हैं: "मानव की बुद्धि और उसके अधिकारों में हेगेल के विश्वास तथा हेगेलीय दर्शन की इस बुनियादी स्थापना ने कि संसार परिवर्तन और विकास की निरंतर प्रक्रिया मे गुज़र रहा है, बर्लिन के दार्शनिक के उन शिष्यों को, जिन्होंने वर्तमान यथार्थता को मानने से इन्कार किया, इस विचार पर पहुंचाया कि इस यथार्थता के ख़िलाफ़ संघर्ष, विद्यमान असत्य और व्याप्त बुराई के ख़िलाफ़ संघर्ष शाश्वत विकास के सार्विक नियम में भी निहित है। अगर सभी चीज़ें विकसित होती हैं, अगर एक प्रकार की संस्थाओं का स्थान दूसरे प्रकार की संस्थाएं ले लेती हैं, तो क्यों रूसी ज़ार या प्रशियाई राजा की निरंकुशता, अधिकांश लोगों की क़ीमत पर मुट्ठी भर लोगों की समृद्धि या जनता पर बुर्जुआ वर्ग का प्रभुत्व हमेशा के लिए जारी रहेगा?" (10,2,21)। यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे

मौलिक निष्कर्ष हेगेल के लिए पराये थे, लेकिन उनका अपना वस्तुगत तर्क है: वे अनिवार्यत: सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वंद्वात्मक विश्लेषण से उत्पन्न होते हैं।

हेगेल ने बहुधा दक़ियानूसी और प्रतिक्रियावादी भी निष्कर्ष निकालने के लिए द्वंद्ववाद का सहारा लिया, लेकिन इन सभी परिस्थितियों में उन्होंने वस्तुत: द्वंद्ववाद का उल्लंघन किया। उदाहरणार्थ, हेगेल ने दावा किया कि राज्य का विकास तब भी, जब यह आमूल परिवर्तन की ओर ले जाता है, "शांत और **बाह्यतः** अदृष्टिगोचर गति है"। द्वंद्ववाद तथा बुर्जुआ क्रांतियों के संपूर्ण ऐतिहासिक अनुभव का खंडन करने वाले इस वक्तव्य को उद्धृत करते हुए मार्क्स ने कहा: "**क्रमिक** संक्रमण का प्रवर्ग, पहले तो ऐतिहासिक रूप से ग़लत है और, दूसरे, यह कुछ भी स्पष्ट नहीं करता" (1,*3*,57) ।

दार्शनिक की आत्मगत मन:स्थिति और उनके सिद्धांत की वास्तविक सामाजिक प्रवृत्ति के बीच अंतर्विरोध की व्याख्या इस अर्थ में नहीं की जानी चाहिए कि हेगेल दक़ियानूसी (और प्रतिक्रियावादी भी) थे, भले ही उनका सिद्धांत क्रांतिकारी क्यों न हो। किसी भी अंतर्विरोध का परिमाण होता है, यह वास्तविक जीवन में सीमित होता है: इस सचाई की उपेक्षा करने का अर्थ तर्क-विरोधी भावना में द्वंद्ववाद की अतर्कबुद्धिवादी व्याख्या करना है।

महान फ़्रांसीसी क्रांति के प्रति हेगेल का रुख प्रकट करता है कि विचारक के दर्शन की वास्तविक अंतर्वस्तु के मुक़ाबले में उनकी आत्मगत आत्म-चेतना को अधिभूतवादी ढंग से रखना बिलकुल ग़लत है। हेगेल इस क्रांति का वर्णन "**विश्व-ऐतिहासिक** के रूप में" करते हैं "क्योंकि अपनी **अंतर्वस्तु** के अनुसार यह घटना वस्तुत: विश्व-ऐतिहासिक महत्व रखती है" (63,*4*,931) । वियेना की कांग्रेस के बाद, जब विजयी सामंती प्रतिक्रिया बुर्जुआ-जनवादी उपलब्धियों को नष्ट कर रही थी, क्रांतिकारी विगत की स्मृतियों को मिटाने की कोशिश कर रही थी, हेगेल ने घोषित किया: "...यह भव्य सूर्योदय था। सभी चिंतनशील लोगों ने इस युग को मनाया। उस समय उल्लसित, मर्मस्पर्शी भावनाएं व्याप्त थीं, संसार भावनात्मक उत्साह से ओत-प्रोत था, मानो संसार में दैव का अभी वास्तविक मेल हुआ हो"। (63,*4*,926) । प्रसंगवश,

इन उत्साहपूर्ण शब्दों का अनुगमन गंभीर संदेहों ने किया। लेकिन वे क्रांति के इस उच्च मूल्यांकन के महत्व को कम नहीं कर सके।

यह सही है कि हेगेल ने बुर्जुआ रूपांतरण के क्रांतिकारी मार्ग को सभी देशों के लिए अनिवार्य नहीं माना। लेकिन उन्होंने सीधे घोषित किया ('दर्शन के इतिहास पर व्याख्यान' में) कि निश्चित परिस्थितियों के अंतर्गत क्रांति अनिवार्य बन जाती है। हेगेल के अनुसार, जब जन-भावना यह महसूस करती है कि विद्यमान विधिक आधार अपनी आवश्यकता से वंचित होकर बेड़ियां बन गया है तब "दो में से एक विकल्प प्रकट होता है: या तो जनता आंतरिक हिंसात्मक विस्फोट के द्वारा इस अधिकार को नष्ट कर देती है, जो अब भी स्वीकार किये जाने की मांग करता है या वह शांतिपूर्वक और क्रमशः उस क़ानून को बदल देती है, जिसे अब भी क़ानून माना जाता है, लेकिन जो अब नैतिकता का एक वास्तविक अखंड तत्व बिल्कुल नहीं रह जाता, बल्कि अब यह वह चीज़ है, जिसे जन-भावना ने पहले ही वशीभूत कर लिया है" (64,*14*,276-77)। स्वभावतः हेगेल सामंती अधिसंरचना के बुर्जुआ अधिसंरचना में शांत और क्रमिक रूपांतरण का समर्थन करते हैं। यह विचारधारात्मक प्रवृत्ति बुर्जुआ क्रांति के विशिष्ट स्वरूप को प्रतिबिम्बित करती है, जो केवल तब शुरू होती है, जब पूंजीवादी संरचना सामंती प्रणाली के गर्भ में उत्पन्न होती है। फिर भी, हेगेल इस चीज़ को भली भांति जानते हैं कि ऐसे शांतिपूर्ण क्रमविकास के लिए शासकीय सामाजिक शक्तियों द्वारा नूतन का स्वागत करने की तत्परता आवश्यक है। "राज्य हिंसात्मक क्रांतियों के बिना तब रूपांतरित होता है, जब यह समझ सार्विक संपदा बन जाती है: संस्थाएं पके फल की भांति गिर पड़ती हैं, वे न मालूम कैसे लुप्त हो जाती हैं; इस अनिवार्य सत्य के सामने हर कोई नतमस्तक होता है कि इसका अधिकार ख़त्म होना ही चाहिए। परंतु सरकार को यह मालूम होना चाहिए कि इसके लिए समय आ गया है। यदि सरकार सचाई से अनभिज्ञ रहकर अपने को अस्थायी संस्थाओं से जकड़ देती है, यदि, वह अपने संरक्षण में महत्वपूर्ण के विरुद्ध क़ानून की शक्ति रखने वाले महत्वहीन को लेती है ... तो उसे इसी वजह से आगे बढ़ती हुई जन-भावना द्वारा बलपूर्वक उलट दिया जाता है" (64,*14*,277)।

बुर्जुआ क्रांति की विचारधारा नियमतः शासक सामंती शक्तियों के साथ समझौते का रुझान रखती है; इसका एक कारण यह है कि इस समझौते से सबसे पहले बुर्जुआ वर्ग को लाभ होता है। बुर्जुआ क्रांतिकारी भावना हमेशा सीमित, असंगत, अपूर्ण होती है, लेकिन वस्तुतः यही विशेषताएं शासक सामंती वर्गों के एक निश्चित हिस्से को बुर्जुआ वर्ग के पक्ष में कर लेती हैं। और हेगेल का दर्शन एक पिछड़े, सामंती देश में बुर्जुआ संबंधों के उत्थान के युग में बुर्जुआ क्रांतिकारी भावना के सार को प्रामाणिक ढंग से व्यक्त करता है। यही चीज़ उनके दर्शन को युग-विशेष की सामाजिक चेतना बनाती है।

हेगेल के दर्शन का "धुंधलापन" मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्लेषण के प्रकाश में लुप्त हो जाता है। हेगेलीय सिद्धांत का सामाजिक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। फिर क्या कारण है कि आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक उन्हें एक राजनीतिक प्रतिक्रियावादी, सर्वसत्तात्मक राज्य के सिद्धांतकार के रूप में पेश करते हैं? इतिहास की विडंबना ऐसी है कि यह महान बुर्जुआ विचारक आज प्रतिक्रियावादी विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष में प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों का मित्र है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा व्यवहार की सार्विकता की हेगेलीय धारणा

बहुत बढ़िया: हेगेल धारणा और विषय के मेल के रूप में "विचार" पर, **सत्य** के रूप में विचार पर मनुष्य के व्यावहारिक, उद्देश्यपूर्ण कार्य के **ज़रिये** पहुंचते हैं। उस विचार के बहुत निकट कि मनुष्य अपने **व्यवहार** द्वारा अपने विचारों, धारणाओं, ज्ञान, विज्ञान की वस्तुगत सत्यता को सिद्ध करता है।

व्ला० इ० लेनिन

मार्क्सवादी दर्शन ने व्यवहार की विविधता, इसके ज्ञानमीमांसीय, सामाजिक-आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक, क्रांतिकारी कार्यों, इसके सार्विक महत्व और अर्थ को प्रकट किया है, जो भौतिक उत्पादन, सामाजिक रूपांतरणों, संज्ञान, कलात्मक कार्यों और सामान्यत: किसी भी मानव-कार्य में मूलत: भिन्न ढंग से व्यक्त होते हैं। व्यवहार का द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में दर्शन के इतिहास समेत संज्ञान के संपूर्ण इतिहास के आलोचनात्मक सामान्यीकरण के रूप में अस्तित्व रखता और विकसित होता है। उल्लेखनीय है कि मार्क्सवाद के संस्थापकों ने सर्वोपरि दर्शन के इतिहास की अपनी कृतियों में व्यवहार के मार्क्सवादी दार्शनिक सिद्धांत की महत्वपूर्ण प्रस्थापनाएं पेश कीं। ये कृतियां हैं: मार्क्स की 'हेगेल के विधि-दर्शन में योगदान', एंगेल्स की 'लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत' और लेनिन की 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' तथा 'दार्शनिक टिप्पणियां'। इस संबंध में स्वभावत: यह प्रश्न उठता है: पूर्वमार्क्सवादी दर्शन में व्यवहार की समस्या ने क्या भूमिका अदा की? मार्क्सवादी दर्शन प्रगतिशील पूर्ववर्तियों सहित अपने सभी पूर्ववर्तियों

से इस अर्थ में भिन्न है कि इसने व्यवहार के प्रश्न को मुख्य दार्शनिक समस्या बनाया। फिर भी, दार्शनिक विरासत के महत्व को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए, जिसके बिना द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद का आविर्भाव असंभव होता।

ठीक-ठीक कहें तो प्राचीन और मध्यकालीन दर्शन में यहां तक कि दर्शन के समक्ष व्यावहारिक (नैतिक, शैक्षिक) कार्य पेश करनेवाले सिद्धांतों में भी एक दार्शनिक समस्या के रूप में व्यवहार की कोई समस्या नहीं थी। केवल प्रारंभिक बुर्जुआ क्रांतियों के युग में, जो दार्शनिक विषयों में क्रांतिकारी परिवर्तन का भी युग है, व्यवहार की समस्या एक दार्शनिक समस्या बनती है। बेकन और देकार्त मनुष्य को प्रकृति का स्वामी घोषित करनेवाले पहले दार्शनिक हैं। परंतु दर्शन के समक्ष प्राकृतिक नियमों के संज्ञान का कार्य पेश करते हुए ये विचारक दर्शन तथा विशेष विज्ञान के बीच कोई अंतर नहीं करते हैं। न ही वे व्यवहार से दर्शन के विशिष्ट संबंध का अध्ययन करते हैं। १७वीं और १८वीं सदियों के दार्शनिक व्यवहार को मुख्यत: वैज्ञानिक ज्ञान के प्रयोग तथा व्यक्तियों के कार्य के रूप में देखते हैं, जो अपने दैनंदिन अनुभव से आगे बढ़ते हैं और अपने निजी उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं। तत्वनिरूपण और ग़ैर-दार्शनिक, ख़ास तौर से, व्यावहारिक सक्रियता के बीच विरोध को उसकी उपलब्धियों और ज्ञानमीमांसीय महत्व को दार्शनिक रूप से समझने के प्रयासों के बावजूद बनाये रखा जाता है।

व्यवहार की दार्शनिक समझ के विकास में नयी अवस्था क्लासिकीय जर्मन दर्शन के आविर्भाव से जुड़ी हुई है। "शुद्ध" व्यावहारिक बुद्धि के नैतिक चेतना में रूपांतरण के बावजूद सैद्धांतिक बुद्धि पर व्यावहारिक बुद्धि की प्रधानता के बारे में कांट की प्रस्थापना मूलत: नीतिशास्त्र की सीमाओं से पहले ही आगे बढ़ चुकी होती है। असल बात यह है कि ऐसी दार्शनिक समस्याएं हैं, जिनका समाधान व्यावहारिक ढंग से ही किया जा सकता है। कांट के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी फ़िख़्ते का दर्शन केवल विज्ञान का सिद्धांत ही नहीं, बल्कि प्रत्ययवादी ढंग से प्रतिपादित व्यवहार का दर्शन भी है।

हेगेल और भी आगे जाते हैं। वह चिंतन को सर्वशक्तिमान और सर्वरचनात्मक "परम प्रत्यय" के रूप में देखते हैं। दूसरे शब्दों में,

वह चिंतन को व्यावहारिक कार्य के रूप में देखते हैं। इस दृष्टिकोण से व्यवहार मात्र मानव कार्य नहीं है। बेशक, जीवित, परिमित प्राणियों के बीच केवल मनुष्य ही अपने इर्दगिर्द दुनिया को कारगर ढंग से रूपांतरित करनेवाले उद्देश्यपूर्ण, व्यावहारिक कार्य में समर्थ है। लेकिन हेगेलीय व्यवहार मनुष्य से ऊपर है; उसे चिंतन तथा बुद्धि की भांति तात्विक कार्य के रूप में पेश किया जाता है, जो चिंतन और सत्ता के मौलिक विरोध के बीच मध्यस्थता करते हुए उनका द्वंद्वात्मक तादात्म्य क़ायम करता है। पहली दृष्टि में दुर्बोध प्रतीत होने वाली ये प्रत्ययवादी प्रस्थापनाएं वस्तुतः नितांत महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर ले जाती हैं: सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक कार्यों के बीच विरोध सापेक्ष है। व्यवहार आत्मिक और भौतिक की एकता है और ठीक इसी वजह से यह सार्विक है। और चूंकि व्यवहार अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं के संसार को जन्म देकर अपने को साकार करता है, इसलिए यह सचमुच व्यक्तियों के आत्मगत कार्य से ऊपर है, जैसा कि, उदाहरणार्थ, सामाजिक जीवन के निर्धारक आधार सामाजिक उत्पादन से स्पष्ट है। स्वभावतः यह निष्कर्ष हेगेल का नहीं है, बल्कि यह तो उनकी प्रस्थापनाओं की भौतिक व्याख्या से निकलता है, जिसके अनुसार व्यवहार "परम प्रत्यय" का सारतत्व, ब्रह्मांड की उत्पत्ति और संपूर्ण विकास की अंतर्वस्तु, भौतिक तथा आत्मिक का द्वंद्वात्मक तादात्म्य है। हेगेल इसे निम्नलिखित ढंग से व्यक्त करते हैं: "परम प्रत्यय सर्वोपरि व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक प्रत्यय की एकता और, अतः, जीवन के प्रत्यय और ज्ञान के प्रत्यय की एकता भी है" (64,*6*,408)।

लेकिन चिंतन और सत्ता का विरोध, जो प्रत्यक्षतः मानव-जीवन के लिए लाक्षणिक है, कोई भ्रम नहीं है। यह कठोर वास्तविकता है, जिससे हमारा अटूट संबंध है। हमारा जीवन हमेशा दिखाता है कि चिंत्य और वस्तुतः अस्तित्वमान बिल्कुल भिन्न चीज़ें हैं। अतः सैद्धांतिक ज्ञान काफ़ी नहीं होता, क्योंकि यह दुनिया को उसी रूप में देखने का प्रयास करता है, जिस रूप में वह है, जबकि कार्य दुनिया को वैसा बनाना है, जैसा उसे होना चाहिए।

सैद्धांतिक प्रत्यय या संज्ञान, जिसकी व्याख्या हेगेल केवल मानव कार्य के रूप में ही नहीं, बल्कि "परम प्रत्यय" के स्व-प्रणोदन के

रूप में भी करते हैं, अपनी अंतर्वस्तु अपनी अन्यसत्ता यानी बाह्य, अन्यसंक्रामित जगत् से प्राप्त करता है। बाह्य पर यह निर्भरता सैद्धांतिक प्रत्यय का परिसीमन है, अतः यह अभी सर्व-आवेष्टनकारी विषयी-तत्व नहीं है, जो सभी अस्तित्वमान चीज़ों को जन्म देता है तथा उन्हें अपनी मान्य अंतर्वस्तु के रूप में निज में रखता है। इस परिसीमन पर सैद्धांतिक साधनों से क़ाबू नहीं पाया जा सकता ; सिद्धांत को व्यवहार में परिणत होना चाहिए। केवल इसी परिस्थिति में निज-रूप धारणा निज-निमित्त धारणा बनती है। यह अब केवल संज्ञान के रूप में ही नहीं, बल्कि अस्तित्वमान सत्ता को परिवर्तित करने वाले कार्य के रूप में भी प्रकट होती है। एक व्यावहारिक प्रत्यय के रूप में धारणा अपनी अंतर्वस्तु को वस्तुगत जगत् में पेश करती है और इसके ज़रिये वस्तुगत की "बाह्यता" पर, आत्मा से इसके अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाती है तथा बुद्धिसंगत आधार पर दुनिया का पुनर्निर्माण करती है।

लेकिन व्यावहारिक प्रत्यय भी सीमित है, क्योंकि यह सैद्धांतिक प्रत्यय का उसके निषेध के रूप में विरोध करता है। हेगेल के अनुसार, उसमें "अब भी **सैद्धांतिक** प्रत्यय के गुण का अभाव होता है" (64,5,323) अर्थात उद्देश्यों और उनके कार्यान्वयन के मार्ग की समझ तथा यथार्थता के आलोचनात्मक मूल्यांकन का अभाव, जिसे यह परिवर्तित करता है, चाहे उसकी प्रकृति कुछ भी क्यों न हो। अपने विकास की इस अवस्था में व्यावहारिक प्रत्यय यथार्थता को अभी भी प्रामाणिक ढंग से नहीं, बल्कि किसी ऐसी चीज़ के रूप में समझता है, जो "स्वयं नगण्य है और जिसे अपना सही निर्धारण तथा एकमात्र मूल्य अपने उद्देश्य के रूप में सिर्फ़ शुभ के ज़रिये प्राप्त करना चाहिए" (64,5,324) । वस्तुगत यथार्थता के अपर्याप्त मूल्यांकन पर व्यावहारिक प्रत्यय के, व्यवहार के विकास द्वारा क़ाबू पाया जाता है, क्योंकि व्यवहार सैद्धांतिक ज्ञान को आत्मसात करता है, उसमें यथार्थता और इसके परिवर्तन के नियमों के ज्ञान के रूप में पारंगति प्राप्त करता है, तथा इसके द्वारा समझता है कि सैद्धांतिक प्रत्यय के प्रति इसका विरोध केवल सापेक्ष है। इसकी वजह से "एक ऐसा वस्तुगत संसार" उत्पन्न और क़ायम होता है, "जिसका आंतरिक आधार और वास्तविक स्थिरता धारणा है। यही परम प्रत्यय है" (64,5,327) ।

अपने प्रत्ययवादी स्वरूप के बावजूद हेगेल द्वारा विकसित व्यवहार की द्वंद्वात्मक धारणा में सामाजिक व्यवहार की वास्तविक अंतर्वस्तु और अर्थ गहन रूप से विद्यमान हैं। अस्तित्वमान का व्यावहारिक परिवर्तन उसके ज्ञान के लिए मूल शर्त है। अत: व्यवहार संज्ञान का आधार तथा उसके कार्यान्वयन का उच्चतम रूप है। स्वभावत: हेगेल इन सत्यों को प्रत्ययवादी ढंग से प्रस्तुत करते हैं: आत्मा केवल उसी चीज़ का संज्ञान करती है, जिसका वह स्वयं निर्माण करती है। पर चूंकि इस रचनात्मक आत्मा ने अभी आत्म-चेतना नहीं प्राप्त की है, यह अपने द्वारा रूपांतरित यथार्थता को अनात्मिक और अत: नगण्य मानती है। लेकिन यथार्थता कदापि नगण्य नहीं होती, क्योंकि इसका सार आत्मिक होता है। व्यावहारिक प्रत्यय यथार्थता को अपने सृजन के रूप में समझते हुए उसके अपने निषेध को रद्द करता है। अपने इस रूप में अर्थात "परम प्रत्यय" के रूप में व्यावहारिक प्रत्यय संज्ञान से ऊपर है, क्योंकि यह "केवल सार्विक का ही नहीं, बल्कि **पूर्णत: वास्तविक** का भी महत्व रखता है"(10,*38*,213)। लेनिन ने हेगेल की इस प्रस्थापना का उच्च मूल्यांकन किया। 'तर्कशास्त्र' पर अपनी टिप्पणियों में वह सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रत्ययों के बारे में हेगेल की प्रस्थापनाओं का विश्लेषण करते हैं तथा उनके बुद्धिसंगत तत्वों को प्रकट करते हैं। 'हेगेल व्यवहार और संज्ञान की वस्तुगतता पर' शीर्षक अपने अध्ययन के विषय को सूत्रित करते हुए लेनिन दिखाते हैं कि यह जर्मन प्रत्ययवादी व्यवहार की भूमिका की सही ज्ञानमीमांसीय समझ के कितने निकट हैं। लेनिन हेगेल की स्थापनाओं का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए और उन्हें भौतिकवादी ढंग से ठीक करते हुए लिखते हैं: "सैद्धांतिक संज्ञान को विषय को इसकी आवश्यकता में, इसके चहुंमुखी संबंधों में, इसकी अंतर्विरोधी an und für sich* गति में प्रदान करना चाहिए। लेकिन मानव-विचारणा संज्ञान के इस वस्तुगत सत्य को 'निश्चित रूप से' केवल तभी पकड़ती और उसमें पारंगत होती है, जब विचारणा व्यावहारिक अर्थ में 'सत्ता निज-निमित्त' बन जाती है। अर्थात मनुष्य और मानवजाति का व्यवहार संज्ञान की

---

*निज में और निज-निमित्त। – **अनु०**

वस्तुगतता की कसौटी है। क्या यही हेगेल का विचार है? इस पर लौटना ज़रूरी है"(10,*38*,211) ।

लेनिन 'तर्कशास्त्र' पर अपनी टिप्पणियों में आगे के पृष्ठों पर इन प्रश्नों पर सचमुच लौटते हैं। 'ज्ञान के सिद्धांत में व्यवहार' शीर्षक भाग में वह "सिद्धांत और व्यवहार" के संबंध की हेगेलीय समझ का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं। प्रत्ययवाद को ख़ारिज करते हुए लेनिन दिखाते हैं कि हेगेल न केवल व्यवहार से सिद्धांत के संबंध, बल्कि सिद्धांत से व्यवहार के संबंध को भी द्वंद्वात्मक ढंग से समझते हैं। इससे हेगेल इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सिद्धांत से समृद्ध व्यवहार अपने विकास की प्रत्येक पृथक् अवस्था में संज्ञानात्मक कार्य का उच्चतम रूप बनता है। हेगेल की उपर्युक्त प्रस्थापना का हवाला देते हुए लेनिन लिखते हैं: "**व्यवहार (सैद्धांतिक) संज्ञान से उच्च है**, क्योंकि यह केवल सार्विकता का ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष यथार्थता का भी महत्व रखता है" (10,*38*,213) ।

ज़ोर दिया जाना चाहिए कि लेनिन **सारे** और **हर तरह के** व्यवहार की चर्चा नहीं करते। व्यवहार को इसके विकास में एक अवस्था से दूसरी, उच्चतर अवस्था में संक्रमण के रूप में देखा जाता है। साथ ही, ज्ञान से व्यवहार का संबंध भी बदलता है; ज्ञान अपनी बारी में विकसित होता है और सैद्धांतिक ज्ञान के स्तर पर पहुंचता है। सिद्धांत व्यावहारिक कार्य में बदल जाता है और इसके ज़रिये इसे एक नये, उच्चतर स्तर पर उठाता है। सिद्धांत के मार्गदर्शन में व्यवहार सिद्धांत को संशोधित करता, समृद्ध तथा ठोस बनाता है। अपने विकसित और सैद्धांतिक संज्ञान से अटूट रूप से जुड़े व्यवहार में निहित प्रत्यक्ष यथार्थता और सार्विकता की एकता ही व्यवहार को सत्य की कसौटी बनाती है। और वस्तुतः यही कारण है कि अध्ययन के परिणामों का सैद्धांतिक सत्यापन तथा व्यवहार द्वारा उनका परीक्षण एक-दूसरे को पूर्ण और समृद्ध बनाते हैं और सत्य तथा इसकी कसौटी अर्थात विज्ञान और व्यवहार को निरपेक्ष मानने के लिए स्थान नहीं छोड़ते।

आधुनिक प्रत्ययवादी दार्शनिक सत्य की कसौटी के रूप में व्यवहार की मार्क्सवादी समझ को अस्वीकार करते हैं और आत्मिक परिघटना

के रूप में ज्ञान तथा भौतिक वस्तुओं से प्रत्यक्षतः जुड़े व्यावहारिक कार्य के बीच पारस्परिक विरोध की ओर इंगित करते हैं। आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिकों के विपरीत हेगेल के लिए चिंतन, तर्क तथा व्यावहारिक कार्य के बीच यह अधिभूतवादी मुक़ाबला बिल्कुल पराया था। उनके सिद्धांत के अनुसार, व्यवहार एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आत्मिक को भौतिक में तथा आत्मगत को वस्तुगत में बदलती है। लेनिन इस धारणा के बुद्धिसंगत तत्व को प्रकट करते हुए हेगेल की प्रत्ययवादी प्रस्थापना को असाधारण स्पष्टता से उद्घाटित करते हैं: "हेगेल के लिए **कार्य**, व्यवहार एक **तार्किक हेत्वनुमान**', तर्क का आकार है। और यह सही है! बेशक इस अर्थ में नहीं कि तर्क का आकार मनुष्य के व्यवहार (=परम प्रत्ययवाद) में अपनी अन्यसत्ता रखता है, बल्कि इसके विपरीत, मनुष्य का व्यवहार अरबों बार पुनरावृत्त होकर तर्क के आकारों द्वारा उसकी चेतना में सुदृढ़ हो जाता है" (10,*38*,217) ।

पूर्व-मार्क्सवादी भौतिकवाद ने प्रतिबिम्बन के ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत को प्रमाणित करते हुए प्रत्ययवाद का प्रतिकार किया, लेकिन इसने संज्ञान के लिए लाक्षणिक तार्किक रूपों के साथ वस्तुगत यथार्थता के संबंध के प्रश्न को नहीं पेश किया। एंगेल्स ने इंगित किया कि अधिभूतवादी भौतिकवाद ने "अपने को इस प्रमाण तक सीमित किया कि सम्पूर्ण चिंतन और ज्ञान की अंतर्वस्तु इंद्रिय-अनुभव से ही निगमित होनी चाहिए... यह आधुनिक प्रत्ययवादी किंतु साथ ही द्वंद्वात्मक, ख़ास तौर से हेगेल का दर्शन था, जिसने **रूप** के संबंध में भी इसका अध्ययन किया" (9,266) ।

एक ओर, अधिभूतवादी भौतिकवाद का और दूसरी ओर, कांट के आत्मगतवाद का विरोध करते हुए हेगेल अपने प्रत्ययवाद के बावजूद वस्तुगत यथार्थता को व्यक्त करनेवाले रूपों के तौर पर तार्किक रूपों की सही समझ का पूर्वानुमान करते हैं, हालांकि उनकी व्याख्या सचमुच प्रत्ययवादी है। उनके विचार में, सभी चीज़ें निर्णय, परिकल्पित निष्कर्ष हैं। इन प्रतीयमानतः निरर्थक दावों का हवाला देते हुए लेनिन कहते हैं: "बहुत अच्छा! सर्वाधिक सामान्य तार्किक 'आकार'— (यह सब 'हेत्वनुमान के प्रथम आकार' से संबंधित पैराग्राफ़ में)

स्कूली पाठ्य-पुस्तकों में पांडित्यपूर्ण ढंग से पेश की गयी, sit venia verbo,* वस्तुओं के सर्वाधिक सामान्य संबंध हैं" (10,*38*,177)।

हेगेल इस चीज़ की समझ के निकट पहुंचते हैं कि चिंतन के रूपों में वस्तुगत यथार्थता के संबंधों का पुनरुत्पादन मनुष्यों के लंबे, बहुविध व्यावहारिक कार्य का परिणाम है। लेनिन इस चीज़ पर ध्यान दिलाते हुए ज़ोर देते हैं कि तार्किक आकारों की प्रतीयमान पूर्ण स्थिरता उनके निरंतर व्यावहारिक प्रयोग द्वारा निर्धारित होती है। ये आकार पूर्वाग्रह की दृढ़ता रखते हैं, वे वस्तुतः (और केवल) इस वजह से स्वयंसिद्धियों के स्वरूप के होते हैं कि वे अरबों बार दुहराये जाते हैं (10,*38*,216-17)। संज्ञान में व्यवहार की भूमिका की हेगेलीय समझ का निष्कर्ष पेश करते हुए लेनिन लिखते हैं: "निस्संदेह, हेगेल में व्यवहार संज्ञान की प्रक्रिया के विश्लेषण में एक कड़ी के रूप में और वास्तव में वस्तुगत (हेगेल के अनुसार "परम") सत्य में संक्रमण के रूप में काम करता है। अतः मार्क्स ने संज्ञान के सिद्धांत में व्यवहार की कसौटी लागू करने में प्रत्यक्षतः हेगेल का पक्ष लिया" (10,*38*,212)।

स्मरणीय है कि हेगेल प्रत्यय को किसी चीज़ के बारे में मानव-धारणा के रूप में नहीं, बल्कि कुछ ऐसी चीज़ के रूप में पेश करते हैं, जो मानो मानव और मानवजाति से स्वतंत्र हो: चिंतन की अवैयक्तिक प्रक्रिया, जो सभी प्राकृतिक तथा सामाजिक चीज़ों में घटित होती है और उनका परम सार, मूलतत्व बनाती है। यही बात धारणा पर भी लागू होती है, जो हेगेल की दृष्टि से, न केवल मानव-चिंतन का रूप, बल्कि "परम प्रत्यय" का प्रामाणिक रूप भी है अर्थात् यह परम भी है। हेगेल के शब्दों में, प्रत्यय को "**किसी चीज़ के** प्रत्यय के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए वैसे ही जैसे धारणा को केवल एक निश्चित धारणा के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए" (64,*6*,385)।

हेगेल शब्द "प्रत्यय" का प्रयोग मूलतत्व के अर्थ में करते हैं, पहले, क्योंकि उन्होंने मूलतत्व के प्रवर्ग की प्रत्ययवादी व्याख्या की, और दूसरे, क्योंकि विकासमान मूलतत्व की द्वंद्ववादी धारणा को प्रमाणित करते हुए वह दिखाते हैं कि मूलतत्व विषयी, मानवजाति, सैद्धांतिक

---

*इजाज़त हो तो कहूं। – **अनु०**

प्रत्यय, व्यावहारिक प्रत्यय, आदि बनता है। इसीलिए वह प्रत्यय को एक परम, एकल के रूप में मानते हैं, जो निश्चित प्रत्ययों को स्वतः एकीकृत करता है। ये प्रत्यय अपने तार्किक विकास में द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र के प्रवर्गों की प्रणाली, सार्विक निर्धारणों और सत्ता के संज्ञान की प्रणाली बनाते हैं। हेगेल के ये विचार अधिक स्पष्ट हो जाते हैं यदि हम उन्हें प्लेटो द्वारा शुरू दार्शनिक परम्परा से जोड़ दें, जिनकी शिक्षा के अनुसार, प्रत्ययों का इंद्रियातीत जगत् इंद्रियगत ढंग से अनुभूत वस्तुओं के जगत् का स्रोत है। प्लेटो के विचार में, उतने ही प्रत्यय हैं, जितनी कि अलग-अलग वस्तुएं और उनमें निहित गुणात्मक निर्धारक लक्षण ; इंद्रियगत ढंग से अनुभूत जगत् में अस्तित्वमान हर चीज़ का परलोक में एक निश्चित प्रत्यय है।

हेगेल ऐसे प्रत्ययों की अपरिमित विविधता को अस्वीकार करते हैं, जिनके परिमाण और गुण वस्तुतः इंद्रियगत ढंग से अनुभूत वस्तुओं द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। वह मात्र एक सार्विक आद्य प्रत्यय के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जिसे "परम प्रत्यय" का नाम दिया जाता है और जो सत्ता तथा चिंतन की एकता, चिंतन-सत्ता, विषयी-विषय है। इस तरह, बुद्धि, चिंतन, संज्ञान, व्यवहार यानी मनुष्य के मौलिक बौद्धिक गुण एक अतिमानवीय महत्व प्राप्त कर लेते हैं तथा इन्हें ब्रह्मांड के गुणात्मक निर्धारक लक्षणों, इसके अस्तित्व, गति और विकास के ढंग के रूप में देखा जाता है। हेगेल का सर्वबुद्धिवादी दृष्टिकोण मनुष्य के लक्षणों को मनुष्य से स्वतंत्र यथार्थता में बहिर्वेशित करता है ; यह अत्यंत सूक्ष्म बुद्धिवादी मानवत्वारोपण है।

लेकिन बात यह है कि मूर्त रूप में अस्तित्वमान माने हुए मानवीय गुणों से संपन्न परम के इस कल्पनीय जगत् के साथ-साथ प्रकृति, समाज, इंद्रियानुभविक ढंग से प्रेक्षित मानव-जीवन का भी अस्तित्व है, जिसमें बुद्धि, चिंतन और संज्ञान न अपरिमित रूप से शक्तिशाली, न परम, न ही सार्विक हैं। स्पष्टतः, हेगेल उस परम के कालनिरपेक्ष जगत, जहां हर चीज़ को पहले ही जाना और सिद्ध किया जा चुका है, तथा काल और देश में अस्तित्वमान उस अपूर्ण मानव-यथार्थता के बीच अन्तर्विरोध से इन्कार नहीं कर सकते, जिसमें संज्ञान अधूरा होता है, जो ग़लतियों से स्वतंत्र नहीं होता और जहां व्यावहारिक

कार्य सीमित, परिमित उद्देश्यों की ओर निर्देशित होता है। इस अंतर्विरोध को जानते हुए हेगेल इसे धारणात्मक रूप में व्यक्त करने का प्रयास करते हैं: विश्व का सच्चा सार "धारणा-निजरूप और निज-निमित्त धारणा है और इसलिए विश्व स्वयं प्रत्यय है। अपूर्ण चाह समाप्त हो जाती है, जब हमें यह ज्ञात होता है कि विश्व का साध्य लक्ष्य उतना ही प्राप्त किया जा चुका है, जितना कि उसे शाश्वत रूप से प्राप्त किया जा रहा है... लेकिन सत्ता और कर्तव्य के बीच यह सामंजस्य कोई जड़ और गतिहीन चीज़ नहीं है, क्योंकि विश्व का साध्य लक्ष्य, शुभ केवल वहीं तक अस्तित्व में है, जहां तक यह स्वयं को निरंतर पैदा करता है" (64,6,407)।

इस तरह, परम को अपनी कालनिरपेक्ष सत्ता में सिद्ध किया जाता है, लेकिन यह अपनी अन्यसत्ता में भी निरंतर सिद्ध होता है, जिसे हेगेल परम का एक अन्यसंक्रामित रूप मानते हैं। ऐसे हैं वास्तविक प्रकृति, मनुष्य और समाज। यदि परम के क्षेत्र में व्यवहार का वर्णन एक ऐसी मध्यस्थ गति के रूप में किया जाता है, जो सत्ता और चिंतन के विलोमों को द्वंद्वात्मक तादात्म्य में बदल देती है, तो वास्तविक मानव-जीवन में व्यावहारिक कार्य ऐंद्रिक स्वरूप धारण करता है और प्राकृतिक प्रेरणाओं, आकर्षणों, मनोभावों तथा रुचियों से अविच्छेद्य है। परंतु परम प्रकृति, समाज, मानव-कार्य के बाहर अस्तित्व नहीं रखता। इसीलिए "परम प्रत्यय" और मानव इतिहास के बीच विरोध वैसे ही सापेक्ष है, जैसे कि सत्ता और चिंतन की प्रतिस्थापना। अतः संगत बात ऐतिहासिक रूप से अनित्य सामाजिक गति में शाश्वत की विशेषताओं को प्रकट करने, सापेक्ष को परम के निर्माण के रूप में और परम को विकासमान के रूप में समझने में निहित है।

हेगेल मानव-कार्य के रूप में व्यवहार का विश्लेषण व्यक्ति के लक्षणों से शुरू करते हैं, जिसकी चेतना प्रत्यक्षतः केवल ऐंद्रिकता के रूप में प्रकट होती है। हालांकि हेगेल मनुष्य की अनुभूतियों (इंद्रियों के क्षेत्र में वह मनुष्य को विषयी की अपेक्षा विषय के रूप में देखते हैं) की विशिष्टता को प्रकट नहीं करते, फिर भी वह ऐंद्रिकता के रूपों को मानव-व्यक्तित्व के निर्माण के रूपों के तौर पर देखते हैं। ऐंद्रिकता का निम्नतम रूप – प्राकृतिक प्रेरणा – "अस्वतंत्र, प्रत्यक्षतः

निश्चित, **कामना की निम्नतम योग्यता** है, जिसका अनुसरण करते हुए मनुष्य एक प्राकृतिक सत्ता के रूप में काम करता है" (64,*18*,4)। हेगेल इच्छाएं भी कही जानेवाली प्राकृतिक प्रेरणाओं तथा अंतर्वस्तु, उद्देश्य और अर्थ से भरी लालसाओं के बीच भेद करते हैं। मनुष्य के स्वतंत्र इंद्रियार्थ कार्य के सोपानक्रम में मनोवेगों का स्थान और भी ऊंचा है। हेगेल के विचार में, मनोवेग के बिना कोई भी महान कार्य संभव नहीं है। रुचि इंद्रियार्थ चाह का अत्यधिक विकसित और अर्थपूर्ण रूप है। इसे स्वार्थ से गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए, जिसमें व्यक्ति अपने तात्विक आधार के प्रति सचेत नहीं होता। मानव-जीवन में रुचियों के महत्व का अतिमूल्यांकन करना कठिन है: रुचि के बिना कुछ भी पूरा नहीं हो सकता। रुचियों का अस्तित्व विभिन्न झुकावों – मनुष्य की ऐंद्रिक प्रकृति के लक्षणों – की पूर्वकल्पना करता है, जो वैयक्तिकता के विशिष्ट लक्षण हैं।

संकल्प उच्चतम ऐंद्रिक-बौद्धिक योग्यता है। संकल्प प्रेरणाओं का "मूल्यांकन" करता है, वह कामना की उच्चतम योग्यता के रूप में इंद्रियार्थ प्रेरणाओं पर अपनी निर्भरता के बावजूद उनके ऊपर उठता है। इस "मूल्यांकन" का परिणाम **चयन** है। चूंकि चयन मानव-अस्तित्व की वैयक्तिकता द्वारा निर्धारित होता है, इसलिए यह अभी भी मनमाना है, लेकिन चूंकि संकल्प अपने को प्राकृतिक प्रेरणाओं से स्वतंत्र करते हुए बुद्धिसंगत, सार्विक रूप से महत्वपूर्ण अंतर्वस्तु से पूरित करता है, इसलिए चयन मनमानेपन पर क़ाबू पा लेता है और अधिकाधिक प्रामाणिक ढंग से संकल्प के सार को व्यक्त करता यानी स्वतंत्रता बन जाता है। हेगेल के शब्दों में, "आत्मगत संकल्प केवल औपचारिक है, जो यह नहीं बताता कि वह **क्या** चाहता है। केवल बुद्धिसंगत संकल्प ही वह सार्विक पूर्वाधार है, जो निजरूप में निर्धारित और विकसित होता है तथा अपने चरणों की व्याख्या संघटक अंगों के रूप में करता है' (64,*1*,144)। हेगेल के अनुसार, संकल्प वहीं तक स्वतंत्र है, जहां तक यह बुद्धिसंगत है अर्थात यह बुद्धिसंगत प्रेरणाओं द्वारा निर्धारित होता है, जो वैयक्तिकता के ऊपर उठते हुए सार्विक महत्व रखती हैं। लेकिन मनुष्य का बुद्धिसंगत सार कोई प्रत्यक्षतः दी गयी चीज़ नहीं है: यह निरंतर निर्माण की प्रक्रिया से गुज़रता रहता है। व्यक्ति अपने

कार्य के ज़रिये सामाजिक या बुद्धिसंगत बनता है। वह स्वयं अपने को मनुष्य बनाता है।

इस तरह संकल्प – ऐंद्रिकता से जिसके वंशागत संबंध को हेगेल नामंज़ूर तो नहीं ही करते, साथ ही इसको सुव्यवस्थित ढंग से प्रकट करने की भी कोशिश करते हैं – मात्र मनुष्य में निहित है तथा बुद्धि की भांति मानव-स्वभाव की विशिष्टता है। यह बात मनोवेगों, रुचियों, झुकावों और एक निश्चित हद तक लालसाओं पर भी लागू होती है, जो जानवरों की प्रेरणाओं से मूलतः भिन्न होते हैं। हेगेल स्वयं इस चीज़ पर ज़ोर देते हैं, लेकिन उनका सर्वबुद्धिवादी पूर्वाधार, जिसके अनुसार तात्विक बुद्धि ऐंद्रिकता का स्रोत है, उनके लिए मानव-जीवन और कार्य के अपेक्षाकृत स्वतंत्र क्षेत्र के रूप में ऐंद्रिकता को सही ढंग से समझना असंभव बना देता है। यही ऐंद्रिकता से संकल्प के संबंध के बारे में हेगेल के सिद्धांत में अनिवार्य अंतर्विरोध का कारण है, क्योंकि एक व्यक्ति के तौर पर मनुष्य की जांच करने में हेगेल स्वभावतः यह देखे बिना नहीं रह सकते कि मनुष्य की इंद्रियगत अनुभूतियां उसके विचारों का स्रोत हैं, जो प्रायः इंद्रियगत ढंग से अनुभूत विषयों से संबद्ध होते हैं और अतः इंद्रियगत अनुभव पर अमूर्त चिंतन की निर्भरता सिद्ध करते हैं।

संकल्प के निर्माण का केवल मानवीय परिघटना के रूप में वर्णन करते हुए हेगेल ठीक ही इस प्रक्रिया की मूल दिशा को दर्ज करते हैं: संकल्प को सामाजिक अंतर्वस्तु से परिपूरित करना, सामाजिक रूप से अर्थपूर्ण प्रेरणाओं द्वारा संकल्प के कार्यों का निर्धारण। संकल्प की वस्तुगत अंतर्वस्तु तथा सामान्यतः व्यावहारिक कार्य का नैतिकता तथा विधि में रूपांतरण, लेनिन ज़ोर देते हैं, एकांगी दृष्टिकोण है (10,*38*,193) बेशक, यहां मूल चीज़ यह है कि विधि और नैतिकता, हेगेल के अनुसार, "नागरिक समाज" का आधार हैं। सामाजिक जीवन की उनकी समझ मूलतः विधिक विश्व-दृष्टिकोण – बुर्जुआ विचारधारा के क्लासिकीय रूप – द्वारा निर्धारित होती है। जैसा कि आगे चलकर यह स्पष्ट हो जायेगा, हेगेल मनुष्य के विकास में श्रम की भूमिका के बारे में मेधावी अंतर्दृष्टि रखते हैं। तो भी, वह श्रम क्रिया को संकल्प के मानवीय स्वरूप को ही निर्धारित करने वाली चीज़ के रूप में नहीं

देखते। यह प्रतिबंध और इससे संबद्ध ग़लतियों की जड़ प्रत्ययवाद में है, जो भौतिक उत्पादन को सामाजिक जीवन के आधार के रूप में समझना असंभव बनाता है।

यदि शुरू में हेगेल ने संकल्प को ऐंद्रिकता से उसके संबंध में देखा, तो आगे चलकर संकल्प की वस्तुगत, सार्विक अंतर्वस्तु के निर्धारण के संबंध में उन्होंने तात्विक बुद्धि से संकल्प के संबंध को अपने विश्लेषण का विषय बनाया। १७वीं शताब्दी के तर्कबुद्धिवादियों ने संकल्प को बुद्धि के एक विशेष रूप में परिभाषित किया था। उन्होंने संकल्प के विरोध में अनुभावों को रखा, ताकि बुद्धिसंगत संकल्प की अपनी धारणा को प्रमाणित कर सकें। लेकिन एक द्वंद्ववादी के रूप में हेगेल संकल्प को अनुभावों से जोड़ते तथा उनके बीच भेद भी करते हुए इस विरोध को सीमित करते हैं। अन्य मामलों की भांति यहां भी वह द्वंद्वात्मक तादात्म्य के अपने सुप्रसिद्ध सूत्र को लागू करते हैं। यह दृष्टि-कोण संकल्प की अमूर्त धारणा पर क़ाबू पाने में समर्थ बनाता है, जो तर्कबुद्धिवाद के लिए अभिलाक्षणिक है तथा कांट के दर्शन में अपनी चरम अभिव्यक्ति पाती है। इंद्रियगत कार्य के बहुविध रूपों का विश्लेषण हेगेल को व्यवहार की मौलिक महत्व की समस्या पेश करने में समर्थ बनाता है, भले ही यह प्रत्ययवादी ढांचे में क्यों न हो।

अत: हेगेल के सिद्धांत के अनुसार आत्मा एक ओर, ज्ञान के रूप में और दूसरी ओर, संकल्प के, बाहर को निर्दिष्ट कार्य के रूप में अस्तित्व रखती है। "संकल्प अब भी आत्मगतता के रूप को धारण किये हुए ही अपनी आंतरिक अंतर्वस्तु को **वस्तुगत बनाने** की कोशिश करता है" (64,7,359-60)। संज्ञान संज्ञान के ऐसे विषय की विद्य-मानता की पूर्वकल्पता करता है, जो विषयी के लिए बाह्य होता है। संज्ञानात्मक क्रिया तथा इसके विषय के बीच विरोध की मध्यस्थता की जानी चाहिए, अन्यथा विषय सामान्यत: संज्ञान का विषय नही हो सकता। आत्मिक और भौतिक की एकता के रूप में केवल व्यवहार ही इस तरह का मध्यस्थ हो सकता है।

यदि संज्ञान बाह्य यथार्थता का आंतरीकरण है, तो व्यवहार पूर्ववर्ती संज्ञान के ज़रिये प्राप्त चेतना की आंतरिक अंतर्वस्तु का बाह्यी-करण है। अपनी द्वंद्वात्मक सापेक्षता की वजह से आंतरिक और बाह्य का

यह संबंध पारस्परिक रूप से संक्रमणात्मक है: बाह्य आंतरिक तथा आंतरिक बाह्य बन जाता है।

हेगेल के शब्दों में, व्यवहार "मूलत: आंतरिक को बाह्य से एकीकृत करता है। जिस आंतरिक निश्चयन से यह शुरू होता है, उसे जहां तक रूप का संबंध है हटा दिया जाना चाहिए अर्थात इसे आंतरिक न रहकर निश्चित रूप से बाह्य बन जाना चाहिए; लेकिन इस निश्चयन की अंतर्वस्तु सुरक्षित ही रहनी चाहिए; उदाहरणार्थ, घर बनाने का इरादा ..." (64, *18*, 16)।

इस तरह, चेतना (और संज्ञान) के आंतरिक निश्चयन का किसी बाह्य चीज़ में रूपांतरण यानी व्यावहारिक कार्य, हेगेल के दृष्टिकोण से, मानव-जीवन की शाश्वत अंतर्वस्तु है, ऐसी अंतर्वस्तु, जो मानव-सार, मानव-आत्मिकता और स्वतंत्रता को कार्यान्वित करती है। हेगेल ज़ोर देते हैं कि मानव "अहम्" के निश्चयनों को "केवल उसकी धारणा और चिंतन के रूप में ही नहीं बने रहना चाहिए, बल्कि उन्हें बाह्यत: अस्तित्वमान भी होना चाहिए। यहां मैं वस्तुओं को निर्धारित करता हूं, मैं इन वस्तुओं के परिवर्तन का कारण हूं" (64, *18*, 4)। व्यावहारिक कार्य का यह वर्णन उसके सार्विक स्वरूप पर ज़ोर देता है। वास्तव में, यदि हम व्यवहार के मूलत: भिन्न रूपों की विशिष्टताओं से ध्यान हटा लें, तो किसी भी व्यवहार का सामान्य लक्षण निश्चित ढंग से संगठित व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित और कार्यान्वित प्रक्रिया (स्पष्टत: एक भौतिक प्रक्रिया, जिसे हेगेल देखने में असमर्थ हैं) के रूप में प्रकट होता है।

व्यवहार की हेगेलीय समझ – "आंतरिक निश्चयन का किसी बाह्य चीज़ में रूपांतरण" (64, *18*, 16) – अपर्याप्त है, क्योंकि यह बाह्य के आंतरिक में रूपांतरण के तथ्य की व्याख्या केवल संज्ञान की प्रक्रिया के रूप में करती है। लेकिन मनुष्य बाह्य प्रकृति को परिवर्तित करते हुए अपनी मानव-प्रकृति को भी बदलता है। सामान्यत: "दूसरी प्रकृति" के निर्माण को केवल आंतरिक के बाह्य में रूपांतरण के रूप में सही ढंग से नहीं समझा जा सकता: स्वभावत: मनुष्य अपने मस्तिष्क में उस सब का प्रत्ययिक रूप नहीं रखता, जिसे वह व्यवहार की प्रक्रिया में निर्मित करता है। चूंकि लोगों द्वारा निर्मित सामाजिक जीवन की

परिस्थितियां उनकी सत्ता का निर्धारक आधार हैं, इसलिए व्यवहार में बाह्य का आंतरिक में रूपांतरण भी शामिल है। इस संबंध में, यह लोगों द्वारा संगठित प्रकृति और उनके बीच पदार्थों का विनिमय है, सामाजिक का प्राकृतिक में और प्राकृतिक का सामाजिक में रूपांतरण है। आंतरीकरण तथा बाह्यीकरण संज्ञान के कार्य और व्यवहार के कार्य दोनों ही हैं।

आंतरिक और बाह्य के द्वंद्ववाद की हेगेलीय धारणा संज्ञान और व्यवहार की एकता की समझ के सही मार्ग की ओर इंगित करती है। लेकिन इस मार्ग की खोज के लिए केवल हेगेलीय प्रणाली के प्रत्ययवादी पूर्वाधारों का परित्याग करना ही नहीं, बल्कि हेगेलीय विधि के रहस्य को खोलना, उसे भौतिकवादी ढंग से आत्मसात् करना और रचनात्मक ढंग से विकसित करना भी आवश्यक था। इस कार्य को मार्क्स, एंगेल्स और बाद में लेनिन ने प्रतिभाशाली ढंग से पूरा किया।

श्रम-कार्य का उच्च मूल्यांकन हेगेलीय दर्शन के लिए अभिलाक्षणिक है। हेगेल के विचार में, श्रम व्यावहारिक कार्य का सबसे महत्वपूर्ण रूप है: "श्रम द्वारा प्राप्त **व्यावहारिक संस्कृति** में कुछ करने की **आवश्यकता** और **आदत** तथा इनके अलावा **अपने कार्य की सीमितता** – अंशतः सामग्री की प्रकृति की वजह से और अंशतः और प्रायः दूसरों के मनमाने कार्यों की वजह से – और इस अनुशासन द्वारा जनित **वस्तुगत** कार्य करने तथा **सार्विक रूप से** महत्वपूर्ण दक्षताएं प्राप्त करने की आदत शामिल हैं" (64,*8*,261)। मार्क्स हेगेल की 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' के महत्व को सर्वोपरि इस चीज़ में देखते हैं कि इसमें हेगेल "**श्रम** के सार को पकड़ते हैं और वस्तुगत, सही मनुष्य, यानी **अपने श्रम** के परिणाम के रूप में वास्तविक मनुष्य को समझते हैं।" हेगेल के अनुसार, समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य का निर्माण मानवजाति के इतिहास की संक्षिप्त पुनरावृत्ति, विश्व-इतिहास के अनुभव में व्यक्ति की पारंगति है। व्यक्तिगत का मामाजिक में यह आरोहण केवल श्रम के ज़रिये ही संभव है।

उद्देश्यपूर्ण कार्य के हेगेल के विश्लेषण पर विचार करते हुए लेनिन ज़ोर देते हैं कि यह जर्मन दार्शनिक श्रम के औज़ारों पर विशेष ध्यान देता है। हेगेल श्रम के औज़ारों तथा उन उद्देश्यों में अनुरूपता खोजते

हैं, जिनका लोग अपने श्रम-कार्य में अनुसरण करते हैं। उनके विचार में, सामान्य चेतना श्रम को मात्र निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में देखती है, जिनकी ख़ातिर ही श्रम किया जाता है। इस दृष्टिकोण से, श्रम के औज़ार केवल औज़ार अर्थात् ऐसे बाह्य साधन हैं, जो मुख्य चीज़ – साध्य – की प्राप्ति के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। हेगेल इस उपभोक्तावादी दृष्टिकोण पर संदेह प्रकट करते हैं, जो प्रसंगतः इतिहास की प्रत्ययवादी समझ के लिए अभिलाक्षणिक है। वह इसके मुक़ाबले में "साध्य और साधन" के संबंध की द्वंद्वात्मक समझ को रखते हैं। साध्य, जो मानव आत्मगतता की उपज लगते हैं, वस्तुतः मानव-जीवन की परिस्थितियों और स्वयं मानव-प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट होते हैं, जबकि श्रम के औज़ार (साधन) मानव-कार्य के अंतर्वर्ती साध्य – प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार – को साकार करते हैं। वह चीज़, जो प्रत्यक्षतः साध्य है, वास्तव में साधन भी निकलती है, जबकि आत्मगत साध्य (लोगों की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति) को पूरा करने वाला साधन मानव-जीवन के प्रधान साध्य (और अर्थ) की अर्थात उसकी संभाव्य क्षमता के प्रत्यक्षीकरण, मानव-व्यक्तित्व के विकास की अभिव्यक्ति है।

इस संबंध में, लेनिन हेगेल के निम्नलिखित अंश को उद्धृत करते हैं: "साधन बाह्य उपयोगिता के परिमित साध्यों से ऊंचा है: हल उन प्रत्यक्ष उपभोग-सुखों से अधिक सम्मान्य है, जो उसके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं और साध्यों का काम करते हैं। औज़ार को बनाये रखा जाता है, जबकि प्रत्यक्ष सुख लुप्त तथा विस्मृत हो जाते हैं। **अपने औज़ारों में मनुष्य बाह्य प्रकृति पर सत्ता रखता है, हालांकि अपने साध्यों के संबंध में वह अक्सर उसके अधीन होता है।**" लेनिन इस स्थापना को "हेगेल में ऐतिहासिक भौतिकवाद के अंकुरों" (10,*38*,189) के रूप में देखते हैं। हेगेल के तर्क-वितर्क की सकारात्मक अंतर्वस्तु को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं: "वास्तव में मनुष्य के साध्य वस्तुगत जगत् की उपज हैं तथा उसकी पूर्वकल्पना करते हैं – वे उसे किसी प्रदत्त, विद्यमान चीज़ के रूप में पाते हैं। पर मनुष्य को यह **प्रतीत** होता है कि उसके साध्य संसार के बाहर से लिये जाते हैं तथा संसार से स्वतंत्र ('स्वाधीनता') हैं" (10,*38*,189)। अध्ययन के विषय

"हेगेल और ऐतिहासिक भौतिकवाद" को निरूपित करते हुए लेनिन ने ऐसे अध्ययन की मूल दिशा को इंगित करनेवाली एक स्थापना पेश की: "हेगेल में भ्रूणावस्था में विद्यमान मेधावी विचार-बीजों के एक अनुप्रयोग और विकास के रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद" (10,*38*, 190)।

स्वभावत: निम्नलिखित प्रश्न उठता है: इस चीज़ को कैसे स्पष्ट किया जाये कि श्रम-कार्य की भूमिका को गहन रूप से समझने के बाद हेगेल उत्पादन को सामाजिक जीवन के निर्धारक आधार के रूप में स्वीकार करने से इतने दूर हैं? उत्तर केवल आत्मिक, बौद्धिक कार्य के रूप में श्रम की हेगेलीय समझ में निहित है। इसका अर्थ यह है कि हेगेल भौतिक उत्पादन को आत्मिक उत्पादन में बदल देते हैं, भौतिक उत्पादन को आत्मिक उत्पादन में गड्डमड्ड कर देते हैं। हेगेलीय विश्वदृष्टि-कोण मानव-जीवन की सर्वोच्च आत्मिक अभिव्यक्तियों और मानव-निर्मित "दूसरी प्रकृति" की विविधता के बीच आंतरिक संबंध को देखने में असमर्थ है। अपने प्रत्ययवाद के कारण ही हेगेल **शारीरिक** श्रम की आधारभूत परिघटना तथा सामाजिक विकास के वस्तुगत आधार के विशिष्ट लक्षणों को प्रकट करने वाले तथ्यों को नहीं समझ पाये।

श्रम के सार की प्रत्ययवादी विकृति हेगेल के सर्वबुद्धिवाद के लिए विशिष्ट उस स्थापना से उत्पन्न होती है, जो सत्ता, भौतिक को चिंतन, चेतना, आत्म-चेतना में रूपांतरित करती है। हेगेल के अनुसार, मनुष्य आत्म-चेतना है। मनुष्य के दैहिक अस्तित्व को मानव-सार की "अन्य-सत्ता", अन्यसंक्रामण के रूप में पेश किया जाता है। बेशक, हेगेल मानव-कार्य के भौतिक उत्पादों तथा इस चीज़ को स्वीकार करते हैं कि वे लोगों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। लेकिन वह दावा करते हैं कि भौतिक आत्मिक की उपज, उसकी अन्यसत्ता, अस्तित्व का अन्यसंक्रामित रूप है।

यह धारणा हेगेल की 'आत्मा की फ़िनोमेनोलॉजी' में अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति पाती है। मार्क्स अपनी '१८४४ की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियां' में इसकी आलोचना करते हैं: "चूंकि विषयी अपने में **वास्तविक मनुष्य** नहीं है, अत: **प्रकृति** भी नहीं है – क्योंकि मनुष्य **मानव-प्रकृति** है – बल्कि केवल मनुष्य का अमूर्तीकरण, आत्म-

चेतना होता है, इसलिए वस्तुत्व अन्यसंक्रामित आत्म-चेतना के अलावा और कुछ नहीं हो सकता" (1,*3*,335)। वस्तुओं के संसार से मानव-चेतना के संबंध के इस प्रत्ययवादी रहस्यमयीकरण का विरोध करते हुए मार्क्स स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य की आवश्यकताओं और झुकावों की वस्तुएं "उसके बाहर, उससे स्वतंत्र **वस्तुओं** के रूप में अस्तित्व रखती हैं; फिर भी ये वस्तुएं मूलतः उसकी **आवश्यकता की वस्तुएं** हैं; ये उसकी तात्विक शक्तियों की अभिव्यक्ति तथा पुष्टि के लिए आवश्यक, अनिवार्य **वस्तुएं** हैं" (1,*3*,336)।

मार्क्स अपने को वस्तुओं के संसार से कार्य के संबंध की हेगेलीय समझ की आलोचना करने तक ही सीमित नहीं करते। वह प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद के मुक़ाबले में आवश्यकताओं, क्षमताओं, झुकावों तथा उन वस्तुओं के बीच अटूट संबंध की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी समझ पेश करते हैं, जिनके द्वारा उन्हें पूरा किया जाता है। उदाहरणार्थ, देखने की क्षमता सूर्य के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है; इस क्षमता का आविर्भाव और विकास जैव जीवन के विकास पर सूर्य के प्रभाव का परिणाम है। इसके अलावा, स्वयं जीवन का अस्तित्व परिस्थितियों की निश्चित विविधता की पूर्वापेक्षा करता है। इसका अर्थ यह है कि एक ओर, जीवित सत्ताओं और उनकी "जीवन-शक्तियों" तथा दूसरी ओर, उनकी जीवन-परिस्थितियां बनानेवाली वस्तुओं की विविधता के बीच आंतरिक न कि बाह्य संबंध है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हेगेल ने समझा, कि वस्तुएं जीवित सत्ताओं में अंतर्निहित क्षमताओं का परिणाम हैं, कि वे आत्मिक क्षमता का वस्तु-करण हैं, आदि। वस्तुओं के संसार की विविधता और मानव-निर्मित "दूसरी प्रकृति" के साथ जीवित सत्ताओं, मानव-जीवन तथा उसकी सर्वोच्च आत्मिक अभिव्यक्तियों का यह आंतरिक संबंध प्रकृति, मनुष्य तथा समाज के विकास की उपज है। हेगेल का प्रत्ययवाद इस नियम को समझने में उनके आड़े आता है, क्योंकि प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद विकास की वास्तविक प्रक्रिया को तोड़ता-मरोड़ता है।

मार्क्स के शब्दों में, हेगेल "केवल श्रम के सकारात्मक पहलू को देखते हैं, लेकिन नकारात्मक पहलू को नहीं" (1,*3*,333)। सकारात्मक पहलू यह है कि श्रम केवल मनुष्य के लिए आवश्यक चीज़ों का निर्माण

ही नहीं करता, बल्कि एक सक्रिय सत्ता, समाज के सदस्य, आदि के रूप में स्वयं मनुष्य का भी निर्माण करता है। हेगेल के शब्दों में, मनुष्य उत्पादन के क्षेत्र में "निज-निमित्त साध्य है और वह प्रकृति से किसी ऐसी चीज़ के रूप में संबंध रखता है, जो उसके अधीन हो और जिस पर वह अपने कार्यों की छाप छोड़ता हो" (63,*2*,449)। उत्पादन (उद्योग) की यह समझ गहन अन्तर्दृष्टि के बावजूद बुर्जुआ एकांगीपन से ग्रस्त है, जिसे मार्क्स ने बार-बार इंगित किया। यह दावा करते हुए कि उत्पादन में "मनुष्य निज-निमित्त साध्य है", हेगेल स्पष्टतः इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि उत्पादन ने युग-युगों से मनुष्य का शोषण किया है; अतः उत्पादक, उदाहरणार्थ, पूंजीवादी उद्यम में सबसे कम "निज-निमित्त साध्य" है।

बेशक, हेगेल दास-प्रथा और भूदास-प्रथा के अस्तित्व या श्रम के पूंजीवादी शोषण को उत्पादन से, इसके विकास के ऐतिहासिक रूप से निश्चित स्तरों से नहीं जोड़ते। हेगेल की मेधावी अंतर्दृष्टियों में, जो लेनिन के अनुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद के अंकुर हैं, **उत्पादन के सामाजिक संबंधों** के अस्तित्व, उत्पादक शक्तियों के विकास के सामाजिक रूप के बारे में अंतर्दृष्टि शामिल नहीं है। मार्क्स ज़ोर देते हैं कि हेगेल ने अपने समय के क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण को अपनाया, जिसने अपनी सभी वैज्ञानिक उपलब्धियों के बावजूद पूंजी को संचित श्रम से, मालों के उत्पादन को सामान्यतः वस्तुओं के उत्पादन से गड्डमड्ड किया यानी सामाजिक उत्पादन के पूंजीवादी रूप को शाश्वत बनाया और इसे मानव-प्रकृति से मेल खाने-वाले एकमात्र बुद्धिसंगत रूप के तौर पर देखा।

"उत्पादन संबंधों" का प्रवर्ग ऐतिहासिक भौतिकवाद का अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रवर्ग है। पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का वर्णन करते हुए और उनकी कार्य-प्रणाली का संनियमन करनेवाले नियमों की खोज करते हुए क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र ने इस प्रवर्ग पर ज़ोर नहीं दिया, क्योंकि इसने दास-प्रथा और सामंती संबंधों को उत्पादक शक्तियों के विकास के ऐतिहासिक रूप से निश्चित सामाजिक रूप के तौर पर नहीं, बल्कि अनुचित विधिक संस्थाओं के रूप में देखा, जिनके अस्तित्व को मालिकों की अमानवीयता और आर्थिक अयोग्यता

से स्पष्ट किया गया। हेगेल भी सामान्यतः इस दृष्टिकोण से सहमत थे, लेकिन एकमात्र अंतर यह था कि उन्होंने दास-प्रथा और भूदास-प्रथा को उन जातियों की "वस्तुगत आत्मा" के विकास में ऐतिहासिक रूप से आवश्यक, अनिवार्य रूपों के तौर पर देखा, जो केवल धीरे-धीरे ही यह महसूस करती हैं कि स्वतंत्रता मनुष्य का तात्विक सार है।

मार्क्स हेगेल की श्रम की एकतरफ़ा समझ, उत्पादन के विकास में निहित अंतर्विरोधों की उनकी उपेक्षा के मुक़ाबले में **श्रम के अन्य-संक्रामण** की धारणा रखते हैं, जो निजी स्वामित्व के विकास, वर्ग-विरोधों और शोषण पर प्रकाश डालती है। उत्पादन के विरोधी सामाजिक संबंधों का उल्लेख करते हुए मार्क्स लिखते हैं : "श्रम **अन्यसंक्रामण** के ढांचे में या **अन्यसंक्रामित** व्यक्ति के रूप में **मनुष्य का निज-निमित्त निर्माण** है" (1,*3*,333)। अन्यसंक्रामित श्रम श्रम के उत्पाद और स्वयं उत्पादन-कार्य का अन्यसंक्रामण, दोनों का लोगों को शासित करने-वाली स्वतःस्फूर्त सामाजिक शक्तियों में रूपांतरण है। अन्यसंक्रामित श्रम उत्पादन के विरोधी संबंध है, जिनके अंतर्गत मनुष्य मनुष्य को दास बनाता और उसका शोषण करता है। श्रम का अन्यसंक्रामण, जिसे हेगेल (और सभी बुर्जुआ विचारक) देखने में असमर्थ थे, वस्तुतः इसमें निहित है कि "श्रम मज़दूर के लिए कोई **बाह्य** चीज़ है अर्थात यह उसकी अन्तर्निहित प्रकृति से संबंध नहीं रखता है; इसलिए वह अपने श्रम में अपने को सकारता नहीं, बल्कि अपने को नकारता है, अपने को ख़ुश नहीं, दुःखी महसूस करता है, अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक विकसित नहीं करता, बल्कि अपने शरीर को क्षीण करता और मानसिक शक्ति को नष्ट करता है। अतः मज़दूर केवल श्रम के बाहर ही अपने को सहज-स्वाभाविक महसूस करता है और श्रम की प्रक्रिया में अपने को अस्वाभाविक महसूस करता है। वह आराम का अनुभव तब करता है, जब वह काम नहीं कर रहा होता है; और जब वह काम कर रहा होता है, तब बेचैनी का अनुभव करता है... यह एक आवश्यकता की संतुष्टि नहीं है; यह इसके लिए बाह्य सभी अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए केवल **साधन** है" (1,*3*,274)।

हेगेल द्वारा श्रम के नकारात्मक पहलू को न समझना सिद्ध करता

है कि न केवल प्रत्ययवाद, बल्कि सामान्यतः बुर्जुआ विश्व-दृष्टिकोण भी इतिहास की भौतिकवादी समझ और सार्विक मानव-कार्य के रूप में व्यवहार की वैज्ञानिक-दार्शनिक समझ को बिल्कुल असंभव बनाता है। अपने सबसे महत्वपूर्ण मौलिक रूप में यानी भौतिक उत्पादन के रूप में व्यवहार सारे सामाजिक जीवन को निर्धारित करनेवाला आधार है। शब्द के व्यापकतम अर्थ में व्यवहार संज्ञान की सक्रिय प्रक्रिया का सक्रिय आधार है। व्यवहार के विशिष्ट रूप, खास तौर से संज्ञान, सर्वप्रथम वैज्ञानिक अनुसंधान से संबद्ध इसके रूप ज्ञान की सत्यता के मानदंड हैं। वैज्ञानिक संज्ञान के विकास से समृद्ध और उससे संबद्ध व्यवहार संज्ञान का शिखर है।

कोई भी मानव-कार्य, चाहे वह वैयक्तिक हो या सामूहिक, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यवहार से जुड़ा होता है। व्यवहार केवल प्रकृति का परिवर्तन ही नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों का भी परिवर्तन है। औज़ार की सहायता से किया गया कोई भी कार्य, चाहे औज़ार आदमी के हाथ-पैर ही क्यों न हों, व्यावहारिक स्वरूप का होता है। व्यवहार और इसके सार्विक स्वरूप की यह समझ बेशक द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद सहित प्रत्ययवादी दर्शन से लेशमात्र मेल नहीं खाती, बावजूद इसके कि दर्शन के इतिहास में पहली बार व्यवहार के सार्विक स्वरूप के प्रश्न को पेश करने का श्रेय द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद को है।

क्रांतिकारी व्यवहार की मार्क्सवादी धारणा प्रत्ययवाद से इसकी वर्गीय सीमितता की वजह से और भी अधिक मेल नहीं खाती। व्यवहार की अपनी समझ में बुर्जुआ विचारक आम तौर से मानव-जीवन को पुनरुत्पादित करने की आवश्यकता, मानव-जीवन के लिए अनिवार्य "बाह्य" आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की आवश्यकता के बारे में इंद्रियानुभविक विचार से आगे बढ़ते हैं। हेगेल व्यवहार को अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाने से जोड़ने की कोशिश करते हैं, जो उनके सिद्धांत के अनुसार, "नागरिक समाज" में निहित है। लेकिन हेगेल घोषणा करते हैं कि अन्यसंक्रामण पर, जिसे वह अपनी अन्यसत्ता से आत्मा के सार्विक संबंध के रूप में मानते हैं, क़ाबू पाने का एकमात्र साधन अपने निरपेक्ष (हेगेल के अनुसार निरपेक्ष) रूपों—कला, धर्म और दर्शन—में ज्ञान है। परम प्रत्ययवाद ज्ञान को न कि व्यवहार को, जिसे हेगेल

अंतिम विश्लेषण में संज्ञान में बदल देते हैं, सार्विक कार्य मानता है और इसलिए इसे उन कार्यों और योग्यताओं का श्रेय देता है, जो इसकी अपनी विशेषताएं नहीं होती हैं।

हेगेल मज़दूरों को दास बनानेवाले भौतिक सामाजिक संबंधों के ख़िलाफ़ भौतिक शक्ति लागू करने की आवश्यकता के प्रति सचेत क्रांतिकारी व्यवहार को शुद्ध आत्मिक कार्य में स्थान प्रदान करते हैं। इसका अर्थ यह है कि हेगेल का अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाने का तरीक़ा व्यावहारिक नहीं, बल्कि सैद्धांतिक और कल्पनात्मक भी है। अन्यसंक्रामण को यों स्थानच्युत करना, मार्क्स के शब्दों में, "विचार में उसे स्थानच्युत करना है, जो यथार्थ जगत् में अपने विषय को अस्तित्वमान छोड़ देता है" (1,*3*,341) । मार्क्स अन्यसंक्रामण के इस काल्पनिक निषेध के मुक़ाबले में उसका क्रांतिकारी व्यावहारिक निषेध रखते हैं, जो वास्तव में अपना उद्देश्य प्राप्त करता है। सुप्रसिद्ध 'फ़ायरबाख़ पर स्थापनाएं' में मार्क्स लिखते हैं: "परिस्थितियों के परिवर्तन और मानव-कार्य के मेल को केवल क्रांतिकारी व्यवहार के रूप में ही देखा और बुद्धिसंगत ढंग से समझा जा सकता है" (1,*5*,4) ।

जैसा कि इसके बारे में पहले चर्चा की जा चुकी है, हेगेल का सिद्धांत सैद्धांतिक प्रत्यय को व्यावहारिक प्रत्यय में बदल देता है। इस प्रक्रिया के ढांचे में, जो अपने शुद्ध तार्किक रूप में ('तर्कशास्त्र') परम प्रत्यय की स्व-गति है तथा अपने मूर्त ऐतिहासिक , कालसापेक्ष अन्यसत्ता में मानवजाति का इतिहास है, हेगेल व्यवहार से दर्शन का सामंजस्य बैठाने के बारे में प्रश्न पेश करते हैं। इस सामंजस्य को दर्शन के कार्यान्वयन के रूप में समझा जाता है। एक ओर, दर्शन दिव्य "परम प्रत्यय" की कालनिरपेक्ष आत्म-चेतना है और दूसरी ओर, यह आत्म-चेतन "परम आत्मा" अर्थात् अपने समस्त ऐतिहासिक विकास में मानवजाति है। दर्शन को केवल इस अंतोक्त संबंध में ही कार्यान्वित किया जा सकता है और हेगेल इसे प्रत्यक्षतः महान फ़्रांसीसी बुर्जुआ क्रांति से जोड़ते हैं। इसी संबंध में हेगेल दावा करते हैं: "आत्मिक की चेतना अब मूल आधार है और इसके ज़रिये **दर्शन** शासन करने लगा है। कहा गया कि **फ़्रांसीसी क्रांति** दर्शन से उत्पन्न हुई और यह अकारण नहीं है कि दर्शन को **विश्व-बुद्धिमत्ता** के नाम से

पुकारा गया, क्योंकि यह न केवल शुद्ध सत्ता के रूप में सत्य-निजरूप और निज-निमित्त सत्य है, बल्कि इसलिए भी सत्य है कि यह सांसारिकता में जीवित बनता है" (63,*4*,924)।

लेकिन इस बात पर ज़ोर दिया जाना चाहिए कि हेगेल के दृष्टिकोण से दर्शन के व्यवहार में रूपांतरण – संसार का बुद्धिसंगत रूपांतरण – ने फ़्रांसीसी क्रांति में अपनी यथेष्ट अभिव्यक्ति नहीं पायी। हेगेल उपर्युक्त शब्दों के आगे यह घोषणा करते हैं: "इस तरह, किसी को इस चीज़ का विरोध नहीं करना चाहिए कि क्रांति ने अपना पहला आवेग दर्शन से पाया। लेकिन यह दर्शन केवल अमूर्त चिंतन, परम सत्य की अमूर्त समझ है और इसी में विशाल अंतर प्रकट होता है" (63,*4*,924) ।

हेगेल के तर्क के अनुसार, फ़्रांसीसी क्रांति केवल प्रबोधन के दर्शन, वोल्तेयर, रूसो, दिदेरो, होलबाख़, हेल्वेटियस, आदि के विचारों को ही कार्यान्वित कर सकी। अपने विचारों में एक दूसरे से मूलतः भिन्न होते हुए भी ये सभी विचारक सामंतवाद के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में एक थे। परंतु इस संघर्ष को उचित ठहराते हुए हेगेल फ़्रांसीसी प्रबोधन की अलोचना करते हैं और इसकी व्याख्या समाज को बुद्धिसंगत ढंग से रूपांतरित करने के कार्य की आत्मगत समझ के रूप में करते हैं। हेगेल फ़्रांसीसी क्रांति (और सामान्यतः क्रांति) को आत्मगत मानव-बुद्धि पर आधारित सामाजिक पुनर्निर्माण के रूप में देखते हैं, जबकि वस्तुगत रूप से बुद्धिसंगत, "परम प्रत्यय", जिसकी सत्ता का सामाजिक रूप "परम आत्मा" है, विश्व ऐतिहासिक प्रक्रिया की निर्धारक अंतर्वस्तु है। हेगेल के अनुसार, "परम आत्मा" की सिद्धि के उच्चतम रूप क्रांतियां नहीं, बल्कि राज्य ("वस्तुगत आत्मा") तथा सामाजिक चेतना के रूप – कला, धर्म और दर्शन – हैं, जिन्हें वह परम की समझ के रूपों के तौर पर देखते हैं और इसलिए "परम ज्ञान" के रूप में परिभाषित करते हैं।

कोई भी क्रांति विद्यमान राजकीय सत्ता के ख़िलाफ़ संघर्ष करती है। हेगेल फ़्रांसीसी क्रांति और इसके सिद्धांतकारों को उचित ठहराते हैं, लेकिन वह क्रांतियों को समाज के बुद्धिसंगत पुनर्निर्माण का आवश्यक, वस्तुगत रूप से अनिवार्य रूप नहीं मानते, क्योंकि वह सामाजिक संबंधों

के विरोध को नहीं देखते तथा राज्य के वर्ग-स्वरूप की उपेक्षा करते हैं। वह धर्मसुधार आंदोलन **(Reformation)** को सामाजिक संबंधों के बुद्धिसंगत रूपांतरण के रूप में मानते हैं। इस बात को जानते हुए कि धर्मसुधार आंदोलन भी एक क्रांति था, चाहे यह धार्मिक रूप में ही क्यों न हो, हेगेल निष्कर्ष पेश करते हैं: "सिद्धांत मिथ्या है अगर यह दावा करे कि विधि और स्वतंत्रता अंत:करण को स्वतंत्र किये बिना अपनी बेड़ियों को त्याग सकते हैं, कि क्रांति धर्मसुधार के बिना संभव है" (63,*4*,931-32)।

इस प्रकार, हेगेल के दृष्टिकोण से, स्वयं राज्य द्वारा कार्यान्वित सुधारों के ज़रिये ही दर्शन का वस्तुगत कार्यान्वयन, व्यवहार के साथ उसका वास्तविक सामंजस्य हो सकता है। यह समझौताकारी विचार जर्मन बुर्जुआ वर्ग की वर्ग-स्थिति तथा सामंती राजतंत्र को बुर्जुआ राजतंत्र में शांतिपूर्वक बदलने की उसकी इच्छा को व्यक्त करता है। इसी वजह से हेगेल के राज्य का आदर्श – संवैधानिक राजतंत्र है। परंतु राज्य संगठन के इस रूप (और अन्य रूपों) में धर्म को न कि दर्शन को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता है। हेगेल को पक्का विश्वास है कि "प्रोटेस्टैंट चर्च ने धर्म और क़ानून के बीच सामंजस्य स्थापित किया है। ऐसा कोई पवित्र धार्मिक अंत:करण नहीं है, जो धर्म-निरपेक्ष क़ानून से पृथक् और उसका विरोधी हो" (63,*4*,937)।

हेगेल के अनुसार, राज्य, और ख़ास तौर से, संवैधानिक राजतंत्र बुद्धि का तात्विक मूर्तरूप है। लेकिन तब सामाजिक प्रगति में दर्शन की क्या भूमिका है? इस प्रश्न के संबंध में हेगेल की स्थिति सर्वथा अंतर्विरोधी है। वह दावा करते हैं कि दर्शन समाज में संस्कृति की प्रगति को सुनिश्चित करनेवाली शक्ति के रूप में कार्यान्वित होता है, लेकिन वह इस चीज़ के और भी अधिक क़ायल हैं कि दर्शन को व्यावहारिक नहीं होना चाहिए। दर्शन मुख्यत: अनुध्यान, अस्तित्वमान चीज़ों के बुद्धिसंगत बोध का अध्ययन करता है। व्यवहार से दर्शन के संबंध की अपनी समझ का निष्कर्ष पेश करते हुए हेगेल कहते हैं: "दर्शन का सरोकर केवल विश्व-इतिहास में प्रतिबिंबित प्रत्यय की कौंध से है। वस्तुत: प्रत्यक्ष मनोवेगों के संघर्ष के प्रति विरक्ति दार्शनिक जांच में लगने के लिए प्रेरित करती है; इसकी दिलचस्पी आत्मानुभूति-

कारी प्रत्यय, वस्तुतः स्वतंत्रता के प्रत्यय के विकास को समझने में है, जो सिर्फ़ स्वतंत्रता की चेतना के रूप में अस्तित्व रखता है" (63,*4*,938)।

१८४१ में युवा मार्क्स ने डाक्टर की डिग्री के लिए अपने शोध-प्रबंध में व्यावहारिक विचार से सैद्धांतिक विचार के संबंध के बारे में हेगेल के सिद्धांत से आगे बढ़ते हुए निष्कर्ष निकाला कि अपने सिद्धांतों को सुसंगत ढंग से विकसित करते हुए दर्शन आवश्यक रूप से क्रांतिकारी व्यवहार में बदल जाता है। यह सही है कि मार्क्स उस समय सामान्यतः हेगेल के प्रत्ययवादी दृष्टिकोण से, ख़ास तौर से तरुण हेगेलवादियों की इसकी व्याख्या से सहमत थे और इसलिए उन्होंने दावा किया कि "दर्शन का **व्यवहार** स्वयं **सैद्धांतिक** है" (1,*1*,85)। पर आगे चलकर मार्क्स ने अपने दार्शनिक विकास को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के निर्माण से पूरा किया। मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चूंकि क्रांतिकारी सिद्धांत जनसाधारण में व्याप्त हो जाता है, इसलिए यह भौतिक शक्ति बन जाता है। वह सारे उत्पीड़ित और शोषित वर्गों में से मज़दूर वर्ग को अत्यधिक क्रांतिकारी वर्ग के रूप में चुनते हैं, जो पूंजीवादी समाज में अपनी स्थिति के कारण समूचे राजनीतिक और आर्थिक शोषण को नष्ट करने में समर्थ है।

तरुण हेगेलवादियों के "आत्म-चेतना के दर्शन" का विरोध करते हुए मार्क्स सिद्ध करते हैं कि दर्शन स्वयं उन मानवतावादी आदर्शों को कार्यान्वित नहीं कर सकता, जिन्हें इसने अपने ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में निर्मित किया है। मार्क्स के शब्दों में, "दर्शन को सर्वहारा के उन्मूलन के बिना साकार नहीं किया जा सकता, दर्शन को साकार किये बिना सर्वहारा का उन्मूलन नहीं किया जा सकता" (1,*3*,187)। इसका अर्थ यह है कि दर्शन अर्थात् क्रांतिकारी दर्शन को, जो पूंजीवाद के निषेध पर और इसके ज़रिये मनुष्य पर प्रभुत्व के सभी रूपों के निषेध पर पहुंचता है, मज़दूर वर्ग के मुक्ति-आंदोलन का विचारधारात्मक झंडा, कम्युनिस्ट पार्टी का विश्व-दृष्टिकोण बनना है। "जिस तरह दर्शन सर्वहारा में अपने **भौतिक** अस्त्रों को पाता है, उसी तरह सर्वहारा दर्शन में अपने **सैद्धांतिक** अस्त्रों को पाता है" (1,*3*,187)। दर्शन की सामाजिक स्थिति का यह मौलिक परिवर्तन उसकी अंतर्वस्तु तथा सामा-

जिक व्यवहार और सामान्यतः सामाजिक यथार्थता से उसके संबंध को भी बदल देता है।

इस तरह, व्यवहार की सार्विकता की समस्या और व्यवहार की ज्ञानमीमांसीय भूमिका तथा मानव-व्यक्तित्व के निर्माण में इसके महत्व के बारे में मौलिक सिद्धांतों की शृंखला पेश करने के बावजूद हेगेल सामाजिक-ऐतिहासिक व्यवहार, भौतिक उत्पादन को सामाजिक जीवन के सक्रिय, निर्धारक आधार के रूप में तथा मेहनतकशों के मुक्ति-संघर्ष को क्रांतिकारी सामाजिक-राजनीतिक कार्य के अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक रूप के तौर पर समझने में असमर्थ हैं। मार्क्सवाद-लेनिनवाद हेगेल द्वारा प्रस्तुत व्यवहार की सार्विकता की समस्या के समाधान को दर्शन तथा व्यवहार के बीच रचनात्मक ढंग से ताल-मेल बैठाते हुए उनके क्रांतिकारी रूपांतरण के कार्य से जोड़ता है। यह केवल समाज के कम्युनिस्ट रूपांतरण और वैज्ञानिक-दार्शनिक, द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण के निर्माण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल की हेगेलीय धारणा पर लेनिन

लेनिन ने यह नहीं माना कि हेगेल के द्वंद्ववाद के भौतिकवादी पुनर्निर्माण का कार्य समाप्त हो गया है। इसके विपरीत, उन्होंने इस दिशा में मार्क्स और एंगेल्स के कार्य को जारी रखा। सोवियत दार्शनिक ए० व० इल्येन्कोव ठीक ही कहते हैं कि "हेगेलीय धारणा के आलोचनात्मक विश्लेषण के रूप में लेनिन उनके समय के दर्शन की जांच करते हैं, इसकी प्रमुख समस्याओं के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों की तुलना और मूल्यांकन करते हैं" (21,213) । न केवल हेगेल के 'तर्कशास्त्र' और अन्य कृतियों पर लेनिन की टिप्पणियां, बल्कि स्वयं लेनिन की अपनी रचनाएं भी इसका प्रमाण हैं। उदाहरणार्थ, एंगेल्स की कृति 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' की भांति 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' दर्शन के इतिहास पर एक कृति है। वस्तुतः इसी दृष्टिकोण से हेगेल के द्वंद्ववाद के आगे अध्ययन और भौतिकवादी पुनर्निर्माण की आवश्यकता के बारे में 'जुझारू भौतिकवाद के महत्व पर' शीर्षक लेख में लेनिन के संकेत को समझना चाहिए।

हेगेल के दर्शन के लेनिनीय विश्लेषण ने हेगेल के द्वंद्ववाद के उन मौलिक सिद्धांतों को प्रकट किया, जिन पर पहले किसी का ध्यान नहीं गया था। सर्वोपरि यह द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के सिद्धांत पर लागू होता है। चूंकि भौतिकवादी ढंग से प्रतिपादित यह सिद्धांत मार्क्सवादी दर्शन का अंग बन गया है, इसलिए इसकी जांच हेगेल के दर्शन और सामान्यतः क्लासिकीय दार्शनिक विरासत से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबंध को गहराई से समझना संभव बनाती है।

संज्ञान और तर्क के सिद्धांत के रूप में द्वंद्ववाद की हेगेलीय समझ अत्यंत अमूर्त और प्रत्ययवादी ढंग से विकृत स्वरूप की है। हेगेल के

लिए यह उस मौलिक प्रत्ययवादी अभ्युपगम का प्रत्यक्ष परिणाम है, जिसके अनुसार सभी अस्तित्वमान चीज़ें चिंतन की उपज हैं, जिसकी व्याख्या मानव-कार्य के रूप में इतनी नहीं की जाती, जितनी कि "परम प्रत्यय" की स्व-गति के रूप में। फिर भी, लेनिन ज़ोर देते हैं कि अपने प्रत्ययवादी रहस्यमयीकरण के बावजूद उक्त समस्या के प्रति हेगेल का दृष्टिकोण उसके द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी समाधान के लिए सैद्धांतिक प्रस्थान-बिंदु भी है। मिसाल के लिए 'तर्कशास्त्र' के भाग ३ की भूमिका और 'दार्शनिक विज्ञानों के विश्वकोश की रूपरेखा' के संबद्ध पैराग्राफ़ों (पैराग्राफ़ २१३–२१५) का हवाला देते हुए लेनिन कहते हैं कि वे **"संभवतः द्वंद्ववाद की सर्वोत्तम व्याख्या हैं।** यहां भी तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल को अत्यंत मेधावी ढंग से दिखाया गया है" (10,*38*,192)।

उपर्युक्त भाग और पैराग्राफ़ "प्रत्यय" के बारे में चर्चा करते हैं, जिसे "समुचित धारणा, वस्तुगत रूप से **सत्य** या **अपने में सत्य**" (64,*5*,236) के रूप में परिभाषित किया जाता है। हेगेल उस धारणा को समुचित धारणा कहते हैं, जिसकी अंतर्वस्तु इंद्रिय-अनुभूत बाह्य भौतिक यथार्थता से नहीं, बल्कि स्वयं चिंतन से बनती है। इसके अनुसार, वह वस्तुगत सत्य की परिभाषा संज्ञान के विषय की उस धारणा से पूर्ण मेल के रूप में करते हैं, जिसका वर्णन चिंतन द्वारा समझे गये विषय के सार के रूप में किया जाता है। निस्संदेह, इन प्रत्ययवादी विचारों में बुद्धिसंगत तत्व विद्यमान है, क्योंकि संज्ञान (और अतः सत्य) परिघटनाओं को दर्ज या पुनरुत्पादित ही नहीं करता, बल्कि उनके सारतत्व और नियमों को भी प्रकट करता है, जो धारणाओं के द्वारा समझे तथा सूत्रित किये जाते हैं। बेशक, हमें हेगेल के इस विचार को ध्यान में रखना चाहिए कि "कोई चीज़ वहीं तक सही है, जहां तक वह प्रत्यय है" (64,*5*,236)। इस विचार को स्पष्ट करते हुए हेगेल ज़ोर देते हैं कि "धारणा से मेल न खाने-वाली यथार्थता मात्र आत्मगत, संयोगिक, मनमानी परिघटना है, जो सत्य नहीं है" (64,*5*,238)। लेकिन चूंकि यह सिद्धांत भी धारणा तथा सामान्यतः वैज्ञानिक अमूर्तीकरण की नामवादी (और धारणा-वादी) व्याख्या को अस्वीकार करता है, इसलिए यह परोक्ष रूप से

धारणाओं और संज्ञान के विषयों के बीच मेल की आवश्यकता की ओर इंगित करता है।

हेगेल के 'तर्कशास्त्र' में "प्रत्यय" शीर्षक भाग पर अपनी टिप्पणियों में लेनिन दिखाते हैं कि हेगेल का "प्रत्यय" मानवजाति के इतिहास का रहस्यमयीकृत चित्रण है, जो अपने व्यावहारिक कार्य तथा संज्ञान के कारण अपने गिर्द के वातावरण और अपनी सत्ता को अधिकाधिक गहराई से समझता है। हेगेल के सिद्धांतों की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए लेनिन कहते हैं: "प्रत्यय (पढ़िये: मनुष्य का ज्ञान) धारणा तथा वस्तुगतता ('सामान्य') का पूर्ण मेल (अनुरूपता) है। यह पहली बात है। दूसरी, प्रत्यय अपने लिए सत्ता रखनेवाली (=मानो स्वतंत्र) आत्मगतता (=मनुष्य) का (इस प्रत्यय से) **भिन्न** वस्तुगतता से **संबंध** है...

"आत्मगतता (विषय से प्रत्यय के) इस अलगाव को नष्ट करने का **प्रयत्न** है।

"संज्ञान अजैव प्रकृति में इसे विषयी की सत्ता के मातहत करने और सामान्यीकरण (इसकी परिघटनाओं में सामान्य का संज्ञान) करने के लिए (बुद्धि के) निमग्न होने की **प्रक्रिया** है... विषय के साथ चिंतन का मेल एक **प्रक्रिया** है: चिंतन (=मनुष्य) को सत्य की कल्पना घोर जड़ता के रूप में, किसी अशरीरी तत्व, संख्या तथा अमूर्त विचार की तरह के वेगहीन, गतिहीन, फीके (द्युतिहीन) कोरे चित्र (बिम्व) के रूप में नहीं करनी चाहिए" (10,*38*,194-95) ।

लेनिन के निष्कर्ष न केवल यह समझने में कि कैसे हेगेल संज्ञान के इतिहास को विकृत बनाते हैं, बल्कि उनकी धारणा के बुद्धिसंगत तत्व को देखने में भी समर्थ बनाते हैं। हेगेल ने सत्तामीमांसा (सत्ता के सिद्धांत), तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा की एकता को प्रकट किया तथा उनको एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़ा करने की अधिभूतवादी तरीक़े की गहन आलोचना पेश की। अधिभूतवादियों के विचार के विपरीत, यथार्थता की सत्तामीमांसीय परिभाषाएं अर्थात् जगत् के समग्र रूप में, इसकी गति, विकास, आदि का वर्णन करनेवाले प्रवर्ग अंतिम सत्य नहीं, बल्कि विश्व के बारे में विकासमान ज्ञान हैं।

वस्तुगत यथार्थता की प्रवर्गीय परिभाषाओं की ज्ञानमीमांसीय जांच

की आवश्यकता द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के स्वरूप में ही निहित है। सत्तामीमांसीय परिभाषाओं की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या उनकी वस्तुगत अंतर्वस्तु की हमारी समझ को अधिक गहन बनाती है तथा संज्ञान के विकास के विद्यमान स्तर से इसके संबंध को प्रकट करती है। इस तरह, सत्तामीमांसा वस्तुगत यथार्थता की ज्ञानमीमांसा बन जाती है। सुप्रसिद्ध सोवियत दार्शनिक ब० म० केद्रोव ठीक ही ज़ोर देते हैं कि "द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञान के भौतिकवादी सिद्धांत की एकता को स्वीकार करने का अर्थ यह स्वीकार करना है कि मार्क्स-वादी दार्शनिक प्रश्नों को या तो ज्ञान के सिद्धांत से (भौतिकवाद से) पूर्णतः पृथक्, केवल अध्ययन-विधि से संबंधित प्रश्नों के रूप में, या संज्ञान की विधि से (द्वंद्ववाद से) पूर्णतः पृथक्, शुद्धतः ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों के रूप में, या संज्ञान के भौतिकवादी सिद्धांत और द्वंद्वात्मक पद्धति से पूर्णतः पृथक्, शुद्धतः तार्किक प्रश्नों के रूप में पेश करने की कोशिश तक नहीं कर सकता, जैसा कि यह क्लासिकीय आकारगत तर्कशास्त्र में संभव था" (23,6-7) ।

भूतद्रव्य वह वस्तुगत यथार्थता है, जिसे हम इंद्रियों द्वारा अनुभूत करते हैं। भूतद्रव्य की धारणा की यह लेनिनीय दार्शनिक परिभाषा सत्तामीमांसीय प्रवर्ग की ज्ञानमीमांसीय व्याख्या का अत्यंत फलप्रद और शिक्षाप्रद उदाहरण है। यह व्याख्या द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और संज्ञान के सिद्धांत के पूर्ण मेल के मार्क्सवादी सिद्धांत के प्रयोग पर आधारित है। जैसा कि विदित है, लेनिन भूतद्रव्य के प्रवर्ग की ज्ञानमीमांसीय परिभाषा में उसके देश और काल में अस्तित्व और गति जैसे सुस्पष्ट भौतिक गुणों को सम्मिलित नहीं करते; बेशक इन्हें न सम्मिलित करने का कारण यह नहीं है कि लेनिन उन्हें गौण या ऐसे गुण मानते हैं, जिन्हें संभवतः विज्ञान के बाद के विकास द्वारा अस्वीकार कर दिया जायेगा। भूतद्रव्य की ज्ञानमीमांसीय परिभाषा चेतना से इसकी भिन्नता को (स्वभावतः अत्यधिक सामान्य रूप में) बतलाती है अर्थात् यह आत्मगत यथार्थता से वस्तुगत यथार्थता को अलग करती है। यह भौतिक प्रक्रियाओं के किसी भी संभव वैज्ञानिक वर्णन की आवश्यक ज्ञानमी-मांसीय परिस्थिति को इंगित करती है। इसका अर्थ यह है कि भूतद्रव्य के सारे गुणों – विज्ञान को ज्ञात और अज्ञात – को वस्तुगत रूप से

वास्तविक और अतः संज्ञानात्मक कार्य से स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान माना जाना चाहिए।

संज्ञान एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और इसकी व्याख्या तथा सामान्यीकरण द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा का मुख्य कार्य है। इस दृष्टिकोण से ज्ञानमीमांसा संसार की उन परिघटनाओं और नियमों का सिद्धांत भी है, जो संज्ञान के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में प्रकट होते हैं। ज्ञानमीमांसीय प्रवर्ग अधिकांशतः केवल संज्ञानात्मक कार्य (और सामान्यतः मानव-कार्य) से ही नहीं, बल्कि मानव से स्वतंत्र यथार्थता से भी संबंध रखते हैं। दूसरे शब्दों में, संज्ञान के विषय का वर्णन करनेवाले प्रवर्ग भी ज्ञानमीमांसा के अंग हैं।

तर्कशास्त्र (द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र) सिर्फ़ मानव-चिंतन के आत्मगत रूपों और नियमों का विज्ञान नहीं है। इसके विषय को उस चीज़ से अलग नहीं किया जा सकता, जिसका तार्किक रूपों में संज्ञान किया जाता है और तार्किक रूपों को उनमें साकार अंतर्वस्तु से उदासीन नहीं माना जा सकता।

हेगेल उन लोगों की दृढ़तापूर्वक आलोचना करते हैं, जिन्होंने तार्किक रूपों को केवल चिंतन के आकारगत कार्यों के रूप में देखा तथा अपने को इन कार्यों के वर्णन तक ही सीमित किया। बेशक, यह आलोचना केवल कांट पर ही नहीं (हालांकि यह उन पर सबसे अधिक लागू होती है), बल्कि उस सारे परंपरागत तर्कशास्त्र पर भी लागू होती है, जो अरस्तू के साथ शुरू हुआ। इस बात पर ज़ोर देते हुए कि चिंतन के रूपों का उनकी अंतर्वस्तु का ध्यान किये बिना वर्णन अरस्तू की महान उपलब्धि थी, हेगेल ने इन रूपों तथा उनकी तार्किक रूप से सामान्यीकृत अंतर्वस्तु की आगे जांच की मांग की। सबसे पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि चिंतन के ये आकारगत कार्य कहां तक "स्वयं सत्य से मेल खाते हैं"। इस संबंध में लेनिन समस्या के प्रति हेगेल के दृष्टिकोण में प्रत्ययवादी अस्पष्टता, मौन और रहस्यवाद को दिखलाते हैं। लेकिन वह इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि हेगेल तार्किक रूपों को पंचम भूत के रूप में, चिंतन के इतिहास के सारांशीकरण के रूप में समझने की कोशिश करते हैं। लेनिन के शब्दों में, "इस समझ में तर्कशास्त्र **संज्ञान के सिद्धांत** से

मेल खाता है। यह सामान्यत: बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है" (10,*38*,175)।

आम तौर से, हेगेल ने द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल को अधिकांशत: द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की अपनी व्याख्या के संबंध में देखा। स्पष्टत: अधिभूतवादी बंद दार्शनिक प्रणाली का निर्माण करते हुए, जो परम की पूर्ण समझ का दावा करती है, हेगेल ने स्वभावत: यह सवाल नहीं उठाया कि विश्व और संज्ञान के दार्शनिक सिद्धांत को, जो संज्ञान के **जारी** इतिहास का निष्कर्ष है, पूरा नहीं किया जा सकता। उन्होंने इंद्रिय-अनुभव से अमूर्त सैद्धांतिक चिंतन में संक्रमण के द्वंद्ववाद की जांच करने में भी कम ही दिलचस्पी ली। जैसा कि लेनिन ने लिखा, हेगेल ने इस द्वंद्वात्मक, छलांग-जैसे संक्रमण को नहीं समझा। यह अनिवार्य था क्योंकि चिंतन को, जिसकी हेगेल ने चीज़ों के सार के रूप में व्याख्या की, विचारों, अनुध्यान, इंद्रिय-अनुभूतियों का स्रोत बताया गया। हेगेल के अनुसार, "आत्मा के सभी रूपों में – भावना, अनुध्यान और विचार में – चिंतन आधार बना रहता है" (64,*7*,111)।

बेशक द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल की समस्या में स्वयं वस्तुगत यथार्थता के द्वंद्वात्मक नियमों तथा ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र में उसके प्रतिबिंबन के नियमों के बीच संबंध की जांच भी शामिल है। लेकिन प्रकृति की भौतिकवादी व्याख्या और इसके संज्ञान के आधार पर स्वाभाविकत: उठनेवाले इन प्रश्नों को हेगेल मुश्किल से ही पेश करते हैं। फिर भी, द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के प्रति उनका दृष्टिकोण पूर्व-मार्क्सवादी दर्शन की एक महानतम उपलब्धि है।

हेगेल सत्ता और चिंतन के तादात्म्य से आगे बढ़ते हैं और इस तादात्म्य को वस्तुगत प्रत्ययवाद की भावना में समझते हैं: वह चिंतन को (चूंकि यह यथार्थता की संपूर्ण विविधता से संपन्न है) व्यक्ति में निहित योग्यता के रूप में उतना नहीं मानते, जितना कि आद्यस्रोत, सभी अस्तित्वमान चीज़ों के आद्य सारतत्व के रूप में, जो मनुष्य तथा मानव-इतिहास में अपने विकास और आत्म-चेतना के चरमोत्कर्ष पर पहुंचता है। इस दृष्टिकोण से, हर अस्तित्वमान चीज़ इस सर्वव्यापी, अतिमानवीय चिंतन ("परम प्रत्यय") की अभिव्यक्ति है, जो

विषयी और विषय के रूप में (हेगेल की शब्दावली में विषयी-विषय), ज्ञान (परम ज्ञान) और संज्ञान के तथा दर्शन दोनों ही के विषय के रूप में प्रकट होती है।

बेशक, इस चीज़ को इन्कार नहीं किया जा सकता कि संज्ञान और चिंतन के नियमों का अध्ययन दर्शन का एक मौलिक कार्य है। लेकिन दर्शन के विषय की हेगेल की प्रत्ययवादी समझ अनिवार्यतः स्वयं उनके द्वारा प्रस्तुत समस्या – द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के पूर्ण मेल – की विकृत व्याख्या पर ले जाती है। अमूर्त से मूर्त में संक्रमण की हेगेल की समझ इसका जीता-जागता उदाहरण है। हेगेल ने ठीक ही दर्शाया कि वैज्ञानिक संज्ञान का विकास अमूर्त, एकांगी, अपूर्ण ज्ञान से (जो अध्ययन के विषय के विभिन्न अंगों और पहलुओं में विभाजन तथा उनमें से प्रत्येक की अलग-अलग जांच की पूर्वकल्पना करता है) मूर्त ज्ञान की ओर बढ़ता है, जिसमें समष्टि से प्रथक्कृत, जांचे-परखे जा चुके अध्ययन के विषय के अलग-अलग पहलू और अंग मिलते हैं। "मूर्त विभिन्न निर्धारणों, सिद्धांतों की एकता है; अपना पूर्ण विकास प्राप्त करने तथा चेतना के समक्ष पूर्णतः निश्चित रूप में प्रकट होने के लिए इन सिद्धांतों को पहले अलग-अलग स्थापित और पूर्णतः विकसित किया जाना चाहिए" (62,*18*,182)। परंतु हेगेल ने इस वास्तविक संज्ञानात्मक प्रक्रिया को विकृत किया और इसे सत्ता-मीमांसीय स्वरूप प्रदान किया। दूसरे शब्दों में, वह अमूर्त से मूर्त में संक्रमण को स्वयं चीज़ों, स्वयं यथार्थता के आविर्भाव तथा विकास के रूप में निरूपित करते हैं। मार्क्स के अनुसार, हेगेल "निज को निजरूप में संश्लेषित करनेवाले, निज को निजरूप में निमज्जित करने-वाले और निज से विकसित होनेवाले चिंतन के परिणाम के रूप में यथार्थता को समझने में" ग़लत थे; "अमूर्त से मूर्त की ओर उत्थान की विधि मात्र एक ऐसी विधि है, जिसकी सहायता से चिंतन मूर्त को आत्मसात् करता है तथा इसे आत्मिक ढंग से मूर्त रूप में पुन-रुत्पादित करता है। लेकिन यह स्वयं मूर्त के आविर्भाव की प्रक्रिया कदापि नहीं है" (7,*1*,22)।

मार्क्स के ये शब्द द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के प्रश्न के बारे में द्वंद्वात्मक भौतिकवादी और द्वंद्वात्मक प्रत्ययवादी

दृष्टिकोणों के बीच अंतर को साफ़-साफ़ प्रकट करते हैं। हेगेल के अनुसार, वस्तुगत यथार्थता के विकास का संनियमन करनेवाले नियम "परम प्रत्यय" अर्थात अपनी परम व्याख्या में चिंतन के बाहर और उससे स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते: वस्तुगत यथार्थता इस अतिमानवीय चिंतन में विलीन हो जाती है। चूंकि हेगेल संज्ञान को आत्मगत मानव प्रक्रिया तथा वस्तुगत जगत् के सत्तामीमांसीय सारतत्व के रूप में पेश करते हैं, इसलिए उनकी सत्तामीमांसा प्रत्यक्षत: तर्कशास्त्र तथा ज्ञानमीमांसा से मिल जाती है। द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और संज्ञान के सिद्धांत की मूर्त एकता के बजाय, जो उनके बीच कुछ भिन्नता को अस्वीकार नहीं करती (हेगेल ने ज़ोर दिया कि द्वंद्वात्मक तादात्म्य में भिन्नता शामिल है), ऐसा पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है, जो विषयी और विषय, चिंतन और सत्ता, प्रतिबिंब और वस्तुगत यथार्थता के बीच भिन्नता को रद्द कर देता है।

द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल की जटिलता विशेषकर इन भिन्नताओं, इस चीज़ में निहित है कि सत्ता के नियमों को चिंतन से नहीं निगमित किया जा सकता; वे चिंतन, तार्किक रूपों, प्रवर्गों, आदि में सिर्फ़ प्रतिबिंबित होते हैं। इस बात का कि चिंतन, विज्ञान भूतद्रव्य को प्रतिबिंबित करते, समझते हैं, यह अर्थ कदापि नहीं है कि भूतद्रव्य के अस्तित्व के ये रूप (उदाहरणार्थ, गति, देश, काल) चिंतन की उपज हैं। द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल संबंधी समस्या की जांच करने वाले को मानव-चेतना में बाह्य जगत् के प्रतिबिंब के रूप में संज्ञान की प्रक्रिया की विशिष्टता को पूरी तरह से ध्यान में रखना चाहिए। काल्पनिक "परम प्रत्यय" के विपरीत, मानव-चिंतन ऐतिहासिक रूप से सीमित है, देश और काल में अस्तित्व रखता है तथा आस-पास की यथार्थता का बोध सर्वोपरि इस कारण से करता है कि यह मानव-इंद्रियों को प्रभावित करती है।

मार्क्सवादी दर्शन के विषय की एकतरफ़ा ज्ञानमीमांसीय व्याख्या के ख़िलाफ़ चेताते हुए सोवियत दार्शनिक ल० फ़० इल्यिचोव ठीक ही कहते हैं: "तार्किक, अध्ययन-विधि संबंधी और ज्ञानमीमांसीय समस्याओं की उपयोगी जांच अधिकांशत: **वस्तुगत द्वंद्ववाद के सिद्धांत** में प्रगति पर निर्भर करती है, क्योंकि आत्मगत द्वंद्ववाद वस्तुगत द्वंद्वात्मक प्रक्रिया

को प्रतिबिंबित करता है। भिन्न दिशा में अपने अध्ययन का अनुसरण करनेवाला दार्शनिक अध्ययन-विधि और ज्ञानमीमांसा की आकारवादी व्याख्या, वस्तुगत यथार्थता के मौलिक द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत से संज्ञान के सिद्धांत के अलगाव का ख़तरा मोल लेगा" (22,100)। हेगेल का सर्वबुद्धिवाद वस्तुगत यथार्थता को मानव-चेतना, संज्ञान में इसके प्रतिबिंबन से गड्डमड्ड करता है। लेकिन हेगेल बेशक इस चीज़ को समझते हैं कि इंद्रिय-अनुभूतियां अपने इर्द-गिर्द की बाह्य भौतिक वस्तुओं से मनुष्य को जोड़नेवाली प्रत्यक्ष कड़ी हैं। इसी वजह से हेगेल ने इंद्रियानुभववाद का मूल्यांकन संज्ञान के एक आवश्यक तत्व के रूप में किया। किंतु वह इंद्रियानुभववाद और संवेदनवाद को संज्ञान की अधिभूतवादी समझ से गड्डमड्ड करते हैं और बाह्य जगत् से मनुष्य के प्रत्यक्ष इंद्रियगत संबंध को एक ऐसा नक़ाब मानते हैं, जिसे हटा दिया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'आत्मा की फ़ेनोमेनोलॉजी' के शुरू में वह विषय से विषयी के इंद्रियगत संबंध का विश्लेषण करते हैं और कहते हैं कि विषयी के लिए विषय "इस बात का ध्यान किये बिना है कि यह ज्ञात है या अज्ञात; यह तब भी बना रहता है, जब यह अज्ञात होता है; लेकिन यदि विषय नहीं तो ज्ञान नहीं" (64,*2*,75)। लेकिन तथाकथित इंद्रियगत सत्य के और आगे विश्लेषण को इस निष्कर्ष से पूरा किया जाता है कि इंद्रिय-अनुभूति का विषय कोई निश्चित चीज़ नहीं, बल्कि इसके विपरीत, यह कोई अनिश्चित "यह" "यहां" "अब" है, जिसे किसी भी विषय और सबसे पहले विषयी के अस्तित्व पर लागू किया जा सकता है। "इसका सत्य" (इंद्रियगत प्रामाणिकता का सत्य – ले०) "मुझमें निहित वस्तु के रूप में वस्तु में (als meinem Gegenstande) है या वस्तु के **मेरी** होने के तथ्य में (im Meinem) है; वस्तु इसलिए है कि मैं इसे जानता हूं" (64,*2*,77)। इस तरह, चेतना से स्वतंत्र वस्तु के अस्तित्व को आभास के रूप में तथा भौतिकवादी संवेदनवाद को साधारण, दर्शन के लिए परायी चेतना के दृष्टिकोण के रूप में पेश किया जाता है।

भौतिकवादी संवेदनवाद से इन्कार करते हुए हेगेल ने प्रतिबिंबन के सिद्धांत को अस्वीकार किया। उन्होंने प्रतिबिंबन की धारणा को मुख्यत: सार के विभिन्न, परस्पर निर्धारक तत्वों के सहसंबंध का वर्णन

करने के लिए इस्तेमाल किया। इस संबंध में हेगेल ने कहा कि सारत: "सब कुछ **प्रतिबिंबन की सत्ता** के रूप में सत्य मान लिया जाता है, एक ऐसी सत्ता, जो दूसरे में चमकती है और जिसमें दूसरी चमकती है" (64,*6*,229)।

प्रतिबिंबन की धारणा की इस प्रत्ययवादी विकृति से यह स्पष्ट हो जाता है कि हेगेल का दर्शन संज्ञान को स्वयं वस्तुओं में, प्रकृति में निहित प्रक्रिया के रूप में देखता है, कि यह भी प्रकृति, मनुष्य और समाज के विकास द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के रूप में संज्ञान की वस्तुगत आवश्यकता के निर्विवाद तथ्य की विकृति है। स्पष्टत: हेगेल के दृष्टिकोण से धारणाएं या विचार भौतिक वस्तुओं को नहीं प्रतिबिंबित करते, इसके विपरीत, भौतिक वस्तुएं धारणा का "प्रतिबिंबन" हैं। ठीक इसी वजह से हेगेल ने "इस बाह्य सत्ता में केवल हमारा अपना ही दर्पण पाने, प्रकृति में आत्मा का स्वतंत्र प्रतिबिंबन देखने" की कोशिश की। उन्होंने सीधे दावा किया: "प्रकृति के बिंब केवल धारणाओं के बिंब हैं, लेकिन बाह्य सत्ता के तत्व में ..." (64,*7*,696,695)।

ये हेगेलीय सिद्धांत हेगेल के प्रत्ययवाद तथा प्लेटो के प्रत्ययवाद के बीच, जिन्होंने भौतिक वस्तुओं को बाह्य विचारों और धारणाओं के फीके, अपूर्ण, विकृत बिंबों के रूप में माना, वैचारिक संबंध के बारे में लेनिन की टिप्पणी को स्पष्टत: सिद्ध करते हैं।

भौतिकवादी संवेदनवाद, प्रतिबिंबन के भौतिकवादी सिद्धांत के प्रति हेगेल के नकारात्मक रुख़ पर ध्यान देते हुए, जिसने स्पष्टत: द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल की समस्या के वैज्ञानिक समाधान को असंभव बना दिया, हमें हेगेल के दर्शन की वस्तुगत अंतर्वस्तु और उसकी आत्मगत व्याख्या के बीच सुनिश्चित ढंग से भेद करना चाहिए। मुख्य बात यह है कि चिंतन के रूपों की द्वंद्वात्मक समझ के कारण हेगेल अपने पूर्ववर्तियों के मुक़ाबले में वस्तुगत यथार्थता से उनके वास्तविक संबंध की समझ के अधिक निकट पहुंच गये। सर्वोपरि, उन्होंने इस परंपरागत विश्वास को समाप्त कर दिया कि तर्कशास्त्र केवल चिंतन के आत्मगत रूपों का ही अध्ययन करता है। प्रागनुभविक और अत: आत्मगत रूपों के तौर पर तार्किक रूपों की कांट की व्याख्या का विरोध करते हुए हेगेल अनजाने ही वस्तुगत यथार्थता के प्रतिबिंबन के रूपों

के तौर पर तार्किक संबंधों की सही समझ पर पहुंच जाते हैं। इसका जीता-जागता उदाहरण उनका यह सिद्धांत है कि सभी चीज़ें कल्पित निगमन हैं। सादृश्यानुमान द्वारा निगमन से आवश्यकता के निगमन में हेगेलीय संक्रमण का उल्लेख करते हुए लेनिन लिखते हैं: "हेगेल ने वस्तुतः **सिद्ध किया** कि तार्किक रूप और नियम मात्र ख़ाली खोल नहीं, बल्कि वस्तुगत जगत् का प्रतिबिंब हैं। ठीक-ठीक कहें तो उन्होंने सिद्ध नहीं किया बल्कि **मेधावी ढंग से अनुमान लगाया**" (10,*38*,180)।

इस तरह, हालांकि हेगेल ने ज्ञानमीमांसा में प्रतिबिंबन के भौतिकवादी सिद्धांत को अस्वीकार किया, फिर भी वह अनजाने ही ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचे, जो चिंतन के रूपों तथा सत्ता के रूपों से उनके संबंध के बारे में कठिन प्रश्न संबंधी इस सिद्धांत को प्रमाणित और विकसित करते हैं।

कांट के दर्शन में विशेष स्पष्ट तार्किक रूपों की आत्मगतवादी आकारवादी व्याख्या का विरोध करते हुए हेगेल ने तार्किक रूपों को केवल निर्णयों, निगमनों, आदि तक ही सीमित नहीं किया। जैसा कि विदित है, हेगेल ने चिंतन के रूपों के प्रति व्यापक रुख़ अपनाया और उनकी परिधि में ऐसी सभी अत्यधिक सामान्य धारणाओं और प्रवर्गों को शामिल किया, जो परिघटनाओं के बीच सामान्य और मौलिक संपर्कों तथा संबंधों को व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि हेगेल ने अपने तर्कशास्त्र में परिमाण, गुण, मानदंड, सार, अंतर्विरोध, आधार, परिघटना, आभास, कारणता, यथार्थता, आवश्यकता, स्वतंत्रता, आदि धारणाओं को शामिल किया। लेकिन कांट के विपरीत, जिनका इंद्रियातीत विश्लेषण भी ऐसी धारणाओं का अध्ययन करता है, हेगेल ने इन सभी प्रवर्गों को मानव-चिंतन के आत्मगत रूपों के तौर पर नहीं, बल्कि स्वयं वस्तुओं की परिभाषाओं के रूप में देखा, जो मानव-संकल्प से स्वतंत्र हैं। इसके अलावा, उन्होंने अपने तर्कशास्त्र में यांत्रिक तथा रासायनिक प्रक्रियाओं, जीवन और उद्देश्यपूर्ण कार्य की धारणाओं को भी शामिल किया।

हेगेल ने अपना ध्येय सभी वैज्ञानिक प्रवर्गों के पारस्परिक संबंधों और गति के विश्लेषण में देखा, क्योंकि तर्कशास्त्र को अपने विकास की समग्रता में ज्ञान का विज्ञान होना चाहिए। लेनिन ने तर्कशास्त्र की

इस परिभाषा को मेधापूर्ण माना (10,*38*,103)। उन्होंने तर्कशास्त्र में जीवन के प्रवर्ग के सम्मिलन और द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र में व्यवहार के स्थान के प्रति हेगेल के दृष्टिकोण का भी उच्च मूल्यांकन किया। इन प्रवर्गों के बिना द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र संज्ञान के विकास तथा इसकी वस्तुगत अंतर्वस्तु को नहीं प्रतिबिंबित कर सकता, जो संबद्ध तार्किक रूपों को निर्धारित करती है।

बेशक, यह नहीं भूलना चाहिए कि तर्कशास्त्र में तथाकथित सत्ता-मीमांसीय प्रवर्गों को शामिल करते हुए हेगेल ने अपने को केवल द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की समस्याएं पेश करने तक ही सीमित नहीं किया; उन्होंने परम प्रत्ययवाद की एक ऐसी प्रणाली की स्थापना की, जो वास्तविक इतिहास को एक ऐसी धारणा के आत्म-ज्ञान, आत्म-विकास के इतिहास में बदल देती है, जिसमें मानो विख्यात "परम प्रत्यय" अपने को व्यक्त करता, अपने को समझता हो। वस्तुगत यथार्थता तथा संज्ञान के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में लोगों की चेतना में इसके प्रतिबिंबन के हेगेलीय रहस्यमयीकरण को बेनक़ाब करते हुए मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन वस्तुगत ऐतिहासिक प्रक्रिया और संज्ञान के बीच द्वंद्वात्मक संबंध का भौतिकवादी समाधान पेश करता है। इसी स्थिति से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद धारणाओं के संबंध, पारस्परिक रूपांतरण, गति और विकास के बारे में हेगेल के सिद्धांत का मूल्यांकन करता है।

द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र की मूल समस्याओं का वर्णन करते हुए लेनिन ने लिखा: "तर्कशास्त्र संज्ञान का विज्ञान है। यह संज्ञान का सिद्धांत है। संज्ञान मनुष्य द्वारा प्रकृति का प्रतिबिंबन है। लेकिन यह सरल, प्रत्यक्ष, पूर्ण प्रतिबिंबन नहीं, बल्कि अनेक अमूर्तीकरणों की प्रक्रिया, धारणाओं, नियमों, आदि के निर्माण और विकास की प्रक्रिया है तथा ये धारणाएं, नियम, आदि (चिंतन, विज्ञान= 'तार्किक विचार') शाश्वत रूप में गतिशील और विकासशील प्रकृति की सार्विक नियमितता को **अपनी परिधि में** सशर्त, मोटे तौर पर **लेते हैं**" (10,*38*,182)। अतः सापेक्षता संज्ञान की सभी अवस्थाओं के लिए लाक्षणिक है।

लेकिन अगर वस्तुगत यथार्थता का वैज्ञानिक संज्ञान इसका प्रत्यक्ष प्रतिबिंबन नहीं हो सकता, अगर यह अनिवार्यतः अप्रत्यक्ष स्वरूप की है, तो स्पष्ट है कि वैज्ञानिक ज्ञान हमेशा संज्ञान के विकास में निश्चित

अवस्थाओं का, अज्ञान से ज्ञान में, एक प्रकार के ज्ञान से दूसरे प्रकार के अधिक गहन ज्ञान में संक्रमण का द्योतक है। इसका यह भी अर्थ है कि किसी भी ज्ञान को भिन्न, पूर्ववर्ती ज्ञान के संबंध में देखा जाना चाहिए, क्योंकि विज्ञान के किसी भी विषय का संज्ञान अपने विकास का परिणाम भी है। यही बात प्रवर्गों पर भी लागू होती है, जो ऐतिहासिक रूप से विकासमान संज्ञान की तार्किक रूप से सामान्यीकृत अंतर्वस्तु हैं। परंतु संज्ञान का इतिहास असीम है, अत: सार्विकता के तार्किक रूपों के तौर पर प्रवर्गों को भी बदलना और विकसित होना चाहिए। विकास के सार्विकता के सिद्धांत को निरपवाद रूप से दर्शन तथा विज्ञान के सभी प्रवर्गों पर लागू किया जाना चाहिए। लेनिन के शब्दों में, "...अगर **सब कुछ** विकसित होता है तो क्या यह चिंतन की सर्वाधिक सामान्य **धारणाओं** और **प्रवर्गों** पर भी लागू नहीं होता? अगर नहीं, तो इसका अर्थ है कि चिंतन सत्ता से संबद्ध नहीं है। अगर हां, तो इसका अर्थ है कि धारणाओं तथा संज्ञान का वस्तुगत द्वंद्ववाद विद्यमान है" (*10,38,256*)।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के प्रवर्गों सहित किन्हीं भी प्रवर्गों को परम मानना अर्थात् उनके और आगे विकास तथा सामान्यीकरण की निरंतर आवश्यकता की उपेक्षा करना – अंतिम विश्लेषण में द्वंद्ववाद के स्थान पर चिंतन की अधिभूतवादी विधि का प्रतिस्थापन है। यहां तक कि भूगोल, खगोलविज्ञान और अन्य विज्ञानों की इंद्रियानुभविक खोजें भी मूलत: इन विज्ञानों के विकास के परिणाम हैं। यह विशेषकर इस या उस विज्ञान, ख़ास तौर से दर्शन की मौलिक धारणाओं पर भी लागू होता है।

स्पष्टत:, परमाणु और अणु की धारणा सर्वोपरि इन भौतिक कणों के वस्तुगत अस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है, क्योंकि यह धारणा परमाणुओं तथा अणुओं के अस्तित्व के वस्तुगत तथ्य को प्रतिबिंबित करती है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि इस वस्तुगत तथ्य का वैज्ञानिक प्रतिबिंबन निश्चित ज्ञान तथा अध्ययन की संबद्ध विधियों और साधनों के विकास के फलस्वरूप ही संभव हुआ है। इस दृष्टिकोण से परमाणुओं तथा अणुओं की आधुनिक वैज्ञानिक धारणा ज्ञान के इतिहास का समाहार प्रस्तुत करती है।

हेगेल के द्वंद्ववाद की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए लेनिन ने हमेशा ज़ोर दिया कि विकास की प्रत्येक विचाराधीन अवस्था में वस्तुगत यथार्थता की वैज्ञानिक समझ साथ ही वास्तविक जगत्, विज्ञानों के इतिहास तथा विविध मानव-कार्यों के बारे में संज्ञान के इतिहास का समाहार भी है। वास्तव में, संज्ञान के ऐतिहासिक विकास की वजह से ही, जिसके बिना यह बाह्य यथार्थता को सही ढंग से नहीं प्रतिबिंबित कर सकता, संसार की वैज्ञानिक, द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी समझ संज्ञान की प्रक्रिया की वैज्ञानिक समझ भी है। उदाहरणार्थ, भौतिकविज्ञान का इतिहास न केवल ऐतिहासिक रूप से अपने विषय को प्रकट करता तथा उसकी वैज्ञानिक समझ प्रदान करता है, बल्कि साथ ही भौतिक नियमों के संज्ञान की प्रक्रिया और इसकी विशेषताओं, भौतिक प्रवर्गों के आविर्भाव तथा विकास, इन प्रवर्गों के पारस्परिक संबंधों, आदि को भी प्रकट करता है।

द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी दृष्टिकोण से संज्ञान का सिद्धांत केवल संज्ञान के इतिहास, विज्ञानों और व्यावहारिक मानव-कार्यों के इतिहास के समाहार के अलावा और कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि वास्तविक इतिहास, संज्ञान के वास्तविक अनुभव का यह समाहार ही मौलिक ज्ञानमीमांसीय समस्याओं के समाधान में सहायता कर सकता है, संज्ञान के सिद्धांत के उन प्रश्नों की तो बात ही छोड़ें, जिनका सूत्रीकरण वैज्ञानिक संज्ञान तथा सामाजिक व्यवहार के विकास से जुड़ा होता है। सोवियत दार्शनिक म० अ० किसेल ठीक ही कहते हैं कि मार्क्सवादी दर्शन "शब्द के पुराने अर्थ में सत्तामीमांसा नहीं है यानी यह सत्ता का कल्पनात्मक रूप से विकसित ऐसा सिद्धांत नहीं है, जो संसार के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान से किनारा करता हो" (24,175)।

परंपरागत दार्शनिक इंद्रियानुभववाद ने सैद्धांतिक ज्ञान की ऐंद्रिक उत्पत्ति के सिद्धांत को प्रमाणित करते हुए ज्ञानमीमांसा को अनुचित ढंग से संज्ञान के मनोविज्ञान में बदल दिया। वर्तमान समय में, संज्ञान का मनोविज्ञान एक विशेष विज्ञान है, जो मुख्यतः निश्चित संज्ञानात्मक योग्यताओं से संपन्न विभिन्न व्यक्तियों का अध्ययन करता है। द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा के प्रमाणीकरण और विकास के लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के महत्व को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए।

लेकिन यह भी स्पष्ट है कि ज्ञानमीमांसा, जो ज्ञान के विकास का अध्ययन करती है (सबसे पहले उसके प्रवर्गीय रूपों में), अलग-अलग व्यक्तियों के संज्ञानात्मक अनुभव का नहीं, बल्कि सारी मानवजाति के संपूर्ण संज्ञानात्मक अनुभव से संबद्ध है। वस्तुतः इसी वजह से द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा की व्याख्या को इंद्रिय, अनुभूति और चिंतन के बारे में मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के वर्णन के रूप में नहीं पेश किया जा सकता।

संज्ञान के सिद्धांत के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र पर भी लागू होता है, जिसके प्रवर्ग संज्ञान की ऐतिहासिक प्रक्रिया के संयोजन-बिंदु, मुख्य अवस्थाएं हैं। द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र इस प्रक्रिया का इसमें आविर्भूत और विकसित होनेवाले तार्किक रूपों और प्रवर्गों तथा उनके पारस्परिक संबंधों की दृष्टि से समाहार प्रस्तुत करता है। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के लिए वस्तुगत जगत् के विकास का सिद्धांत या द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र और संज्ञान के सिद्धांत की समस्याएं जैसी भौतिकवादी द्वंद्ववाद की विशेष दार्शनिक समस्याएं कोई अस्तित्व ही नहीं रखतीं। ऐसी समस्याएं अवश्य ही अस्तित्व रखती हैं, पर एकता के ढांचे में ही, क्योंकि भौतिकवादी द्वंद्ववाद जगत् और ज्ञान में इसके प्रतिबिंबन तथा ज्ञान के तार्किक प्रवर्गों के विकास का सिद्धांत है। अतः एक ओर, भौतिकवादी द्वंद्ववाद और दूसरी ओर, द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र तथा ज्ञानमीमांसा के मेल का अर्थ केवल यह है कि ज्ञानमीमांसा की भांति द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र भी विकास का सिद्धांत है, जिसके लिए तीनों वर्णित पहलुओं में से प्रत्येक में अध्ययन के विषय का विशिष्ट स्वरूप लाक्षणिक है।

इस तरह, द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा का मेल भिन्नताओं से रहित अमूर्त तादात्म्य नहीं है। विकास के सामान्य सिद्धांत, संज्ञान और इसके तार्किक रूपों के सिद्धांत के तौर पर भौतिकवादी द्वंद्ववाद द्वंद्वात्मक ढंग से द्वंद्वात्मक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

'दार्शनिक नोटबुक' में लेनिन नियम की हेगेलीय धारणा की भौतिकवादी व्याख्या करते हैं। एक ओर, वह चेतना के बाहर और उससे स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान वस्तुओं के संबंध के रूप में नियम की वस्तुगतता पर ज़ोर देते हैं; दूसरी ओर, वह उतनी ही दृढ़ता से

इंगित करते हैं कि नियम की धारणा ऐतिहासिक रूप से विकासमान संज्ञान की निश्चित अवस्था है, जो परिघटनाओं के संज्ञान और सामान्यत: वस्तुओं के तात्विक संबंधों को सांगोपांग रूप में नहीं प्रकट करती। इसका अर्थ यह है कि कोई भी वैज्ञानिक नियम, उदाहरणार्थ भौतिक-विज्ञान या रसायनविज्ञान का नियम, वस्तुगत, वास्तविक, मौलिक संबंधों को प्रकट करता है। लेकिन यह उन्हें सापेक्षत:, संज्ञान की विद्य-मान वस्तुगत परिस्थितियों के अनुसार प्रकट करता है और अत: यह वस्तुगत किंतु सापेक्ष सत्य है अर्थात् एक निश्चित अवस्था है, जिस पर ज्ञान पहुंचता है और जिसका वह बाद में अनिवार्यत: अतिक्रमण करेगा। हेगेल के इस दावे के संबंध में कि "नियमों का राज्य अस्तित्वमान या उदीयमान जगत् का **निश्चेष्ट** प्रतिबिंबन है..." लेनिन निम्नलि-खित विलक्षण ज्ञानमीमांसीय निष्कर्ष पेश करते हैं: "नियम निश्चेष्ट को लेता है और अत: नियम, हर नियम संकीर्ण, अपूर्ण, स्थूल अनुमान है" (10,*38*,151)। स्पष्टत: यह विज्ञान के संज्ञानात्मक महत्व को ज़रा भी कम नहीं करता।

लेनिन विज्ञान द्वारा निरूपित किसी भी नियम में निहित ज्ञान को परम बनाने के खिलाफ़ चेताते हैं। फिर भी हालांकि परिघटनाएं नियमों से समृद्ध हैं, परिघटनाओं का संनियमन करनेवाले नियमों का संज्ञान उनके सार की समझ है।

'दार्शनिक नोटबुक' में अनेक स्थानों की भांति ही यहां लेनिन अपनी पहले की कृतियों में प्रस्तुत स्थापनाओं को विकसित करते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' में ज़ोर दिया कि पूंजीवादी समाज में मालों के उत्पादन और विनिमय के दौरान करोड़ों निजी उत्पादक इस या उस तरीक़े से एक दूसरे के साथ अंतर्क्रिया करते हैं और इसके ज़रिये सामाजिक सत्व को बदलते हैं। "पूंजीवादी विश्व-अर्थव्यवस्था में इसकी सभी शाखा-प्रशाखाओ में इन परिवर्तनों का कुल योग ७० मार्क्सों की भी मानसिक पकड़ में नहीं आ सकता था। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन परिवर्तनों के **नियम** खोजे गये हैं, कि मुख्य बातों में इन परिवर्तनों और इनके ऐतिहासिक विकास के **वस्तुगत** तर्क को प्रकट किया गया है..." (10, *14*,325)। इस प्रकार, उदाहरण के तौर पर पूंजीवादी माल अर्थव्यवस्था

की कार्यविधि का इस्तेमाल करते हुए लेनिन नियम के प्रवर्ग की उस ज्ञानमीमांसीय समझ को निरूपित करते हैं, जिसे फिर उन्होंने अपनी 'दार्शनिक नोटबुक' में विकसित किया और सर्वोत्कृष्ट ढंग से परिभाषित किया।

वस्तुगत अंतर्वस्तु तथा संज्ञान के विकास की प्रक्रिया में स्थान के दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रवर्ग का वर्णन स्पष्ट ढंग से दर्शाता है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और संज्ञान के सिद्धांत के मेल के सिद्धांत को कैसे लागू करता है। इस अर्थ में मेल का सिद्धांत परिघटनाओं के अध्ययन के प्रति वास्तविक द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण है, एक ऐसा दृष्टि-कोण, जो संज्ञान के विषयी के अस्तित्व तथा संज्ञान के ऐतिहासिक स्तर को ध्यान में रखता है, जो जड़सूत्रवाद और संज्ञान द्वारा प्राप्त परिणामों की परम व्याख्या की तथा परम सापेक्षवाद, आत्मगतवाद और अज्ञेयवाद को छूट मिलने की सम्भावना को समाप्त कर देता है।

लेकिन मेल के सिद्धांत का प्रयोग यहीं तक सीमित नहीं है, क्योंकि कार्य केवल प्रदत्त प्रवर्ग की वस्तुगत अंतर्वस्तु को प्रकट करने तथा संज्ञान की एक अवस्था के रूप में इसकी सापेक्षता पर ज़ोर देने का ही नहीं, बल्कि अन्य प्रवर्गों में इसके स्थान तथा उनसे इसके संबंध को निर्धारित करने का भी है। मिसाल के लिए, "आवश्यकता" के प्रवर्ग की चर्चा करते समय हमें "नियम", "सार", "संभावना", "संयोग", "संभाव्यता", "आधार", आदि जैसे प्रवर्गों से उसके संबंधों को निर्धारित करना चाहिए। इसी तरह, यह दिखाना ही काफ़ी नहीं है कि "यथार्थता" के प्रवर्ग के पास अमुक वस्तुगत अंतर्वस्तु है और यह संज्ञान में एक निश्चित अवस्था भी है। इस प्रवर्ग की वैज्ञानिक रूप से सही, वस्तुगत रूप से द्वंद्वात्मक, ज्ञानमीमांसीय और तार्किक परिभाषा देने के लिए न केवल संभावना के प्रवर्ग से, बल्कि "अस्तित्व", "सारतत्व", परिघटना", "आभास", "आवश्यकता", "अंतर्विरोध", "विकास", आदि प्रवर्गों से भी इसके संबंध को स्पष्ट करना चाहिए।

प्रवर्गों के बीच संबंधों और इनके ज़रिये प्रवर्गों की निश्चित प्रणाली का विश्लेषण करते हुए धारणाओं की गति और उनके परस्पर-संक्रमण की जांच करना अर्थात धारणाओं को द्वंद्वात्मक ढंग से, जड़ धारणाओं

के रूप में नहीं, बल्कि गतिशील, परस्पर-संक्रमण में समर्थ धारणाओं के रूप में प्रतिपादित करना चाहिए यानी उनके प्रति गति, परिवर्तन, विकास का दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। अतः धारणा के आत्म-विकास के बारे में हेगेल के प्रत्ययवादी सिद्धांत की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए लेनिन लिखते हैं: "सामान्यतः द्वंद्ववाद 'धारणाओं में विचार की शुद्ध गति' है (अर्थात इसे प्रत्ययवाद की रहस्यमयता के बिना रखते हुए: मानव-धारणाएं गतिहीन नहीं, बल्कि शाश्वत रूप से गति-शील हैं, वे एक दूसरे में संक्रमण करती हैं, एक दूसरे में बिगाड़ उत्पन्न करती हैं, इसके बिना वे जीवित जीवन को प्रतिबिंबित नहीं करतीं। धारणाओं का विश्लेषण, उनका अध्ययन, 'उनका प्रयोग करने की कला' (एंगेल्स) हमेशा धारणाओं की **गति**, उनके परस्पर-संबंध, उनके परस्पर-संक्रमण के अध्ययन की मांग करता है)" (10,*38*,253)।

अभिलाक्षणिक है कि लेनिन गति, परिवर्तन, संक्षेप में, धारणाओं के द्वंद्ववाद की मांग के पालन को ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र में भौतिक-वादी सिद्धांतों के पालन के रूप में देखते हैं, क्योंकि भौतिकवाद सत्ता से चेतना के मेल की अपेक्षा रखता है और सत्ता अपनी प्रकृति में ही द्वंद्वात्मक है। अधिभूतवादी भौतिकवाद ज्ञानमीमांसा में प्रतिबिंबन के इस सिद्धांत का सुसंगत ढंग से पालन नहीं कर सकता। जहां तक हेगेल का संबंध है, तो उन्होंने चिंतन में (धारणाओं में) और सत्ता में गति की एकता को विकृत प्रत्ययवादी रूप में प्रकट किया। इस संबंध में एंगेल्स ने कहा कि हेगेल का दर्शन सिर के बल खड़ा भौतिकवाद है। और अपनी 'दार्शनिक नोटबुक' में लेनिन हेगेल की धारणा के सिद्धांत के संबंध में एंगेल्स की इस परिभाषा की सत्यता और गहनता पर ज़ोर देते हैं।

लेनिन हेगेल की महान सेवा को केवल इस चीज़ में ही नहीं देखते कि उन्होंने आंतरिक अंतर्विरोधों की वस्तुगतता और अनिवार्यता, गति, परिवर्तन और विकास के सार्विक और आवश्यक स्वरूप को सिद्ध किया व विकास के सामान्य नियमों का मेधावी ढंग से अनुमान किया, बल्कि इस चीज़ में भी देखते हैं कि वह इस वस्तुगत द्वंद्ववाद को धार-णाओं के तर्क में व्यक्त करने में समर्थ थे यानी उन्होंने द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र का निर्माण किया। प्राचीन यूनानी दर्शन से शुरू करके अनेक दार्शनिक गति या संज्ञान के अंतर्विरोधों की खोज करते हुए गति के

अधिभूतवादी निषेध पर, अज्ञेयवाद और अतर्कबुद्धिवाद पर पहुंच गये। हेगेल के 'दर्शन का इतिहास' और एलिआ के ज़ेनो की सुप्रसिद्ध संशयोक्तियों पर अपने नोटों में लेनिन ठीक ही कहते हैं कि "...प्रश्न यह नहीं है कि गति है या नहीं, बल्कि यह है कि इसे धारणाओं के तर्कशास्त्र में कैसे व्यक्त करें" (10,*38*,256)। हेगेल प्राचीन काल में ही पेश किये गये इस प्रश्न का उत्तर द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र का निर्माण करके, द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और संज्ञान के सिद्धांत की एकता को पुष्ट करके देते हैं।

विदित है कि हेगेल की विधि के विपरीत, उनकी प्रणाली दक़ियानूसी, जड़सूत्रवादी स्वरूप की है। अपने तर्कशास्त्र, प्रकृति के दर्शन और आत्मा के दर्शन में हेगेल ने संपूर्ण मानव-ज्ञान को कम से कम इसके सिद्धांतों और सैद्धांतिक आधारों के संबंध में समाप्त कर चुकने का दावा किया। यह परम प्रत्ययवाद के पूर्वाधारों का अनिवार्य परिणाम है, क्योंकि यह ज्ञान के इतिहास को (और सामान्यतः इतिहास को) "परम प्रत्यय" द्वारा अपने सारतत्व तथा उसमें निहित विकास की समस्त संपदा और विविधता – देश और काल के बाहर – की क्रमशः समझ में बदल देता है।

हेगेल के दर्शन में विधि और प्रणाली के बीच अंतर्विरोध सुस्पष्ट रूप से दिखाता है कि हेगेल अपने दार्शनिक सिद्धांत के ढांचे में द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और संज्ञान के सिद्धांत के मेल के अपने ही सिद्धांत का सुसंगत ढंग से अनुसरण करने में असमर्थ हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, किसी भी ज्ञान को (परम सत्य को भी) ऐतिहासिक विकास की एक निश्चित अवस्था के रूप में देखना चाहिए और उन प्रवर्गों को, जिनके द्वारा इस या उस अंतर्वस्तु का संज्ञान और प्रतिपादन किया जाता है, अन्य प्रवर्गों से भी सहसंबद्ध होना चाहिए यानी ज्ञान के विकास में निश्चित अवस्थाओं के रूप में उनका भी मूल्यांकन किया जाना चाहिए। लेकिन हेगेल का संज्ञान और विकास परम ज्ञान द्वारा पूरे किये जाते हैं, क्योंकि "परम प्रत्यय" स्वयं का बोध करता है और इसके ज़रिये यह अपने "अन्यसंक्रामण", "अन्यसत्ता", आदि का भी बोध करता है।

उल्लेखनीय है कि अपने प्रत्ययवादी पूर्वाधारों तथा युग-युगों से स्थापित दार्शनिक परंपरा की वजह से हेगेल ने दर्शन को अन्य विज्ञानों

के मुक़ाबले में यह दावा करते हुए रखा कि केवल दर्शन ही सत्य का अध्ययन करता है, कि अन्य विज्ञानों में सत्य शुद्ध नहीं होता तथा उसे ऐसे दूसरे विचारों, दावों और इरादों की तुलना में गौण स्थान प्राप्त होता है, जिनका सत्य से कोई वास्ता नहीं होता। इसीलिए हेगेल प्रकृति के दर्शन को प्राकृतिक विज्ञानों के, इतिहास के दर्शन को इतिहास के, विधि के दर्शन को विधि के मुक़ाबले में रखते हैं। हेगेल के अनुसार, संज्ञान केवल दर्शन (ठीक-ठीक कहें तो केवल परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी दर्शन) में द्वंद्वात्मक है, क्योंकि इसमें धारणाओं के विश्लेषण का स्थान होता है और चिंतन संज्ञान का विषय है। जहां तक अन्य विज्ञानों, विशेष रूप से भौतिक विषयों से संबद्ध विज्ञानों, का संबंध है, तो वे अपने स्वरूप से ही अद्वंद्वात्मक हैं। इसके अनुसार, हेगेल ने माना कि द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल का केवल दर्शन में ही स्थान है और यह भी केवल वहीं तक, जहां तक चिंतन, संज्ञान उसके विषय होते हैं। बेशक, यह ग़लती परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी दर्शन के लिए अनिवार्य थी।

हेगेलीय सर्वबुद्धिवाद के विपरीत, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के सिद्धांत को सुसंगत ढंग से लागू करता है। दर्शन में इस सिद्धांत का पालन करने का अर्थ जड़सूत्रवाद और परम ज्ञान तथा परम सत्य के जड़सूत्रवादी दावों को अस्वीकार करना ही नहीं है, बल्कि द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के सभी सिद्धांतों, नियमों और प्रवर्गों को बिना किसी अपवाद के सकारात्मक रूप से तैयार, विकसित, समृद्ध करना, विशद बनाना और उन्हें ठोस रूप प्रदान करना भी है। ठीक यही कारण है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अन्य कथित रूप में "परिमित" और सीमित विज्ञानों के मुक़ाबले में विज्ञानों का विज्ञान नहीं है। सभी विज्ञानों की भांति द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विकसित हो रहा है, नयी सामग्री से समृद्ध बनता है, गहन, विशद बनता है तथा अपने सिद्धांतों और नियमों की ठोस व्याख्या पेश करता है।

यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और संज्ञान के सिद्धांत के मेल के सिद्धांत को निरपवाद रूप से सभी विज्ञानों पर लागू करने की मांग करता है। लेनिन

के अनुसार, "हेगेल और मार्क्स के कार्य की निरंतरता मानव-चिंतन, विज्ञान तथा प्रविधि के इतिहास के **द्वंद्वात्मक** विशदीकरण में निहित होनी चाहिए" (10,*38*,146-47)। इसका अर्थ यह है कि किसी भी विज्ञान के किसी भी सिद्धांत, धारणा या नियम को पहले, उनकी वस्तुगत अंतर्वस्तु (वस्तुगत यथार्थता के प्रतिबिंबन) की दृष्टि से देखना चाहिए; दूसरे, ज्ञानमीमांसीय रूप से, संज्ञान के विकास में एक निश्चित अवस्था के रूप में, एक प्रकार के ज्ञान से दूसरे, अधिक गहन ज्ञान में संक्रमण के रूप में; और तीसरे, द्वंद्वात्मक तर्क की दृष्टि से, जो प्रवर्गों के परस्पर-संबंध और गति का विश्लेषण करता है, चाहे वे सामान्य दार्शनिक प्रवर्ग हों या किसी पृथक् विज्ञान की मूल धारणाएं (जैसे क्लासिकीय यांत्रिकी में द्रव्यमान, जड़ता, वेग, त्वरण)।

उदाहरणार्थ, गैलिले का यह सिद्धांत सही है कि स्वतंत्र रूप से नीचे गिरनेवाले पिंड का वेग इसके आकार और द्रव्यमान पर नहीं निर्भर करता, क्योंकि इसे उस वातावरण से पृथक किया जाता है, जिसमें पिंड का स्वतंत्र पात होता है। क्लामिकीय यांत्रिकी का यह सिद्धांत वैक्यूम में पिंड के पतन को ध्यान में रखने के बावजूद प्रकृति में घटित होनेवाले पतन की वास्तविक प्रक्रिया का सही प्रतिबिंबन है। लेकिन आधुनिक वायुगतिकी गैलिले के नियम को इस प्रक्रिया के संज्ञान में महज़ एक निश्चित अवस्था के रूप में देखती है: वायुगतिकी को गिरनेवाले पिंड के भार और आकार, वातावरण और वातावरण-संबंधी परिस्थितियों यानी उन सभी चीज़ों को ध्यान में रखना पड़ता है, जिनकी क्लासिकीय यांत्रिकी उपेक्षा करती है। यह है वह ढंग, जिससे किसी नियम का संज्ञान ऐतिहासिक रूप से विकसित होता है, संज्ञान की ऐतिहासिक प्रक्रिया का सामान्यीकरण होता है, इस प्रक्रिया से संबद्ध क्लासिकीय यांत्रिकी के प्रवर्गों तथा उनके समन्वय और मातहती के संबंध का अध्ययन किया जाता है तथा ज्ञान के विशिष्ट क्षेत्रों में द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा की एकता के सिद्धांत के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी प्रयोग के सार को सुस्पष्ट रूप से प्रकट किया जाता है। इस दृष्टि से ही यूक्लिडीय और अयूक्लिडीय ज्यामितियों के बीच, क्लासिकीय और आधुनिक, क्वांटम यांत्रिकी के बीच संबंधों को देखा जाना चाहिए। अगर क्लासिकीय यांत्रिकी द्रव्यमान और वेग के प्रवर्गों

को एक दूसरे से स्वतंत्र प्रवर्गों के रूप में देखती है, तो क्वांटम यांत्रिकी उन्हें अटूट रूप से जुड़े प्रवर्गों के रूप में देखती है।

द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के सिद्धांत को ज्ञान के विशिष्ट क्षेत्रों में लागू करने का प्रश्न, जिसे लेनिन ने अपनी 'दार्शनिक नोटबुक' में पेश किया, किसी भी विज्ञान में ज्ञान के समक्ष नये परिप्रेक्ष्य खोलता है। इस दृष्टिकोण से आगे बढ़ते हुए लेनिन ने 'भौतिकवाद और आलोचनात्मक अनुभववाद' में ही दिखाया कि इलेक्ट्रॉन वैसे ही अक्षय है जैसे परमाणु। भूतद्रव्य की लेनिन की मेधावी धारणा विषय की प्रकृति और इसके वैज्ञानिक ज्ञान की द्वंद्वात्मक समझ पर आधारित है। लेनिन ज़ोर देते हैं कि भूतद्रव्य का कोई भी प्रकृतिवैज्ञानिक सिद्धांत उसके सभी गुणों को पूर्णतः उद्घाटित नहीं करता, बल्कि भूतद्रव्य के संज्ञान के विकास में एक निश्चित अवस्था है, जिसका अनिवार्यतः संज्ञान के अगले विकास द्वारा द्वंद्वात्मक निषेध हो जाता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि, जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, अपनी परिधि में विज्ञान को अज्ञात अवस्थाओं और गुणों सहित सभी अवस्थाओं और गुणों को शामिल करनेवाली भूतद्रव्य की धारणा केवल ज्ञानमीमांसीय धारणा, ज्ञानमीमांसीय प्रवर्ग ही हो सकती है। बेशक, यह भूतद्रव्य के दार्शनिक सिद्धांत में उन गुणों को इंगित करने की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करता, जिनका प्राकृतिक विज्ञान अध्ययन करते हैं।

इस तरह, द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के भौतिकवादी सिद्धांत को पेश करते हुए लेनिन हेगेल के विपरीत किसी भी विज्ञान में इसके प्रयोग की आवश्यकता को प्रदर्शित करते हैं। इस बात पर ज़ोर देते हुए कि हेगेल का 'तर्कशास्त्र' चिंतन के इतिहास का समाहार है, लेनिन कहते हैं कि मानव-संज्ञान, आम तौर से सभी विज्ञानों की सामान्य प्रक्रिया को संनियमित करनेवाले नियम प्रत्येक विज्ञान में अपना स्थान रखते हैं। लेनिन के शब्दों में, "**अलग-अलग विज्ञानों के इतिहास** में इसकी अधिक ठोस रूप से और अधिक विस्तारपूर्वक खोज करना असाधारण रूप से फलप्रद कार्य प्रतीत होता है" (1,*38*,318)।

इसी आधार पर लेनिन के इन सुप्रसिद्ध शब्दों को भी समझना

चाहिए कि मार्क्स ने 'पूंजी' में द्वंद्ववाद, तर्कशास्त्र और ज्ञान के सिद्धांत को एक विज्ञान – राजनीतिक अर्थशास्त्र – पर लागू किया। "मार्क्स ने बुद्धिसंगत रूप में हेगेल के द्वंद्ववाद को राजनीतिक अर्थशास्त्र पर **लागू किया**" (1,*38*,178)। राजनीतिक अर्थशास्त्र में द्वंद्ववाद, तर्क-शास्त्र और ज्ञानमीमांसा के मेल के सिद्धांत के प्रयोग के महत्व को समझने के लिए मार्क्स की 'पूंजी' में आर्थिक प्रवर्गों (श्रम, मूल्य, पूंजी, मुद्रा, आदि) की द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी, सही ऐतिहासिक व्याख्या की अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र की कृतियों द्वारा उनकी व्याख्या से तुलना करना ही काफ़ी है। चूंकि मार्क्स की 'पूंजी' ऐसे अध्ययन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, मार्क्सवादी दार्शनिकों को 'पूंजी' की विधि का अध्ययन करना और उसके महत्व को समझना चाहिए, जो अर्थशास्त्र तक ही सीमित नहीं है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद और आधुनिक बुर्जुआ चेतना (उपसंहार की जगह)

सुकरात कहा करते थे कि हेराक्लिटस से जो कुछ मैंने समझा है, वह भव्य है, लेकिन जो कुछ मैंने नहीं समझा है, वह निश्चय ही और भी भव्य होगा। मार्क्सवादी दर्शन के आधुनिक विरोधी इस बुद्धिमत्तापूर्ण उदाहरण का अनुसरण नहीं करते: वे इस सिद्धांत को समझने की अपनी असमर्थता का दोष मार्क्सवाद पर लगाते हैं। इसी वजह से यह विचार उत्पन्न हुआ कि मार्क्स संसार की व्याख्या के रूप में दर्शन से इन्कार करते हैं और इसे केवल संसार को बदलने के साधन के रूप में देखते हैं। लेकिन इस प्रश्न के संबंध में 'जर्मन विचारधारा' की सुप्रसिद्ध स्थापनाओं को स्मरण करना ही काफ़ी है, जिनसे सुस्पष्ट है कि मार्क्सवाद सामाजिक यथार्थता की मंडनात्मक व्याख्या की निंदा करता है। मार्क्सवाद इसके मुक़ाबले में सामाजिक संबंधों की वैज्ञानिक व्याख्या पेश करता है और उनके रूपांतरण की आवश्यकता को सैद्धांतिक रूप से पुष्ट करता है। मार्क्स की 'पूंजी' सामाजिक यथार्थता के इस क्रांतिकारी-आलोचनात्मक स्पष्टीकरण का महान उदाहरण है।

मार्क्स पर दर्शन को समाप्त करने के इरादे को थोपने का प्रयास भी अविचारित और खोखला है। मार्क्स की कृतियों के उद्धरणों की एकांगी व्याख्या ऐसे दावों को वस्तुगतता का आवरण प्रदान करती है। लेकिन दर्शन के इतिहास में दर्शन की धारणा सहित धारणाओं की कोई एक बंधी-बंधाई सुनिर्धारित परिभाषा नहीं है। फ़ायरबाख़ ने दावा किया कि उनका दर्शन कोई दर्शन नहीं है, फिर भी कोई उन्हें अदार्शनिक नहीं कहेगा।

मार्क्स और एंगेल्स शब्द के पुराने अर्थ में दर्शन यानी एक ओर सकारात्मक विज्ञानों का और दूसरी ओर सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन का विरोध करनेवाले परिकल्पनात्मक दर्शन की समाप्ति को आवश्यक

मानते हैं। मार्क्स के लिए दर्शन मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को हमेशा के लिए समाप्त करनेवाले महान मुक्ति आंदोलन का अभिन्न अंग और सैद्धांतिक अस्त्र है। यह तथ्य, जो दर्शन के **सामाजिक** अर्थ (जिसे आज कोई, कम से कम औपचारिक रूप में, अस्वीकार नहीं करता) की मार्क्स की गहन समझ का प्रमाण है, मार्क्सवाद के कुछ आलोचकों को इसे "पूर्वानुबंधित चिंतन" के रूप में पेश करने का बहाना प्रदान करता है।

मार्क्सवाद आधुनिक युग की प्रवृत्तियों, अंतर्विरोधों और प्रेरक शक्तियों के अध्ययन के वैज्ञानिक तरीक़े प्रस्तुत करता है। मार्क्सवाद की सही समझ और रचनात्मक प्रयोग इसके प्रति पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण के अस्वीकार की पूर्वकल्पना करता है। जितना मार्क्सवाद को तोड़ा-मरोड़ा गया है, उतना सामाजिक चिंतन के इतिहास में किसी भी सिद्धांत को नहीं। आज भी, जब कि मार्क्सवाद के विरोधी इसे ध्यान में रखने को विवश हैं और इसका अध्ययन करते हैं, इसे पहले से कहीं अधिक तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ बुर्जुआ विद्वान मार्क्सवाद का अध्ययन उतना इसे समझने के लिए नहीं करते, जितना कि इसका खंडन करने हेतु "प्रमाण" जमा करने के लिए। इस दृष्टि से बुर्जुआ अध्येताओं की सबसे नयी "खोज" का कि मार्क्सवादी सिद्धांत का अंतर्वर्ती अंग... हेगेलवाद है, कारण स्पष्ट हो जाता है।

'मार्क्स और हेगेल पर निबंध' में फ़्रांसीसी अस्तित्ववादी, नव-हेगेलवादी जां हिप्पोलित हेगेल की 'आत्मा की फ़ेनोमेनोलॉजी' तथा मार्क्स की 'पूंजी' के बीच तुलना करते हैं। वह दोनों कृतियों में अन्य-संक्रामण के विषय का विकास देखते हैं। वह लिखते हैं: "हेगेल की 'फ़ेनोमेनोलॉजी' की भांति ही उत्पादक, मार्क्स के अनुसार, **माल** और **मुद्रा** में अपने को अन्यसंक्रामित करता है और यह अतिविशाल अन्यसंक्रामण **पूंजी** बनाता है; मार्क्स की कृति की वस्तुतः मुख्य पात्र – पूंजी – का उत्पादन **मनुष्य द्वारा किया जाता** है और फिर यह **इतिहास में मनुष्य पर हावी हो जाती है** तथा उसे **अपनी क्रिया-विधि के मात्र एक नगण्य अवयव में** बदल देती है" (69,160)।

जां हिप्पोलित गंभीर विद्वान तथा हेगेल की 'आत्मा की फ़ेनोमे-

नोलॉजी' के विशेषज्ञ हैं। बेशक, वह जानते हैं कि मार्क्स की "पूंजी'– यदि इसे हेगेल के अन्यसंक्रामण के सिद्धांत की आर्थिक व्याख्या के रूप में भी देखा जाये –'फ़ेनोमेनोलॉजी' से मूलतः भिन्न है, जिसमें आत्म-चेतना के अन्यसंक्रामण, परम की समझ द्वारा अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाने के बारे में चर्चा की गयी है। मार्क्स परम ज्ञान की प्रत्ययवादी धारणा की आलोचना करते हैं और चेतना तथा आत्म-चेतना के अन्य-संक्रामण के रूप में अन्यसंक्रामण की हेगेलीय समझ की निराधारिता को सिद्ध करते हैं: वह इसके मुक़ाबले में श्रम के उत्पाद तथा स्वयं श्रम के अन्यसंक्रामण के बारे में भौतिकवादी सिद्धांत पेश करते हैं। यह सही है कि हिप्पोलित इस तथ्य से इन्कार नहीं करते। वह स्वीकार भी करते हैं कि, मार्क्स के अनुसार, सर्वहारा का वर्ग संघर्ष न कि संज्ञान अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाने की ओर ले जाता है। मार्क्सवाद और हेगेलवाद के बीच इस भेद को इंगित करते हुए भी हिप्पोलित इसे महत्वपूर्ण नहीं मानते। उनके विचार में, अत्यधिक महत्वपूर्ण चीज़ वह नहीं है, जो इन दोनों विचारकों के बीच भेद करती है, बल्कि वह है, जो उन्हें एक दूसरे के निकट लाती है अर्थात अन्यसंक्रामण पर क़ाबू पाने और बुद्धिसंगत सिद्धांतों के आधार पर समाज के निर्माण की संभावना में विश्वास। यही विश्वास, जो अतर्कबुद्धिवादी विश्व-दृष्टिकोण से बिलकुल निराधार है, हिप्पोलित के अनुसार, मार्क्स को हेगेल की भांति ही प्रत्ययवादी बनाता है। यहां प्रत्ययवाद की व्याख्या निश्चित सत्तामीमांसीय या ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि सिर्फ़ मानव-बुद्धि की शक्ति, प्रगति की अनिवार्यता और सामाजिक आदर्शों की संभाव्यता में विश्वास के रूप में की जाती है।

आधुनिक बुर्जुआ विचारधारा समाजवाद के प्रति अपनी कट्टर शत्रुता की वजह से न केवल मार्क्सवाद का, बल्कि अपने ऐतिहासिक विगत की महान तर्कबुद्धिवादी परंपराओं का भी विरोध करती है। अतः मार्क्सवाद का हेगेलवाद में रूपांतरण आधुनिक बुर्जुआ दर्शन के आत्मिक संकट, उसके नैतिक पतन और विचारधारात्मक दुर्बलता का प्रमाण है।

लेनिन ने बुद्धि में हेगेल के विश्वास को, उनकी इस आस्था को कि विद्यमान सामाजिक बुराई से संघर्ष सार्विक विकास के वस्तुगत

नियम में निहित है, हेगेल के दर्शन का क्रांतिकारी पहलू कहा (10,2,21)। हिप्पोलित के विचार में, हेगेल के दर्शन का यह महत्वपूर्ण पहलू, जिसे मार्क्स ने आलोचनात्मक ढंग से स्वीकृत और भौतिकवादी ढंग से विकसित किया, भोला-भाला, कालातीत है और इतिहास की कसौटी पर सही नहीं उतरता।

अस्तित्ववाद के नज़दीकी कार्ल ल्योविथ के विचार में मार्क्स हेगेल की भांति तर्कबुद्धिवादी थे: "हेगेल का सिद्धांत – बुद्धि और यथार्थता की एकता तथा सत्ता और अस्तित्व की एकता के रूप में स्वयं यथार्थता – मार्क्स का भी सिद्धांत है" (80,109)। बेशक, ल्योविथ अच्छी तरह जानते हैं कि १८४३ – १८४४ में ही मार्क्स ने हेगेल द्वारा बुद्धि, चिंतन के सत्तामीमांसीयकरण की आलोचना की थी। तो भी, वह दावा करते हैं कि मार्क्स हेगेल की परिकल्पना पर क़ाबू पाने में असमर्थ थे यानी वह हेगेल के दर्शन के आलोचनात्मक विश्लेषण के स्तर पर नहीं रह सके। हिप्पोलित की भांति ल्योविथ समाज के प्रगतिशील विकास की तर्कबुद्धिवादी और भौतिकवादी व्याख्या के बीच भेद नहीं करते: सामाजिक प्रगति की अनिवार्यता का स्वयं विचार ही उनके लिए प्रत्ययवादी है।

मार्क्सवाद के इंजीली आलोचक इर्विन मेत्स्के इस चीज़ को भलीभांति जानते हुए कि मार्क्सवाद और हेगेलीय परम प्रत्ययवाद के बीच भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती, इन दो विरोधी मार्गों को द्वंद्ववाद की ग़लत व्याख्या द्वारा एक ही बताने की कोशिश करते हैं। मेत्स्के के अनुसार, मार्क्स का भौतिकवाद और हेगेल का प्रत्ययवाद विलोमों की एकता बनाते हैं: "मार्क्स और हेगेल के बीच संबंध स्वयं द्वंद्वात्मक है। इसमें विरोध निहित है। संबंध की गहराई अंतर्विरोध की गहराई के अनुरूप है" (88,15)।

मार्क्स के भौतिकवाद और हेगेल के प्रत्ययवाद के बीच मौलिक विरोध की उपेक्षा मार्क्सवाद की आधुनिक बुर्जुआ आलोचना का एक महत्वपूर्ण सूचक है। मार्क्सवाद पर उतना नकारात्मकता का आरोप नहीं लगाया जाता (जैसा कि २०वीं सदी के प्रारंभ में था), जितना कि विगत की महान तर्कबुद्धिवादी परंपराओं के प्रति अपर्याप्त आलोचनात्मक दृष्किोण का। यहां भौतिकवादी द्वंद्ववाद और हेगेल के प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद के बीच, ऐतिहासिक भौतिकवाद और इतिहास के

प्रत्ययवादी दर्शन के बीच, वैज्ञानिक कम्युनिज़्य और हेगेल के बुर्जुआ विचारों के बीच मौलिक विरोध का वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मार्क्सवाद के तथाकथित हेगेलीय विश्व-दृष्टिकोण के बारे में कपोल-कल्पना का खंडन करने के लिए मार्क्स और हेगेल में वस्तुतः सामान्य चीज़ का विश्लेषण करना तथा इस सामान्य चीज़ के भीतर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद के बीच मौलिक विरोध को प्रकट करना आवश्यक है।

हेगेल का दर्शन उस युग की आत्म-चेतना है, जब बुर्जुआ समाज ने अपने को क़ायम किया, यह वस्तुतः इस समाज के विगत और भविष्य की सैद्धांतिक व्याख्या का पहला मेधावी प्रयास है। मार्क्स का सिद्धांत मज़दूर वर्ग के मुक्ति-आंदोलन के युग की आत्म-चेतना है, यह उस बुर्जुआ समाज के अंतर्वर्ती विकास की मेधावी वैज्ञानिक समझ है, जो अपनी प्रगति के दौरान अपनी विलोम प्रणाली – समाजवादी समाज में क्रांतिकारी संक्रमण के लिए भौतिक तथा आत्मिक पूर्वावश्यकताओं का निर्माण करता है। इसका अर्थ यह है कि मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सैद्धांतिक और ऐतिहासिक रूप से हेगेल के द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद का सीधा, प्रत्यक्ष नैरंतर्य है।

रूसी क्रांतिकारी अलेक्सांद्र हर्ज़ेन के शब्दों में, "हेगेलीय दर्शन क्रांति का बीजगणित है, यह मनुष्य को असाधारण रूप से मुक्त करता है और ईसाई संसार को, उन मिथकों के संसार को पूरी तरह नष्ट कर देता है, ज़ो पहले से ही पुराने पड़ चुके हैं" (19,23) । स्वभावतः इसका यह अर्थ नहीं है कि हेगेल ने मानवजाति के इतिहास में क्रांतियों के महत्व का पूरा-पूरा मूल्यांकन किया है। वस्तुतः इसी समझ की तो उनमें कमी है। लेकिन, जैसा कि जैक द'होंत ठीक ही कहते हैं, हेगेल की विधि और एक व्यक्ति तथा विचारक के रूप में उनके स्वभाव का अत्यंत शक्तिशाली और उल्लेखनीय पहलू हर परिवर्तनशील, गतिशील, जीवित, अनित्य चीज़ में उनकी अथक, उत्कट दिलचस्पी है। वे पर्वत-शिखर, जो गेटे के लिए उस अप्राप्य शांति का प्रतीक हैं, जिसके लिए मनुष्य कामना करता है, हेगेल को उबा देते हैं। सर्वोपरि वह जीवित में, उस चीज़ में दिलचस्पी लेते हैं, जो आ चुकी है और जो गुज़रेगी ; यह निरंतर निर्मित हो रही है और हेगेल इस स्थिति

को अशांति कहते हैं (68,14-18)। शांति, गति का मंद होना मृत्यु के सूचक हैं और इनके बारे में वाद-विवादों में उन्हें स्पिनोज़ा की भांति ही कोई दिलचस्पी नहीं है। मृत को अपने मृतकों को दफ़नाने दें। हर कालसापेक्ष चीज़, विशेष रूप से हर जीवित चीज़ अनित्य है और इसी सीमितता से उसकी ऊर्जा पैदा होती है। जीवित की शक्ति विलोमों के सामंजस्य में है। सामान्य, नित्य, परंपरागत विगत के अंग हैं, जो वहीं तक दिलचस्पी का विषय हैं, जहां तक उनका वर्तमान से संबंध है। हेगेल असाधारण लोगों की प्रशंसा करते हैं, सर्वोपरि क्योंकि वे बंधी-बंधायी चीज़ों का विरोध करते हैं।

हेगेल इतिहास को प्रकृति के मुक़ाबले में रखते हैं: प्रकृति में मनोवेग नहीं होता, यह हमेशा अपनी पुनरावृत्ति करती है। लेकिन मनोवेग के बिना कोई भी महान कार्य संभव नहीं है, यह इतिहास का क्षेत्र है, जहां आविर्भाव और विनाश एक दूसरे से अविच्छेद्य हैं। यहां विकास निरंतर चलता है; निरंतर अनिवर्त्य परिवर्तन होता है, नये का आविर्भाव होता है, जो उससे भिन्न होता है जो इसके पहले अस्तित्व-मान था या जो अब भी अपने अस्तित्व को किसी तरह बनाये हुए है। यहां नया पुराने से संघर्ष करता है। विलोमों का संघर्ष ही नये को जन्म देता है। हेगेल के शब्दों में, "अत: कोई चीज़ केवल तभी जीवंत है, जब उसमें अंतर्विरोध निहित हो और वस्तुत: यही वह शक्ति है, जो इस अंतर्विरोध को धारण और सहन करने में समर्थ होती है" (64,*4*, 69)। यह कहना हास्यास्पद है कि अंतर्विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती; विकास की कल्पना करने का अर्थ अंतर्विरोध को समझना है।

स्पष्टत: ये विचार तथा उनसे संबद्ध संसार की अनुभूति हेगेल के सिद्धांत का केवल एक पहलू है। वह अंतिम महान अधिभूतवादी प्रणाली के निर्माता हैं। और यह प्रणाली अपनी बारी में विधि को अपने अधीन कर लेती है तथा इसे तोड़ती-मरोड़ती है। तरुण हेगेलवादियों ने हेगेल की द्वंद्वात्मक विधि, जो विकास की पूर्णता को अस्वीकार करती है, और उनकी उस प्रणाली के बीच अंतर्विरोध को पहले ही इंगित किया, जो बुर्जुआ क़ानून और व्यवस्था के ढांचे में मानवजाति की सामाजिक-राजनीतिक और बौद्धिक प्रगति की परम सीमाएं क़ायम करती है। तरुण हेगेलवादियों ने इस अंतर्विरोध के स्रोतों को दार्शनिक

22*

के व्यक्तित्व में, उनके सरकारी पद और नैष्ठिक पूर्वाग्रहों में खोजा। मार्क्स अपनी पहली दार्शनिक कृति – डाक्टर की डिग्री के लिए शोध-प्रबंध के प्रारूप – में ही अतुलनीय रूप से आगे जाते हैं। वह लिखते हैं: "यह बिल्कुल संभव है कि एक दार्शनिक इस या उस अनुकूलन के कारण इस या उस गोचर असंगत स्थिति में जा पड़े; शायद वह इसे जानता भी हो। लेकिन जिस चीज़ को वह नहीं जानता, वह यह संभावना है कि इस गोचर अनुकूलन की गहरी जड़ें स्वयं उसके सिद्धांत की अपर्याप्तता या अपर्याप्त निरूपण में होती हैं" (1,*1*,84)।

हेगेल के सिद्धांत की अपर्याप्तता यानी उनके द्वंद्ववाद के प्रत्ययवादी स्वरूप को मार्क्स ने १८४३ में लिखित अपनी कृति 'हेगेल के क़ानून के दर्शन की आलोचना' में प्रकट किया। इसमें मार्क्स दिखाते हैं कि प्रत्ययवाद द्वंद्ववाद को तोड़ता-मरोड़ता है, क्योंकि यह विलोमों के संबंध को केवल चिंतन में अस्तित्व रखनेवाले संबंध के रूप में देखता है, जो सत्तामीमांसीय ढंग से निरपेक्ष बनाये जाने के बावजूद चिंतन ही बना रहता है। अत: हेगेल के अनुसार अंतर्विरोध केवल शुद्ध चिंतन के क्षेत्र में अर्थात अनुध्यान की प्रक्रिया में ही हल किये जाते हैं। ये चिंतनीय अंतर्विरोध वास्तव में एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष नहीं करते; प्रत्येक दूसरे को अपनी अन्यसत्ता के रूप में देखता है।

डाक्टर की डिग्री के लिए अपने शोध-प्रबंध पर काम के वर्षों (१८३९–१८४१) के दौरान मार्क्स ने हेगेल के द्वंद्ववाद के दो परस्पर अपवर्जक पहलुओं पर ध्यान दिया। अब भी हेगेल के प्रत्ययवाद को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मार्क्स कहते हैं कि "द्वंद्ववाद आंतरिक सहज प्रकाश, प्रेम की मर्मभेदी दृष्टि, आंतरिक आत्मा, जो भौतिक दैहिक विभाजन से दमित नहीं होती, आत्मा का आंतरिक निवास-स्थान है"। लेकिन अगले ही वाक्य में वह ज़ोर देते हैं कि "द्वंद्ववाद वह तूफ़ानी धारा भी है, जो बहुत-सी चीज़ों और उनकी सीमाओं को नष्ट कर देती है, जो स्वतंत्र रूपों को उलट देती है, सभी चीज़ों को शाश्वतता के एक ही सागर में डुबो देती है" (1,*1*,498)। मार्क्स हेगेल के वस्तुत: इसी दूसरे, क्रांतिकारी पहलू को विकसित करते हैं। निरीश्वरवाद तथा परिकल्पनात्मक तत्व-निरूपण से शुरू करके वह यथार्थता की अखंड

द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी समझ पर, वैज्ञानिक कम्युनिज़्म और नये अर्थ-शास्त्र पर पहुंचते हैं।

स्वभावत: प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद से भौतिकवादी द्वंद्ववाद में संक्रमण को मार्क्स के समाजवादी और आर्थिक विचारों के विकास तथा शुरू में एक क्रांतिकारी जनवादी और फिर मज़दूर वर्ग के मौलिक हितों के सचेत प्रवक्ता, उसकी वैज्ञानिक विचारधारा के संस्थापक के रूप में उनके व्यावहारिक राजनीतिक कार्यों पर उचित ध्यान दिये बिना नहीं समझा जा सकता। स्वयं मार्क्स इसका उल्लेख इस चीज़ पर ज़ोर देते हुए करते हैं कि पहले, उनके सिद्धांत तथा मज़दूर आंदोलन के बीच अटूट संबंध है और दूसरे, अपनी बुद्धिसंगत व्याख्या में द्वंद्ववाद उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली को परम बनानेवाले बुर्जुआ विश्व-दृष्टिकोण से लेशमात्र मेल नहीं खाता। लेकिन निषेध – बेशक निरर्थक निषेधवादी निषेध नहीं, बल्कि द्वंद्वात्मक रूप से ठोस निषेध – द्वंद्ववाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। मार्क्स इसे ऐसे ही समझते हैं और इसीलिए हेगेल के द्वंद्ववाद के उनके विश्लेषण में निषेध की परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी व्याख्या की आलोचना एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में सम्मिलित है। निषेध की परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी व्याख्या लगभग हमेशा ही पुराने से नये के पुनर्मेल की ओर ले जाती है क्योंकि परिकल्पनात्मक निषेध अपना ही निषेध करता है और इसलिए भी कि पुराना नये से प्रतिरोध के कारण, हेगेल के अनुसार, अब बिल्कुल पुराना नहीं है।

हेगेल के द्वंद्ववाद की सीमितता, अपर्याप्तता और असंगतता पर ज़ोर देते हुए हमें आम तौर से ज्ञात लेकिन मार्क्सवाद के विरोधियों द्वारा अस्वीकृत इस सत्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि मार्क्सवादी द्वंद्ववाद हेगेल के द्वंद्ववाद का वैसे ही विरोधी है, जैसे कि समग्र रूप में मार्क्सवाद हेगेल के बुर्जुआ सिद्धांत का विरोधी है। हेगेल के द्वंद्ववाद का क्रांतिकारी पहलू, उनकी विधि का बुद्धिसंगत तत्व, सत्य की निष्ठा, ऐतिहासिकता, मानव-जीवन के बुद्धिसंगत रूपांतरण की संभावना और वस्तुगत आवश्यकता में गहन विश्वास – ये सब हेगेल के दर्शन को आधुनिक महत्व प्रदान करते हैं।

अनेक विद्वान इस तथ्य को नज़रअंदाज़ करते हैं कि हेगेल न केवल

प्रबोधन के विचारों की गहन आलोचना करते हैं, बल्कि उसकी सर्वोत्तम परंपराओं का समर्थन भी करते हैं: वह प्रबोधन नहीं, जिसका चित्रण अक्सर डाक्टर पानग्लोस के आत्म-संतुष्ट आशावाद के रूप में किया जाता है, बल्कि वह प्रबोधन, जिसने उनके छद्मदर्शन को निर्ममतापूर्वक हास्यास्पद बनाया, जिसने फ़्रैंकेन्स्टीन की सुप्रसिद्ध कहानी में विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी में स्वत:स्फूर्त विकासों से उत्पन्न होनेवाले आधुनिक टकरावों की पूर्वकल्पना की, वह प्रबोधन, जिसने रूसो के सिद्धांत में विरोधी सामाजिक संबंधों द्वारा उत्पन्न प्रगति के अंतर्विरोधों को मेधावी ढंग से प्रकट किया।

हेगेल इस अतिसरलीकृत विचार से दूर थे कि सत्य का प्रकाश अपनी शक्ति से भ्रम के अंधकार को दूर करता है, कि अपने अंतर्वर्ती महत्व के कारण अच्छाई बुराई पर विजयी होती है। लेकिन वह प्रगति के विचार को छोड़ने या इसे इस कारण से मानव-अस्तित्व के लिए ख़तरनाक मानने से और भी दूर थे कि प्रगति का सीधा मार्ग नहीं है, बल्कि वह संघर्ष तथा कष्ट के ज़रिये प्राप्त होती है। सामाजिक प्रगति की कठिनाइयों और अंतर्विरोधों के प्रति पूर्णत: सचेत होते हुए भी हेगेल उन समकालीनों के विचारों से स्वतंत्र थे, जिनकी राय में कोई भी सामाजिक रूपांतरण मानव-अस्तित्व के अनिवार्य असामंजस्य पर क़ाबू पाने में समर्थ नहीं है। जर्मन दार्शनिक की मेधा इस चीज़ में अत्यधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई कि वह "दु:खी चेतना" प्रवर्ग की उत्पत्ति और विकास को दास बनाये गये आदमी की स्थिति से जोड़ते हैं, जो आंतरिक रूप से स्वतंत्र तथा रचनात्मक कार्य में समर्थ व्यक्ति के रूप में अपने प्रति सचेत है। इस दासीकरण की काफ़ी व्यापक व्याख्या की जानी चाहिए, क्योंकि हेगेल के अनुसार, यह जीवन की उस परिस्थिति का चित्रण करता है, जिसमें मनुष्य स्वतंत्रता-रहित जीवन और मृत्यु के बीच चुनाव करता है: कोई तीसरा विकल्प संभव नहीं है।

हेगेल ने अपरिवर्तनीय सत्य की अधिभूतवादी धारणा को नष्ट कर दिया, उन्होंने पहली बार दिखाया कि सत्य सापेक्ष है, कि यह संज्ञान के विकास की प्रक्रिया है। लेकिन स्वभावत: उन्होंने व्यावहारिकता-वादियों, नव-प्रत्यक्षवादियों तथा अन्य बुर्जुआ दार्शनिकों की भांति यह दावा करने की बात नहीं सोची कि सत्य उपयोगिता है या कि यह

वैज्ञानिकों के बीच समझौता है। हेगेल के शब्दों सें, "सत्य एक महान शब्द तथा और भी अधिक महान ध्येय है। अगर मनुष्य की भावना और आत्मा अब भी स्वस्थ है, तो इस शब्द को सुनकर उसका सीना फूल जाना चाहिए" (64,*6*,29)।

एंगेल्स के अनुसार, हेगेल के सुप्रसिद्ध सूत्र "हर वास्तविक चीज़ बुद्धिसंगत है और हर बुद्धिसंगत चीज़ वास्तविक है" ने जितनी विविधतापूर्ण व्याख्याएं प्रेरित कीं उतनी उनकी और किसी प्रस्थापना ने नहीं की। अदूरदर्शी उदारतावादियों और सामंतवाद के समर्थकों ने इस सूत्र में सामंती व्यवस्था का औचित्य पाया। हेनरिख़ हाइने पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस प्रस्थापना के क्रांतिकारी महत्व को समझा। १७वीं – १८वीं सदियों के प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग के अत्यधिक महत्वपूर्ण विचार, जिन्हें बेकन और देकार्त ने लगभग एकसाथ घोषित किया, प्रकृति की शक्तियों को अधीन करने और समाज के जीवन को बुद्धिसंगत ढंग से संगठित करने के बारे में विचार थे। हेगेल का सूत्र इन विचारों का उच्चतम सार है।

यथार्थता की बुद्धिसंगतता के बारे में विचार, उसमें हेगेल द्वारा स्पष्टतः प्रत्ययवादी विचार प्रतिष्ठापित किये जाने के बावजूद, गहन और भौतिकवादी अंतर्वस्तु से भी भरा है। नव-युग के विज्ञान ने प्राकृतिक नियमों की विविधता की खोज की और वह सामाजिक जीवन के नियमों की समझ के निकट आ गया। भोले-भाले उद्देश्यवादी विचारों का स्थान परिघटनाओं के आवश्यक संबंध के बारे में सिद्धांत ने ले लिया। कांट के विचार में, यह इतना स्पष्ट था कि उन्होंने इसे प्रागनुभविक घोषित किया। इन वैज्ञानिक धारणाओं ने हेगेल के सर्वबुद्धिवाद में, ख़ास तौर से "बुद्धिसंगत वास्तविकता" के बारे में स्थापना में अपनी दार्शनिक, भले ही प्रत्ययवादी अभिव्यक्ति पायी। हेगेल ने हर अस्तित्वमान चीज़ को वास्तविक नहीं कहा। अपने विकसित रूप में अस्तित्वमान आवश्यक ह। अपनी आवश्यकता खो चुकनेवाला अस्तित्वमान अपना औचित्य खो देता है: इसे अपना स्थान नये, प्रगतिशील के लिए खाली करना चाहिए।

हेगेल के इस सूत्र के दूसरे भाग "हर बुद्धिसंगत चीज़ वास्तविक है" के विश्लेषण से ऐसा ही गहन भौतिकवादी निष्कर्ष निकाला जा

सकता है। बेशक हेगेल ने हर कल्पनीय और शब्दों तथा वाक्यों में अभिव्यंजनीय चीज़ को बुद्धिसंगत नहीं कहा। मध्यकालीन पांडित्यवाद के संबंध में, जिसे आज भी कुछ बुर्जुआ दार्शनिक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक चिंतन के एक आदर्श के रूप में मानने के लिए तैयार हैं, हेगेल ने कहा कि यह "वास्तविक अंतर्वस्तु से रहित सहजबुद्धि का बर्बर दर्शन है" (64,*15*,198)। बुद्धिसंगत को प्रामाणिक होना चाहिए, यह अपने को एक ऐसी द्वंद्वात्मक धारणा के रूप में प्रामाणिक रूप से व्यक्त करता है, जो सार्विक, विशिष्ट, वैयक्तिक की एकता को प्रकट करती है। बुद्धिसंगत वहीं तक वास्तविक है, जहां तक उसकी अंतर्वस्तु वस्तुगत है, आवश्यक है। बुद्धिसंगत की यह समझ उस आत्मगतवादी अमूर्त आवश्यकता से मूलतः भिन्न है, जिस पर कांट और फ़िख़्ते रुके। हेगेल के ये पूर्ववर्ती प्रतिभाशाली चिंतक थे और उनकी इस बात के लिए निंदा नहीं की जा सकती कि कुछ दार्शनिक आज भी यह दावा करते हैं कि दुनिया में आदर्शों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उनके विचार में, आदर्शों का ऐसा अलौकिक स्वरूप ही है: उन्हें प्राप्त करने के सारे प्रयासों के विनाशकारी परिणाम ही होते हैं, क्योंकि संसार मूलतः बेहतर नहीं, बल्कि अफ़सोस कि बदतर ही हो सकता है। हेगेल का विचार अधिक संयत और उदात्त था: "अगर कोई विचार अस्तित्व के लिए बहुत ही अच्छा है, तो वह स्वयं कल्पना का दोष है" (64, *14*,274)।

मार्क्स और एंगेल्स अमूर्त आवश्यकता का विरोध करते हुए तथा आदर्श को यथार्थता के मुक़ाबले में रखते हुए हेगेल के विचार को विकसित करते तथा गहन बनाते हैं। यह आत्म-विकासमान यथार्थता आदर्शों को पैदा करती है और अपने बाद के विकास में उनका अतिक्रमण करती है। हेगेल के विपरीत, मार्क्सवाद के संस्थापक इस चीज़ को भलीभांति जानते हैं कि यूटोपिया अपने को यथार्थता से पृथक् रखनेवाली और कल्पनाविलासी बुद्धि द्वारा नहीं पैदा किये जाते, बल्कि वे ऐतिहासिक यथार्थ का निश्चित (निश्चित सामाजिक स्थिति से किये गये) प्रतिबिंबन हैं। इसीलिए वे प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी यूटोपिया के बीच भेद करते हैं और दिखाते हैं कि प्रगतिशील यूटोपिया सामाजिक विकास की वास्तविक प्रवृत्तियों को अवैज्ञानिक ढंग से प्रतिबिंबित करता

है, जब कि प्रतिक्रियावादी यूटोपिया विगत को आदर्श स्वरूप प्रदान करता है और इसे पुनः पाये जानेवाले खोये स्वर्ग के रूप में पेश करता है। कल्पनावाद के सभी रूपों की ठोस आलोचना करते हुए मार्क्स हेगेल की भांति सिद्ध करते हैं कि स्वयं यथार्थता से उत्पन्न होनेवाला बुद्धिसंगत आदर्श मात्र सामाजिक विकास की वास्तविक, ऐतिहासिक रूप से निश्चित प्रवृत्ति की आत्मिक अभिव्यक्ति है। अगर यह अप्राप्य प्रतीत होता है तो केवल इस वजह से कि इसके द्वारा व्यक्त प्रवृत्तियां अभी भ्रूणावस्था में हैं। मार्क्स के शब्दों में, "इस प्रकार, मानवजाति अपने लिए अवश्यंभावी रूप से केवल ऐसे ही कर्तव्य निर्धारित करती है, जिन्हें पूरा करने में वह समर्थ हो, क्योंकि निकट से जांच करने पर हमेशा पता चलेगा कि कोई भी समस्या स्वयं तभी खड़ी होती है, जब उसके समाधान की भौतिक परिस्थितियां पहले से या तो मौजूद हों, या कम से कम निर्माण के क्रम में हों" (6,21)। इस प्रकार, हेगेल की स्थापना "हर वास्तविक चीज़ बुद्धिसंगत है और हर बुद्धिसंगत चीज़ वास्तविक है", जो पहली दृष्टि में सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया की विकृति है, वास्तव में उसकी अवश्यंभावी प्रगति में मेधावी अंतर्दृष्टि है।

लेकिन आधुनिक बुर्जुआ सिद्धांतकार प्रगति के विचार को प्रबोधन-युग के दिवालिया हो चुके एक भ्रम के रूप में देखते हैं। वे दावा करते हैं कि अगर प्रगति का अस्तित्व है, तो यह केवल अत्यंत एकांगी, सीमित और विकृत रूप में ही है। जहां तक इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति का संबंध है, वे इसे अधिकांशतः प्रतिगामी प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं। प० न० फ़ेदोसेयेव उल्लेख करते हैं: "अधिकांश आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिकों का सामाजिक निराशावाद ऐतिहासिक रूप से कालातीत पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के ख़िलाफ़ किसी भी प्रतिवाद की अप्रत्यक्ष निंदा है। यह अत्यंत सूक्ष्म रूप में अनुरूपतावाद की सफ़ाई है, जो पूंजीवाद की छद्म आलोचना तथा पूंजीवाद-विरोधी लफ़्फ़ाज़ी का व्यापक रूप से उपयोग करते हुए अननुरूपतावाद के रूप में प्रकट होता है, जो वास्तव में आधुनिक, मानो मौलिक रूप से परिवर्तित पूंजीवाद को निर्दोष सिद्ध करता है" (33,11)।

हाल में, बुद्धिसंगत ऐतिहासिक आशावाद का मज़ाक़ उड़ाना

अनेक बुर्जुआ दार्शनिकों का एक फ़ैशन हो गया है। हेगेल ने फ़ैशन के ख़िलाफ़ लड़ाई को बचकानापन माना था, लेकिन इससे उनका आशय दार्शनिक फ़ैशन से नहीं था, क्योंकि दर्शन मानवजाति के लिए बहुत गंभीर और महत्वपूर्ण बौद्धिक कार्य है। दार्शनिक फ़ैशन से मुग्ध कुछ दार्शनिक हेगेल और मार्क्स के ऐतिहासिक आशावाद को कठोर यथार्थता के समक्ष भय के रूप में देखते हैं, जो किसी को मुक्ति की कोई आशा नहीं देती। लेकिन आधुनिक सामाजिक निराशावाद एकांत चट्टान की ऊंचाई से जीवन की तूफ़ानी धारा के शांत मनन का उपदेश देनेवाले जार्ज सांट्याना की भावना में केवल पलायन नहीं है। न ही यह शोपेनहार की विरासत का सफलतापूर्वक उपयोग करनेवाली दार्शनिक सनक है। यह निराशावाद, जो बुर्जुआ समाज में आत्म-अन्यसंक्रामण को बौद्धिक ढंग से व्यक्त करता है, उत्पादन के कालातीत पूंजीवादी संबंधों के ख़िलाफ़ संघर्ष की भर्त्सना करता है। दूसरे शब्दों में, यह अनुरूपतावाद की सूक्ष्म सफ़ाई है, जो अननुरूपतावाद के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि यह बौद्धिक स्वतंत्रता का नक़ाब पहन लेता है तथा अधिकांश बुर्जुआ सिद्धांतकारों के मीठे सुधारवादी उपदेशों का विरोध करता है। लेकिन आसमान की ऊंचाई से ज़मीन का इस तरह का मानव-द्वेषी अवलोकन सामाजिक निराशावाद को लेशमात्र भी उचित नहीं ठहराता। हेगेल ने ठीक ही कहा कि हर चीज़ में केवल निरर्थकता और निस्सारता देख लेना अहम्मन्यता है: "हो सकता है कि चरम बुद्धिमत्ता के रूप में सब कुछ व्यर्थ मानना सचमुच कोई गहरी बात हो, लेकिन यह खोखलेपन की गहराई है" (64,*14*,64)। इन्हीं स्थितियों से हेगेल ने फ़्रांसीसी क्रांति के उत्साह का स्वागत किया। इस क्रांति (जिसे अभिजातवर्गीय प्रतिक्रिया के सिद्धांतकारों ने मनुष्य के पापों की दैवी सज़ा के रूप में देखा) के उनके मूल्यांकन में सबसे महत्वपूर्ण पहलू उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता, उसके जन-स्वरूप, सामाजिक-ऐतिहासिक विकास के लिए उसके बड़े महत्व की समझ है। हेगेल ने १८१६ में लिखा: "मेरा विश्वास है कि हमारे समय की विश्व-आत्मा ने आगे बढ़ने का आदेश दिया। ऐसा आदेश प्रतिरोध का सामना करता है; यह सत्ता बख़्तरबंद, एकजुट टुकड़ी की भांति अजेय और मुश्किल से ही दृष्टिगोचर ढंग से सभी अवरोधों को पार करते हुए

वैसे ही आगे बढ़ती जाती है, जैसे कि सूर्य आगे बढ़ता है" (62,*2*, 85-86)। ये शब्द मौलिक सामाजिक रूपांतरणों की वस्तुगत नियमितता की स्वीकृति हैं और इसकी परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी व्याख्या की निराधारिता को प्रकट करते हैं। जो भी हो, अपने समय की महानतम ऐतिहासिक घटना के प्रति हेगेल के दृष्टिकोण ने सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया की वस्तुगत नियमितता की समझ का मार्ग प्रशस्त किया। हेगेल का द्वंद्ववाद इसी दिशा में ले गया और यह ऐसा करने में इसलिए समर्थ था कि यह इस क्रांति की ऐतिहासिक शक्ति की बौद्धिक अभिव्यक्ति था।

द्वंद्ववाद ऐतिहासिक घटनाओं को उनके परस्पर संबंध में, उनकी अंतर्वर्ती, अंतर्विरोधी गति और विकास में देखने की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः द्वंद्वात्मक प्रक्रिया की स्वतःस्फूर्तता का विचार ही, यहां तक कि इसकी परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी व्याख्या में भी (अर्थात चिंतन की प्रक्रिया के रूप में), इस प्रक्रिया की वस्तुगतता की समझ के निकट आने का अर्थ रखता था, क्योंकि विचारक केवल एक धारणा को दूसरी धारणा में बदलता ही नहीं, बल्कि वह स्वयं अपना विलोम बन जाती है, वह विभाजित होती और दूसरी धारणा में बदलती है। इस संबंध में लेनिन ने हेगेल के इतिहास के दर्शन में ऐतिहासिक भौतिकवाद के अंकुरों की चर्चा की। बेशक, ये अंकुर उस परिकल्पनात्मक-प्रत्ययवादी प्रणाली के ढांचे में अपना विकास नहीं पा सकते थे, जिसने विभिन्न लोगों, सामाजिक समूहों और वर्गों के कार्य को परम आत्मा, विश्व-बुद्धि द्वारा अपना विश्व-ऐतिहासिक उद्देश्य प्राप्त करने के एक साधन के रूप में देखा। जैसा कि विल्हेल्म विन्देल्बांद ने ठीक ही कहा, हेगेल की परम आत्मा वास्तव में मानव आत्मा है। परंतु मानवजाति के ऐतिहासिक कार्य की प्रत्ययवादी विकृति ने अनिवार्यतः विश्व-इतिहास को पूर्वनिर्धारित उद्देश्यवादी प्रक्रिया अर्थात इतिहास के उद्देश्यवाद में बदल दिया।

इतिहास की भौतिकवादी समझ की खोज समाजवैज्ञानिक चिंतन के इतिहास में सच्ची क्रांति है। मार्क्स और एंगेल्स ने केवल यही नहीं सिद्ध किया कि भौतिक उत्पादन सामाजिक जीवन की वस्तुगत और आवश्यक शर्त है। यह तो पहले ही विदित हो चुका था। इस प्रमाण

का भी कि भौतिक उत्पादन न केवल बाह्य प्रकृति, बल्कि मानव-प्रकृति को भी बदल देता है, कुछ सीमा तक श्रम की हेगेलीय समझ में पूर्वानुमान किया गया है। इसे मार्क्स '१८४४ की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियों' में इंगित करते हैं। वह मुख्य चीज़, जिसे मार्क्स ने सिद्ध किया और जो उनकी बाद की सभी खोजों का स्रोत है, यह है कि स्वयं मानवजाति अपने विकास को निर्धारित करनेवाली वस्तुगत परिस्थितियों का निर्माण करती है। न भौगोलिक परिस्थितियां, न जलवायु, न ही अन्य प्राकृतिक कारक सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया की निर्धारक शक्ति हो सकते हैं। यह शक्ति अंतिम विश्लेषण में उत्पादक शक्तियां ही हो सकती हैं।

उत्पादक शक्तियों का विकास अनुक्रम की वस्तुगत प्रक्रिया है, जो विचारों के इतिहास में अनुक्रम से मूलतः भिन्न है; पहले में चुनाव की कोई स्वतंत्रता नहीं है: लोग अपनी उत्पादक शक्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक नहीं चुन सकते। लेकिन वस्तुतः लोग न कि "परम आत्मा" उत्पादक शक्तियों को निर्मित और विकसित करते हैं और इस आधार पर जो ऐतिहासिक आवश्यकता बनती है, वह जीवंत और मूर्त मानव-कार्य की एकता है। उत्पादक शक्तियों की प्रगति और अतः व्यक्ति की शक्तियों का विकास मूर्त और जीवंत मानव-श्रम के सहसंबंध को आवश्यक रूप से जीवंत श्रम के पक्ष में बदल देते हैं। लोग उतना ही अपनी जीवन की परिस्थितियों को निर्धारित करते हैं, जितना कि वे उन्हें निर्मित करते हैं। इस तरह, उत्पादक शक्तियों की निर्णायक भूमिका की स्वीकृति इस भाग्यवादी निष्कर्ष पर नहीं ले जाती कि सामाजिक विकास पूर्व-निर्धारित है। सामाजिक-आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया में उत्पादन के समस्त पूर्ववर्ती विकास का महत्व उसकी वर्तमान अवस्था के लिए बढ़ता नहीं, बल्कि घटता है। समाज के विकास में भौतिक उत्पादन की भूमिका, प्रमुख उत्पादक शक्ति के रूप में मेहनतकश लोगों के बारे में अपने सिद्धांत द्वारा मार्क्स ने इतिहास की उस भाग्यवादी धारणा पर क़ाबू पा लिया, जिसके बंधन में हेगेल बंधे हुए थे तथा इस आत्मगत-वादी विचार का पूर्णतः खंडन किया कि इतिहास मनुष्य के संकल्प का परिणाम है।

आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक तथा समाजविज्ञानी अक्सर समाज के

बारे में मार्क्स के सिद्धांतों की व्याख्या ऐतिहासिक प्रक्रिया की टेक्नोलॉजिकल धारणा के रूप में करते हैं। उनका यह सतही दृष्टिकोण मार्क्स के विभिन्न वक्तव्यों की, जिन्हें उनकी समष्टि से मनमाने ढंग से पृथक् करके ले लिया जाता है, एकांगी व्याख्या पर आधारित है। इसके अलावा, इस तथ्य की भी उपेक्षा की जाती है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उत्पादक शक्तियां और टेक्नोलॉजी एक ही चीज़ कदापि नहीं हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्पादक शक्ति अपनी ऐतिहासिक रूप से विकसित योग्यताओं के साथ स्वयं मनुष्य है, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में भिन्न होती हैं और इस तरह इस निर्विवाद तथ्य पर पर्दा डालती हैं कि समग्र रूप में वे सामाजिक विकास की उपज हैं, जिसकी वजह से इन योग्यताओं के विकास की समग्रता और सीमा मानव-चेतना और इच्छा से स्वतंत्र होती हैं, हालांकि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपनी योग्यताओं को विकसित करता और पूर्ण बनाता है यानी वह इस कार्य को दूसरों को नहीं सौंप सकता।

मार्क्स के लिए टेक्नोलॉजी उत्पादन के **साधनों** का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग और बेशक उत्पादक शक्तियों के विकास की उपलब्ध सीमा का एक सूचक (और एकमात्र कदापि नहीं) है। अन्य सूचक हैं श्रम का सामाजिक संगठन, उत्पादन प्रबंध का स्वरूप, विज्ञान के टेक्नोलॉजिकल प्रयोग की सीमा, आदि। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से, चूंकि टेक्नोलॉजी उत्पादन का एक साधन है (और इस चीज़ पर भी ज़ोर देना बहुत महत्वपूर्ण है कि यह संज्ञान का साधन, सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन, डाक्टरी उपचार का साधन और अफ़सोस कि विनाश का साधन भी है), इसलिए स्वभावतः इसका उन उद्देश्यों से द्वंद्वात्मक संबंध है, जो इसकी सहायता से प्राप्त किये जाते हैं। यह केवल इस चीज़ से ही स्पष्ट नहीं है कि बहुत से उद्देश्य केवल टेक्नोलॉजिकल साधनों के ज़रिये ही संभाव्य, प्राप्य बनते हैं, बल्कि इस चीज़ से भी कि वास्तव में वे टेक्नोलॉजिकल विकास की वजह से ही आविर्भूत होते हैं। इसके अलावा, मार्क्सवाद वैज्ञानिक तथा टेक्नोलॉजिकल प्रगति के महत्व पर स्पष्ट रूप से ज़ोर देते हुए इसके संभव और वास्तविक नकारात्मक परिणामों की ओर से भी आंखें नहीं मूंदता। लेकिन चूंकि ऐतिहासिक भौतिकवाद का इतिहास की उस टेक्नोलॉजिकल धारणा

से कोई संबंध नहीं है, जिसके अनुसार वस्तुत: टेक्नोलॉजी ही सर्वनिर्धारक शक्ति है, इसलिए यह टेक्नोलॉजिकल विकास के नकारात्मक परिणामों को स्वयं टेक्नोलॉजी के मत्थे थोपने के लोभ से बिल्कुल मुक्त है। मार्क्स ने माना कि ये नकारात्मक परिणाम अनिवार्यत: इस तथ्य से उत्पन्न होते हैं कि उत्पादन और टेक्नोलॉजी का प्रयोग मूल्य के नियम द्वारा अर्थात उसके उत्पादन तथा प्रयोग के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक न्यूनतम श्रम-काल द्वारा निर्धारित होते हैं। इस संबंध में मार्क्स ने टेक्नोलॉजी (और श्रम-शक्ति) के पूंजीवादी प्रयोग के उन भयानक परिणामों की चर्चा की, जिन्हें मार्क्सवाद के विरोधियों ने केवल पिछले २५ सालों में "खोजा" है।

यह विरोधाभासपूर्ण है कि आधुनिक बुर्जुआ दार्शनिक और समाज-वैज्ञानिक इतिहास की टेक्नोलॉजिकल व्याख्या को मार्क्स पर आरोपित करते हुए और उन्हें "टेक्नोलॉजी के देव" के वशीभूत "टेक्नोलॉजी के दार्शनिक" के रूप में चित्रित करते हुए वास्तव में स्वयं इतिहास के टेक्नोलॉजिकल दर्शन के वशीभूत हैं, हालांकि वे इसके बारे में नकारात्मक विचार रखते हैं यानी वे "टेक्नोफ़ोबिया" से आक्रांत हैं। वे मानवजाति पर हावी "टेक्नोलॉजी के शैतान" के बारे में, इस चीज़ के बारे में बहस करते हैं कि मानवजाति के पास एकमात्र विकल्प यह है: टेक्नोलॉजी के शैतान को पराजित करना या उसके द्वारा नष्ट हो जाना। सभी प्रत्ययवादी-अतर्कबुद्धिवादी बहसें केवल "टेक्नोफ़ोबिया" को ही नहीं, बल्कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी के स्वत:स्फूर्त विकास, अन्यसंक्रामित सामाजिक संबंधों और व्यक्तित्व के अन्यसंक्रामण द्वारा उत्पन्न अंतर्विरोधों तथा कठिनाइयों के प्रति चेतना को भी, चाहे रहस्यमयरूप में ही सही, प्रकट करती हैं। सोवियत दार्शनिक अ० ग० येगोरोव के शब्दों में, "बुर्जुआ अतर्कबुद्धिवादी दार्शनिक मानव-प्रकृति की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए अपने निराशावाद तथा रहस्यवाद को पेश करने से बाज़ नहीं आते। स्पष्टत: यह सही नहीं है। हमें अतर्कबुद्धिवाद की जड़ों की खोज मानव-मन में नहीं, प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ विचार में भी नहीं, बल्कि अंतिम विश्लेषण में पूंजीवाद के सामान्य संकट में करनी चाहिए, जो बुर्जुआ विचारधारा और बुर्जुआ संस्कृति दोनों ही में व्यक्त होता है" (20,399)।

आधुनिक बुर्जुआ सिद्धांतकार अक्सर मार्क्स की इस बात के लिए निंदा करते हैं कि उन्होंने वैज्ञानिक तथा टेक्नोलॉजिकल प्रगति के अंतर्विरोधों की उपेक्षा की। लेकिन वस्तुतः मार्क्स ने १९वीं सदी के मध्य में ही उन अंतर्विरोधों को मेधावी ढंग से प्रकट किया और सिद्ध किया कि उन्हें केवल सामाजिक संबंधों के कम्युनिस्ट रूपांतरण द्वारा ही हल किया जा सकता है। मार्क्स ने केवल **भाग्यवाद** और **आत्मगतवाद** पर ही नहीं, बल्कि इतिहास की प्रकृतिवादी व्याख्या पर भी क़ाबू पाया, जिससे पूर्व-मार्क्सवाद के असाधारण भौतिकवादी भी आगे नहीं बढ़ सकते थे। '१८४४ की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियां' में मार्क्स ने इतिहास की अपनी समझ को "पूर्ण प्रकृतिवाद" कहा, जिससे उनका आशय केवल यह था कि सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियां अलौकिक नहीं, प्राकृतिक हैं। इसीलिए मार्क्स ने कहा कि उनका "पूर्ण प्रकृतिवाद" मानवतावाद है: इतिहास का निर्माण करनेवाली शक्तियां मानव शक्तियां हैं, हालांकि वे प्रत्येक विचाराधीन पीढ़ी की शक्तियां ही नहीं हैं। न प्रकृति, न ही मानवजाति सर्वशक्तिमान हैं। कोई भी चीज़ सर्वशक्तिमान नहीं है। लेकिन संभाव्य रूप से सर्वशक्तिमान प्रकृति की भांति ही संभाव्य रूप से सर्वशक्तिमान मानवजाति है और इन संभाव्य अपरिमितताओं को कभी भी पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। अपरिमित का मार्ग अपने किसी भी भाग में अपरिमित बना रहता है। इसका अर्थ यह है कि हमारे समक्ष तथा हमारे दूरवर्ती वंशजों के समक्ष भी रचनात्मक कार्य की असीम संभावना है।

मार्क्सवादी विश्व-दृष्टिकोण आशावाद से ओत-प्रोत है, यह अपनी सारी जटिलताओं और अंतर्विरोधों में मानव-इतिहास की गहन समझ है। लेनिन ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को "ऐतिहासिक आशावाद" कहा। कम्युनिस्ट आंदोलन की वस्तुगत परिस्थितियों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि मार्क्सवादी "सामाजिक विकास की वर्तमान प्रक्रिया में विश्वास करता है, क्योंकि वह इन अंतर्विरोधों के पूर्ण विकास में ही बेहतर भविष्य के पूर्वसंकेत को देखता है" (10,*2*,525)।

मार्क्सवाद का ऐतिहासिक आशावाद विकास के द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत से अटूट रूप से जुड़ा है। मार्क्सवादी दर्शन वस्तुगत यथार्थता को सचेत और उद्देश्यपूर्ण मानव-कार्य के एक असीम क्षेत्र के रूप

में देखता है। कोई भी अज्ञेय "वस्तु-निजरूप" नहीं है, विज्ञान तथा व्यवहार का संपूर्ण इतिहास यह सिद्ध करता है कि "वस्तु-निजरूप" "वस्तु हमारे निमित्त" में बदल जाते हैं, वैसे ही जैसे कि "निजरूप" आवश्यकता "हमारे निमित्त" आवश्यकता में यानी स्वतंत्रता में बदल जाती है। बेशक, अज्ञात, अनन्वेषित, अपूर्ण, आगामी हमेशा ज्ञात, अन्वेषित, पूर्ण से अधिक होगा। सामाजिक प्रगति की असीमित संभावनाओं का यही अर्थ है और वैज्ञानिक-दार्शनिक मार्क्सवादी विश्व-दृष्टिकोण उन्हें प्राप्त करने में सहायक है।

परिशिष्ट

ग्रंथ-सूची

1. Karl Marx, Frederick Engels, *Collected Works*, Progress Publishers, Moscow
2. Karl Marx, Frederick Engels, *Selected Correspondence*, Progress Publishers, Moscow, 1975
3. Karl Marx and Frederick Engels, *Selected Works* in three volumes, Progress Publishers, Moscow, 1977
4. Karl Marx, Friedrich Engels, *Werke*, Dietz Verlag, Berlin
5. Karl Marx, *Capital*, Vol. 1, Progress Publishers, Moscow, 1974
6. Karl Marx, *A Contribution to the Critique of Political Economy*, Progress Publishers, Moscow, 1977
7. Karl Marx, *Grundrisse der Kritik der politischen Ökonomie (Rohentwurf) 1857—1858*, Verlag für fremdsprachige Literatur, Moskau, 1939
8. Frederick Engels, *Anti-Dühring*, Progress Publishers, Moscow, 1975
9. Frederick Engels, *Dialectics of Nature*, Progress Publishers, Moscow, 1974
10. V. I. Lenin, *Collected Works*, Progress Publishers, Moscow
11. *Documents and Resolutions. XXVth Congress of the CPSU*, Novosti Press Agency Publishing House, Moscow, 1976
12. Арзаканян Ц. Г., "К вопросу о становлении истории философии как науки" в: *Вопросы философии*, 1962, № 6
13. Асмус В. Ф., *Избранные философские труды*, т. 2 изд. МГУ, М., 1971
14. Асмус В. Ф., Примечания к работе И. Канта "Об изначально злом в человеческой природе" в: Кант И., *Сочинения* в 6 томах, т. 4 (2), "Мысль", М., 1965
15. Богданов Б. В., *Ленинские принципы анализа истории философии*, "Наука", М., 1970
16. Богомолов А. С., *Буржуазная философия США XX века*, "Мысль", М., 1962
17. Быховский Б. Э., "Французский экзистенциализм" в: *Современная буржуазная философия* под ред. Богомолова А. С., Политиздат, М., 1962
18. Васильев И., Науменко Л., "Три века бессмертия" в: *Коммунист*, 1977 г., № 5
19. Герцен А. И., *Собрание сочинений* в 30 томах, т. 9 изд. АН СССР, М., 1956
20. Егоров А. Г., *Проблемы эстетики*, "Советское искусство", М., 1977
21. Ильенков Э. В., *Диалектическая логика. Очерки истории и теории*, Политиздат, М., 1974
22. Ильичев Л. Ф., *Философия и научный прогресс*, "Наука", М., 1977

23. Кедров Е. М., *Единство диалектики, логики и теории познания*, Политиздат, М., 1963
24. Киссель М. А., *Учение о диалектике в буржуазной философии XX века*, изд. ЛГУ., 1970
25. Колмогоров А. Н., "Математика" в: *Большая советская энциклопедия, т. 38*
26. Константинов Ф. В. "Марксизм и наше время" в: *Философия и современность*, "Наука", М., 1971
27. Лазарев В. В., *Шеллинг*, "Мысль" М., 1976
29. Мельвиль Ю. К., *Чарльз Пирс и прагматизм*, изд. МГУ, М., 1968
30. Митин М. Б. *Проблемы современной идеологической борьбы*, "Наука", М., 1976
31. Ойзерман Т. И., "Постулаты иррационалистической философии истории" в: *Философия и современность*
32. Федосеев П. Н., *Коммунизм и философия*, "Наука", М., 1971
33. Федосеев П. Н., "Советские ученые на XIV международном философском конгрессе" в: *Философия и современность*
34. Шестов Л., *Умозрение и откровение*, Париж, 1964
36. Bachelard G., *Le nouvel esprit scientifique*, Presses universitaires de France, Paris, 1963
37. Berkeley G., "A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge" in: *The Works of George Berkeley*, Vol 2, Thomas Nelson and Sons Ltd., London, 1949
38. *Brief von und an Hegel*, Bd. 2. Felix Meiner Verlag, Hamburg, 1969
39. Broglie L. de, *Sur le sentiers de la science*, Editions Albin Michel, Paris, 1960
40. Brunner F., "Histoire de la philosophie" in: *Études sur l'histoire de la philosophie*, Librairie Fischbacher, Paris, 1964
41. Buhr M., *Revolution und Philosophie. Die ursprüngliche Philosophie Johann Gottlieb Fichtes und die Französische Revolution*, VEB Deutscher Verlag der Wissenschaften, Berlin, 1965
42. Buhr M., *Vernunft — Mensch — Geschichte*, Akademie-Verlag, Berlin, 1977
43. *Bulletin de la Société francaise de Philosophie*, Librairie Armand Colin, Paris, Janvier-Mars 1973
44. Condillac E. B., de, "Traité des systèmes" in: *Oeuvres complètes*, Tome second, Lecointe et Durey, Libraires, Paris, 1822
45. Descartes R., *Discours de la méthode*, Librairie Larousse, Paris, 1969
46. Ducasse C. J., "Qu'-est ce que la philosophie?—"Syntese" in: *An International Journal for the Logical and Psycological Study of the Foundations of the Sciences*, Vol. 3 (1950-1951), issue 3, Nos. 6 and 7
47. Eisler R., *Wörterbuch der philosophischen Begriffe*, Bd. 2, Mittler, Berlin, 1910
48. Fichte J. G., *Briefwechsel*. 2, Haessel Verlag, Leipzig, 1925
49. Fichte J. G. "Gerichtliche Verantwortung gegen die Anklage des Atheismus" in: *Johann Gottlieb Fichte's sämtliche Werke*, Bd. 5, zweite Abtheilung, dritter Band, Verlag von Veit und Comp., Berlin, 1845

50. Fichte J. G., *Die Thatsachen des Bewusstseyns*, Cotta, Stuttgart/Tübingen, 1817
51. Fichte J. G., *Ueber den Begriff der Wissenschaftllehre oder der sogenannten Philosophie*, bei Christian Ernst Gabler, Jena/Leipzig, 1798
52. Fichte J. G. *Werke*, Verlag von Felix Meiner, Leipzig, 1911
53. Foulquié P., *Dictionnaire de la langue philosophique*, Presses universitaires de France, Paris, 1962
54. Foulquié P., Saint-Jean R., *Dictionnaire de la langue philosophique*, Presses universitaires de France, Paris. 1969
55. Frank P., *Philosophy of Science. The Link Between Science and Philosophy*, Prentice-Hall, Inc., Englewood Cliffs, N.Y. 1957
56. Friedrich Wilhelm IV, *Reden und Trinksprüche*, Friedrich Ludwig Herbig, Leipzig, 1855
57. Fuller B. A. G., *A History of Philosophy. Vol. 2. A History of Modern Philosophy*, Henry Holt and Company, N.Y., 1955
58. Goldschmidt V., "Exégèse et axiomatique chez St. Augustin" in: *Études sur l'histoire de la philosophie*
59. Gouhier H., *Les grandes avenues de la pensée philosophique en France depuis Descartes*, Louvain, Paris, 1966
59a. Gouhier H., "Note sur le progrés et la philosophie" in: *Études sur l'histoire de la philosophie*
60. Guéroult M., "Le problème de la légitimité de l'histoire de la philosophie" in: *La philosophie de l'histoire de la philosophie*, Istituto di studi filosofici, Roma — Librairie philosophique J. Vrin, Paris, 1956
61. Hegel G. W. F., *Jenaer Realphilosophie*, Verlag von Felix Meiner, Hamburg, 1969
62. Hegel G. W. F., *Sämtliche Werke*, Frommann, Stuttgart, 1928
63. Hegel G. W. F., *Vorlesungen über die Philosophie der Weltgeschichte*, Verlag von Felix Meiner, Hamburg, 1970
64. Hegel G. W. F., *Werke*, Verlag von Duncker und Humbolt, Berlin, 1840
65. Heidegger M., *Vom Wesen der Wahrheit*, Vittorio Klostermann, Frankfurt am Main, 1961
66. Helvetius C.-A., *De l'homme, de ses facultés intellectuelles et de son éducation*, t. 1, À Londrès, 1773
67. Hölderlin, *Sämtliche Werke*, Bd. 6, Rüten & Loening, Berlin, 1959
68. D'Hondt J., *Hegel. Philosophe de l'histoire vivante*, Presses universitaires de France, Paris, 1966
69. Hyppolite J., *Études sur Marx et Hegel*, Librairie Marcel Rivière et Cie, Paris, 1955
70. Ilting K.-H., *Hegel in Berichten seiner Zeitgenossen*, Akademie-Verlag, Berlin, 1971
71. James W., *Pragmatism. A New Name for Some Old Ways of Thinking*, Longmans, Green and Co., N.Y., 1928
72. Kant I., *Briefwechsel*, Verlag von Felix Meiner, Hamburg, 1972
73. Kant I., *Werke*, Verlegt bei Bruno Cassirer, Berlin, 1922
74. Kautsky K., "Ein Brief über Marx und Mach" in: *Der Kampf*, Bd. 2, Heft 10, Verlag von Georg Emmerling, Wien, 1909

75. Lalande A., *Vocabulaire technique et critique de la philosophie*, Presses universitaires de France, Paris, 1960
76. *Le bon-sens ou idées naturelles. Opposées aux idées surnaturelles*, À Londrès, 1782
77. *Lettres à Eugénie ou Préservatif contre les préjudés*. Tome second, À Londrès, 1768
78. Locke J., *An Essay Concerning Human Understanding*, Vol. 2, J. M. Dent & Sons Ltd., London, 1974
79. Lombardi F., "Apres l'historicisme" in: *La philosophie de l'histoire de la philosophie*
80. Löwith N., *Von Hegel zu Nietzsche*, W. Köhlhammer Verlag, Stuttgart, 1964
81. Maire G., *Une régression mentale*, Bernard Grasset Éditeur, Paris, 1959
82. Marcuse H., *Kultur und Gesellschaft*, Suhrkamp Verlag, Frankfurt am Main, 1968
83. Marcuse H., *Reason and Revolution. Hegel and the Rise of Social Theory*, The Humanities Press, N.Y., 1954
84. Maritain J., *Réflexions sur l'Amerique*, Librairie Arthème Fayard, Paris, 1958
85. Martin G., *Allgemeine Metaphysik. Ihre Probleme und ihre Methode*, *Walter de Gruyter* & Co., Berlin, 1965
86. Martin G., *Immanuel Kant. Ontologie und Wissenschaftstheorie*, Kölner Universitätsverlag, Köln, 1960
87. Mercier A., "La philosophie et la science" in: *Actes du X Vème Congrès mondial de philosophie du 17 au 22 septembre 1973, Varna (Bulgarie)*, Sofie, 1973
88. Metzke E., "Mensch und Geschichte im ursprünglichen Ansatz des Marxischen Denkens" in: *Marxismusstudien*, zweite Folge, 1957
89. Nietzsche F., "Menschliches, Allzumenschliches" in: *Werke*, 1 Abtheilung, Bd. 2, Naumann, Leipzig, 1895
90. Popper K. R., *Objective Knowledge. An Evolutionary Approach*, Oxford, at the Clarendon Press, 1972
91. Popper K. R., *The Open Society and Its Enemies*. Vol. 2, George Routledge & Sons, Ltd., London, 1957
92. Ricoueur P., *Histoire et vérite*, Éditions du Seuil, Paris, 1955
93. Rombach H., *Die Gegenwart der Philosophie*, Verlag Karl Alber, Freiburg/München, 1964
94. Runes D. D., *Dictionary of Philosophy*, Littlefield, Adams & Co., Ames, 1955
95. Schelling F. W. J., *System des transscendentalen Idealismus*, in der J. G. Cotta'schen Buchhandlung, Tübingen, 1800
96. Waelhens A. de. "Philosophie et non-philosophie" in: *Revue philosophique de Louvain*, t. 57, № 53, 1959
97. Wagner de Reyna A., "Mythe, histoire et mystère" in: *La philosophie de l'histoire de la philosophie*

नाम-निर्देशिका

ग

च

ज

ड

फ़

ब

म

य

ल

व

श

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक की विषयवस्तु, अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी।

कृपया हमें इस पते पर लिखिये:

प्रगति प्रकाशन, १७, ज़ूबोव्स्की बुल्वार, मास्को, सोवियत संघ